



श्री हेमचन्द्राचार्य

# अनुसंधान

संपादक : विजयशीलचन्द्रसूरि

५० (२)



श्री हेमचन्द्राचार्य

श्रीहेमचन्द्राचार्य

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी

स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि, अहमदाबाद

मोहरिते सच्चवयणस्स पलिमंथू ( ठाणंगसुत्त, ५२९ )  
'मुखरता सत्यवचननी विघातक छे'

# अनुसंधान

प्राकृतभाषा अने जैनसाहित्य-विषयक  
सम्पादन, संशोधन, माहिती वगैरेनी पत्रिका

५० (२)

सम्पादकः

विजयशीलचन्द्रसूरि



श्रीहेमचन्द्राचार्य

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी  
स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि  
अहमदाबाद  
२०१०

## अनुसन्धान ५० (२)

आद्य सम्पादक: डॉ. हरिवल्लभ भायाणी

सम्पादक: विजयशीलचन्द्रसूरि

सम्पर्क: C/o. अतुल एच. कापडिया  
A-9, जागृति फ्लेट्स, पालडी  
महावीर टावर पाछळ  
अमदावाद-३८०००७  
फोन : ०७९-२६५७४९८१

प्रकाशक: कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम  
जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि,  
अहमदाबाद

प्राप्तिस्थान: (१) आ. श्रीविजयनेमिसूरि जैन स्वाध्याय मन्दिर  
१२, भगतबाग, जैननगर, नवा शारदामन्दिर रोड,  
आणंदजी कल्याणजी पेढीनी बाजुमां,  
अमदावाद-३८०००७  
(२) सरस्वती पुस्तक भण्डार  
११२, हाथीखाना, रतनपोल,  
अमदावाद-३८०००१

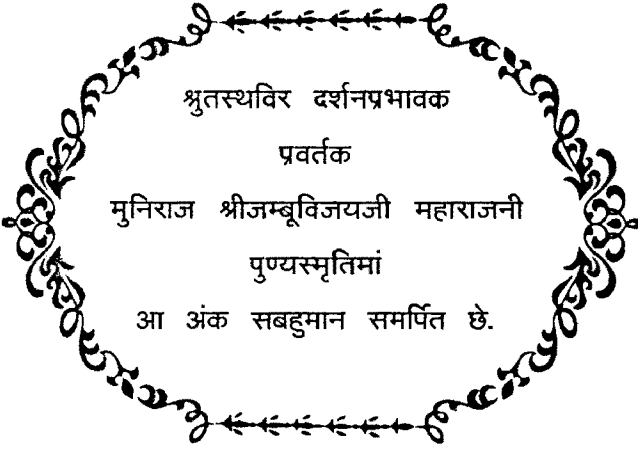
Also available online at [www.jainelibrary.org](http://www.jainelibrary.org)

मूल्य: Rs. 120-00

मुद्रक:

क्रिश्ना ग्राफिक्स, किरीट हरजीभाई पटेल  
९६६, नारणपुरा जूना गाम, अमदावाद-३८००१३  
(फोन: ०७९-२७४९४३९३)

आवरणचित्र : श्रीहेमचन्द्राचार्य, चित्रकार - दिव्यराज राणा







‘अनुसन्धान’ना पचासमा अंक माटे जेम्ने आमन्त्रण आपवामां आवेलुं, तेमांना केटलाक विद्वज्जनोए पोतानां शोधपत्रो पाठवीने ‘अनुसन्धान’नी यात्राने वधावी छे. ते शोधपत्रो पचासमा अंकना आ बीजा भागमां प्रकाशित करवामां आव्यां छे. जोई शकाशे के भारतना जेटला ज विदेशना विद्वानोए पण आ शोध-यात्रामां रस दाखव्यो छे. आवो प्रोत्साहक प्रतिभाव आनन्दप्रद पण बने छे, अने ‘अनुसन्धान’नी यात्राने बळ पण पूरुं पाडे छे.

विशेषमां, आ पचासमो अंक - तेना बन्ने भाग - स्व. मुनिराज श्रीजम्बूविजयजीनी पुण्यस्मृतिमां समर्पित छे. एक विश्वविख्यात जैन संशोधक तरीके स्व. मुनिश्रीनी ख्याति आन्तर्राष्ट्रीय स्तरनी हती. तेमनी तीक्ष्ण शोध-दृष्टि अनन्यसामान्य हती. जैन साधु तरीकेनी अनेक पारम्परिक मर्यादाओनां पालन प्रत्ये वफादार छातां वैश्विक कक्षानां संशोधन-कार्यो तेओ करी शक्या हता, ते समग्र जैन जगत् माटे गौरव लेवा जेवी बावत गणी शकाय. आवा शोधक साधुपुरुषनी पुण्यस्मृतिमां अंक प्रगट करीने ‘अनुसन्धान’ पण गौरवान्वित बन्युं छे.

‘अनुसन्धान’नी यात्रा वेगपूर्वक निरन्तर अने निरन्तराय चालती रहे एवी भावना सह-

- शी.



## अनुक्रमणिका

पुण्यवत्रीसी	उपा. भुवनचन्द्र	१
गूढार्थ दोहाओ अने अन्य सामग्री :		
परम्परागत लोकवाक्यानां जतन	सं. डॉ. निरंजन राज्यगुरु	५
वादी हर्षनन्दन कृत जिनसागरसूत्रि गीतानि	म. विनयसागर	२५
साध्वीजी भावलक्ष्मी धुलबन्ध	सं. मुनिसुजसचन्द्र-सुयशचन्द्रविजयौ	३६
श्रीहंसराजपोसाल धुलबन्ध (गन्धारनी प्राचीनता)	सं. मुनिसुजसचन्द्र-सुयशचन्द्रविजयौ	३९
सं. १७३०नुं अमदावादी नानी दोशीहटीमांणी पंचहटी मध्येनुं हाटग्रहणक (गिरो) खतपत्र	रसीला कडीआ	४५
मरमी संत आनन्दघन अने तेमने परम्परा प्राप्त जैन चिन्तनधारा	नगीन जी. शाह	५२
मौखिक अने लिखित परम्पराओ सन्दर्भे बोले बांधनावनी कथाओ	हसु याज्ञिक	६१
अज्ञातकर्तृक प्राकृत प्रश्नगर्भ- पंचपरमेष्ठि-व्रत	प्रो. नलिनी बलवीर	७३
अर्धमागधी भाषा का उद्भव एवं विकास	प्रो. सागरमल जैन	८४
क्या 'आयव्रती' जैन सारव्रती है ?	प्रो. सागरमल जैन	९५
हिन्दु और जैन व्रत :		
एक क्रियाप्रतिक्रियात्मक लेखाजोखा	डॉ. अनीता बोथरा	१०३
आर्षग्री विद्या : परिचय	म. विनयसागर	१२३

Models of Conflict - resolution and Peace in Jain Tradition	Dr. Nalini Joshi	१३१
On Nouns with Numerical Value in Sanskrit	WILLEM BOLLÉE	१४४
Lexicographical Notes on the Tarāṅgalolā	Thomas Oberlies	१५५
Truthfulness and Truth in Jaina Philosophy	Peter Flügel	१६६
The Cult of the Jakhs in Kutch	Françoise Mallison	२१९
विहंगावलोकन	उपा. भुवनचन्द्र	२२७
पुनः प्रकाशनं सुन्दर नजराणुं : 'जैन तर्कभाषा'	उपा. भुवनचन्द्र	२२९
माहिती :		
नवां प्रकाशनो		२३२
श्रद्धाञ्जलि		
पत्रो :		२३४
श्रीजम्बूविजयजी महाराजने स्मरणाञ्जलि	- शी.	२३६
श्रुतधर परम्पराना उज्ज्वल नक्षत्र :		
पूज्य श्री जम्बूविजयजी महाराज	उपा. भुवनचन्द्र	२४०
श्रद्धासुमन	म. विनयसागर	२४३
Muni Jambūvijayajī Homage and reminiscences	Prof. Nalini Balbir	२४६
Report on the accident of Param Pujya Munishri Jambuvijayji Maharaj Saheb	Hiroko Matsuoka	२४९
वर्तमानकालीन संशोधन-सम्पादन युगना आद्य प्रवर्तक आगमप्रभाकर पू. मुनिराजश्री पुण्यविजयजी म.सा.	पू. मुनिश्री जम्बूविजयजी म.सा.	२५८

# पुण्यवत्रीसी

उपा. भुवनचन्द्र

अमारा संग्रहमांना एक प्रकीर्ण पत्रमांथी मळेली आ रचना भाषा-शब्द-विषयनी दृष्टिए रसप्रद जणायाथी अत्रे प्रस्तुत करी छे. रचना कक्कावली प्रकारनी छे पण कविए प्रत्येक वर्णना दूहामां ते ते वर्णना घणा शब्दोनी योजना करी कृतिने वधु मनोरंजन बनावी छे, किन्तु एम करवा जतां कवि दूहामां सर्वत्र प्रास साचवी शक्या नथी. यवर्णमां जकारवाळा शब्दो पण कविए लीधा छे एम पकारना दूहामां खकारवाळा शब्दो पण ग्रहण कर्या छे. प्रत्येक दूहानी चोथी पंक्ति प्रतमां जेम छे तेम अहीं आपी छे. कृतिमां कर्तानुं नाम नथी, हस्तप्रतिमां पण नथी. भाषाना आधारे रचना १६मी सदी आसपासनी जणाय छे.

कुंकुम कज्जल केवडो, कामणि कूर कपूर;	
कोमल कपड कविरस ए पुन्नह अंकूर;	१
खाजा खारिक सुरहडी, खसखस खांड खिजूर;	
क्षीरह भोयण खइरवडी, ए पुन्नह अंकूर;	२
गाला गि(गी)य गयगामणी, गोधन गयवर वारि;	
गोहूं गुल गोरस जिमण, ए पुन्न पुण्य विचार.	३
घेउर भोजन घोल घीओ, घमघमतो मंथान;	
घोडा हींसै घरंगणिइं, ए पुण पुण्य अहिनाण.	४
नवजोवण नव नेह घण नै नवरंगी नारि;	
नवरस नालेर नवनिधि ए पुन्नै पुण्य विचारि.	५
चांपो चंदन चांदणो चंदावयणी नारि;	
चाउलभोजन चाओ घरि, ए पुन्न पुण्य विचारी;	६
छासि छसको छांहडी, छागलियो परिवारि;	
छाइल ओढण छत्र सिरि, ए पुन्न पुण्य विचारि.	७
चादरि ओढण जाइ शिरि, जावंत्री मुखवास;	
जासक जीमण जोड घरि, ए पुन्न पुण्य विचार.	८

झल्लरीनाद झमक पय, झमझमकाली नारि;	
झालि झबूको झलहलइ, ए पुन्न पुण्य विचार.	९
टाक टमको टहूकडो, टंकावलि टंकारि;	
टचकै वयण टामक घण, ए पुण पुण्यह विचारि.	१०
ठाओ ठमको ठहरइ, ठमकाली टं(ठं?)कार;	
ठाकुर ठाठ ठसक घण, ए पुण पुण्य विचारि.	११
डाडी डोकर डाकरा, डहला डावर साल;	
डागलि बेसण डाहपुण, ए पुण पुन्यविचारि.	१२
ढोलक ढमकै बारणे, ढालू ढोल अपार;	
ढोलै ढाल सोहामणी, ए पुण पुन्य विचारि.	१३
तेजी तोरण बारणै, तरकस नै तरवारि;	
तंबोल तलित घण, ए पुन्न पुण्य अहिनाण.	१४
थाहर थानक थापणी, थूण सुजाण थभाण;	
थर थावर सुधिर घिरि, ए पुन्न पुण्य अंकूर.	१५
दान दया पर—त्तरस, दही पीजै गाध;	
दास दाडिम दीकरा, पुण्णहि पामै पुद्ध (?)	१६
धान धन धरित्त धव, धुणहि धयवड वारि;	
धज धव ललीय, ए पुन्न पुण्य विचारि.	१७
पान पदारथि प्रगटपण, पारख प्रगट प्रधान;	
प्रिय पाडोसणि प्रीति घण, ए पुन्न पुण्य अंकूर.	१८
फोफल फाडा फरहरइ, फारक घरनइ बारि;	
फूल घणा फलली (?), ए पुन्न पुण्य अहिनाण.	१९
बालपणै बूढपणइ, बिन्है बहुत सुजाण;	
बाई बेटा बेहेनडी, ए पुन्न है पुण्य विचारि.	२०
भाई भामणि भूपण, भलपणै भरत्तार;	
भोज भाव अरोगीय, ए पुन्नहि पुण्य अंकूर.	२१
मणि माणिक मुत्ताहला, हय मयगल अति मयमत्त;	
मानणि माण महुत्त घण, ए पुन्न पुण्य विचार.	२२

यत्न यात्रा नै यागफल, जन्म योग सुविचार; जीवदया जगि जाणीयई, ए पुन्न पुण्यहि अंकूर.	२३
राणिम रूप रिद्धिपण, राजभेदि (?);	
राग रेवंता रिणय धण, ए पुन्न पुण्य अहिनाण.	२४
लाडू लावन्न लापसी, लक्षण लीलावंत; ललना लाज लाखणी, ए पुन्न पुण्य विचारि.	२५
विद्या वाद विणिजपण, वर खाण व्यवहार; वाजी बैसण वयवपुण (?), ए पुन्न पुण्यहि अंकूर.	२६
शसिवयण संतोष घण, शिवसुह सुखह ज्ञाण; रासि रयणी - त शाणपण, ए पुन्न पुण्य अहिनाण.	२७
षिमा षडग षेत्रहि षरा, षिती षंतह वास; षेत्री षाज वाय को नही (?), ए पुन्न पुण्य विचार.	२८
सुकुमाल समाणी सहेलडी, साहस सुख संपति; सुगुण सुरूप सुशील तनु, ए पुन्न पुण्य अंकूर.	२९
हाय हाम हरिख हुई, हयवर हींसै बारि; हाथी चीर ज (?) पामीयई, ए पुन्नहि पुण्य अहिनाण.	३०

इति श्री पुण्यबत्रीसी संपूर्ण ।

### शब्दकोश

खुरहडी : कोपरुं (खरहडी - म.गु.को.)
खइरवडी : खेरनी गोळी
गाला : गळानुं बंधन
घीओ (घीउ) : घी
चाओ : धनुष्य
जासक : खूब, सारी पेटे
जोड : अहीं 'बळदनी जोड'
झालि : काननुं आभूषण

टंकावलि : एक प्रकारनो हार

टचकै : टचाको ?

ठाओ/ठाउ : स्थान

ठसक : लटको, नखरुं

डाकरा : गर्जना, जोशीलो अवाज

थाहर : स्थिर, स्थावर

थूण : थांभली

फाडा : फाडियां

फारक : सैनिक

सुखह ज्ञाण : शुक्लध्यान(?)

म. गु. को. मां नथी तेवा शब्दो

छसको :

छगलियो :

छाडल : उत्तम वस्त्र ? (कच्छीमां छाल = साडी छे.)

टामक : म. गु. को. मां टंबक्क = वाद्य विशेष छे.

ठाहरइ :

ढालू :

तलित :

थभाण :

गाध :

रिणय :

लाखणी : (लाखेणी ?)

खाजवाय :

चीर : ('हीर' होई शके)



# गूढार्थ दोहाओ अने अन्य सामग्री : परम्परागत लोकवाक्यानुं जतन

सं. डॉ. निरंजन राज्यगुरु

आपणा प्राचीन कण्ठस्थ परम्पराना गुजराती साहित्यमां सुभाषितो, लोकोक्ति, उखाणां, प्रहेलिका, समस्या अने गूढार्थ उक्तिओनी अेक सुविशाळ परम्परा नजरे चडे छे. लोकजीवनमां वातवातमां वातडाह्या चतुर माणसो नवराशना समये आवो वाङ्मय भण्डार पीरसता रहे, लोककण्ठे आवुं साहित्य सैकाओ सुधी सचवातुं-जळवातुं-तरतुं रहे अने अेमांथी जरूरत पड्ये प्रशिष्ट साहित्यना जैन-जैनेतर सर्जक-कवि-आख्यानकारो पोतानी रचनाओमां आवी उक्तिओने वणी ले. मध्यकालीन गुजराती साहित्यना क्षेत्रमां कोपीराइट के पोताना आगवा मौलिक सर्जन जेवा संकुचित खयालो ज नहोता. ज्यांथी कंडपण सांरुं लागे तेनो पोताना साहित्यमां समावेश करीने पोतानी रचनाओ लोकोना आत्मकल्याण अने लोकमनोरंजन माटे प्रयोजवानी परिपाटी आपणने व्यापक रीते फेलायेली जोवा मळे. संस्कृत साहित्य, प्राकृत के अपभ्रंश साहित्य, अन्य भारतीय भाषाओना साहित्य के कण्ठस्थ परम्पराना लोकसाहित्यमांथी आवी उक्तिओ लडने अेनुं पोतानी भाषामां रूपान्तर करीने-गुजरातीकरण करीने पोताना गद्य-पद्य सर्जनने वधु सघन बनाववानो यत्न आपणा दरेक मध्यकालीन सर्जके कर्यो छे.

गुजरातना हस्तप्रतभण्डारोमां 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' जेवी संकलन पामेली अनेक हस्तप्रतो पण मळी आवे छे, जेमां उपर जणाव्युं तेवी सामग्री गुजराती भाषामां रूपान्तर करीने संकलित करवामां आवी होय. अलबत्त जूनी गुजराती अेटले मध्यकाळमां सम्पूर्ण भारतमां व्याप्त अेवी सधुक्कडी भाषा. जे खास करीने उत्तर, पूर्व अने पश्चिम भारतमां व्यापक रीते फेलायेली जोवा मळे छे. अे समयना सर्जकोनी अे राष्ट्रीय भाषा हती. जेथी समग्र भारत वर्षना सन्त-भक्त-कवि सर्जको पोतपोतानी स्थानीय-प्रान्तीय भाषा-बोली साथे अनुसन्धान जाळवीने आ सधुक्कडी भाषामां सर्जन करता हता. अने अे रीते विविध

ભારતીય પ્રાન્તોના સન્ત-ભક્ત સાહિત્યની પારિભાષિક શબ્દાવલી, સાધનાત્મક પરિભાષા, સંગીતના ઢાલ, રાગ, તાલ, ઢંગમાં એકાત્મકતા જોવા મળે છે.



ખંભાતમાં ચાતુર્માસ નિમિત્તે વિરાજમાન આચાર્ય શ્રીવિજયશીલચન્દ્રસૂરિજી મહારાજ સાહેબને વન્દના કરવા જવાનું બન્યું. વાતવાતમાં એમણે 'ગૂઢાર્થકા દોહા' શીર્ષક નીચે છૂટક ૧ x ૪ ઇંચની સાઈઝના ચાર પત્રોમાં-આગળ પાછળ સાત પાનાંઓ પર લખાયેલી હસ્તપ્રતની ઝેરોક્સ-નકલ મને સમ્પાદન-અભ્યાસ માટે આપી.

આ હસ્તપ્રતમાંના પુષ્પિકાલેખ પ્રમાણે આ વિવિધ સંકલિત સામગ્રી આજથી એકસો ચાર વર્ષ પહેલાં વિ.સં. ૧૯૬૨ના ચૈત્ર સુદી પાંચમને રવિવારે દક્ષિણ ભારતના ઔરંગાબાદ જિલ્લાના વ્યાવમાંડા (તા. અંબડ) ગામે શ્રીકાન રિખજી મહારાજના ખંભાત સમ્પ્રદાયના પૂ. ભાણજી રિખજીના શિષ્ય હીરા રિખજીના શિષ્ય અમી રખે(રિખે) પોતાના માટે લખી છે.

આ સામગ્રીમાં પ્રથમ પાનામાં હાંસિયો પાડીને ગૂઢાર્થ દોહા ૧ એમ લખાયું છે. બીજા પાનામાં હાંસિયો પાડીને સજ્જન-દૂર્જન ૨ એમ બીજો વિભાગ પાડ્યો છે. ત્રીજા પાનામાં સજ્જન-દૂર્જન ૩ એમ લખાયું છે. ત્રણે પત્રના પાછળના પૃષ્ઠમાં હાંસિયો નથી પાડ્યો. ચોથા પાનામાં હાંસિયો પાડીને 'ઉપદેશી ચૂટકા' એમ વિભાગ દર્શાવ્યો છે.

સલ્લંગ રીતે લખાયેલી આ હસ્તપ્રતમાં પ્રથમ પૃષ્ઠમાં ૨૨ પંક્તિઓ, એ પછી બીજા, ત્રીજા, ચોથા, અને પાંચમા પૃષ્ઠમાં ૨૧-૨૧ પંક્તિઓ, છઠ્ઠા પૃષ્ઠમાં ૨૨ પંક્તિ અને છેલ્લા સાતમા પૃષ્ઠમાં ૧૯૧૧ પંક્તિઓ મુજબનું લખાણ જોવા મળે છે.

આ સામગ્રીમાં પ્રથમ આવે છે ગૂઢાર્થના દોહા. જેમાં પ્રથમ દોહો લખીને બે ઋષા દળ કરી વચ્ચે એનો અર્થ લખાયો છે, ફરી બે ઋષા દળ કરી બીજો દોહો એમ કૂલ બેતાલીસ ગૂઢાર્થ દોહા લખ્યા પછી સાત વિશિષ્ટ પ્રકારના દોહાઓ અપાયા છે. જેમાં બે પંક્તિમાંના ત્રણ પદોમાં લક્ષણો દર્શાવ્યાં હોય અને ચોથા પદમાં એને લાગુ પડતો અર્થ દર્શાવીને પૂછાયું હોય - કહો સખી સજ્જન ?

पछी जवाबमां अे पंक्तिओनो साचो अर्थ 'ना सखी, पंखो, 'ना, सखी, चूडो, 'ना सखी चन्द' अे रीते त्रीजा पदनो प्रास मळे अेवा अनुप्रासमां जवाब अपायो छे.

अे पछी चार प्रहेलिका जेवा दोहाओ छे. अेनो जवाब पण साथे ज अपायो छे. त्यार बाद, अथ सज्यनका दोहा लिष्यते - एम शीर्षक दर्शावीने आठ दोहा, अे पछी नारीना पंदर विविध नाम अने चार प्रकारनी स्त्रीओनां लक्षणो अपायां छे. त्यारबाद सितेर जेटला दोहाओ जेमां विरह, सज्जन लक्षणो, धर्म, उपदेश, सुभाषित वगेरे विविध विषयो आवता रहे छे, अेमां कोइ चोक्कस सम्पादनना खयाल विनानुं छूटक सामग्रीनुं अेकत्रीकरण थयुं छे. त्यारवाद मुसलमानी शेर, गझल, रीख लालचन्दजी कृत उपदेशना सवैया, चूटका अने छूटक दोहाओनुं संकलन जोवा मळे छे. आ सामग्रीमां केटलाक गूढार्थ दोहाओना जे अर्थ अपाया छे ते पूरेपूरा समजी शकाया नथी, त्यां प्रश्नार्थचिह्न अने क्यांक कौंसमां लोककण्ठे मळतुं पाठान्तर पण दर्शाव्युं छे. आमांना घणा दोहा अन्यत्र प्रसिद्ध अने चलणी पण होवानुं जणाय छे. कोइ जाणकार विद्वान अे अंगे विगतवार प्रकाश पाडशे अेवी नम्र अभ्यर्थना छे.

### ॐ नमो सिद्धं ॥ अथ गूढार्थका दोहा ॥

राज काज गुण आगलो भीतर चंगी देह  
पीयू पधारो चोवटे मोकल देजो तेह (नारीयल)  
आभा सरीखो उजलो तारा सरीखो घाट  
मीरगानिणी मोलवे गांधी केरे हाट (काच)  
कुख कालो मुख उजलो चले मोपाला संग  
सुन्दर दीसे शोभतो विचित्र उनका रंग (हाथी)  
रातो फूल गुलाबनो माहि धवली चितरीया  
चालो सखी सरवर जइअे नर बांध्यो अस्तरीयां (डूटयाथी बांध्यो कंचवो)  
काजल वरणो हे सखी मीलीयो अेक पुरुष  
बालपण वहालो को नहि रोवणवाला लख (कांगलो)

जल जाइ थल उपनी वनमे कीयो वसाव  
 पहेरण कसुंबल कंचूवा काजल अधीक बणाव (चीरमी-चोरमी ?)  
 अेक नारी नवरंगी चंगी गूणवंति ते गोरी  
 मूरखें सेंती मूख न बोले माथे बांधी दोरी (दोरी बांधेली पोथी)  
 अेक नारी नवरंगी चंगी नव नाडा लटकावे  
 मरदा आगल बाजी खेले वाही नार केवावे (ताकडी)  
 बालपने सबके मन भावे बडा भया कछु काम न आवे  
 कहे दीया उसीका नाम कहो अरथ के छोडो गाम (दीवो)  
 पथरसुतकी पूतली वनसूतको घरवास  
 जे जीयारे मन वसे ते तीयारे पास (तरवार)  
 नवलख जाया नवलख पेट नवलख रमे वडला हेठ  
 चीतवूं ओर जणुं काल पडे जद केता करु (तीड)  
 सरवर भरियो खूब जल सुन्दर बेठी पार  
 सरवर सुको सुन्दर गइ सुरता करो विचार (दीवो)  
 नानको नगर फूलको फगर  
 सुपारीयारो सुकाल पानरो पडयो दुकाल (केरां)  
 धुर कारतीक फागण बीच जलरो लीजे बेह  
 पीयू पधारो परदेशमे मोकल दीजो तेह (कागल)  
 अणी तीखी मूख वंकडा सुवा पंख जीसा  
 पीयू पधारो परदेशमे लाइज्यो आप इसा (पानको बीडो)  
 सूको लकडो हे सखी में फल लागो दीठ  
 खावे तो जीवे नही जीवे तो नीठनीठ (बरछी)  
 चीहुं नारी नर नीपजे चीहु नरे नारी होय  
 हे नर होवे पाधरो गंज न सके कोय (दीन) (दिन?)  
 पांच पगे हाथी चले पथरवरणी काया  
 इण गाथानो अरथ सुणायने पग उपाडो भाया (कासव)  
 अेक नारी नवरंगी चंगी पहेरे नवरंगी साडी  
 नाक फाड नकफूली घाली चारे चग उघाडी (सुइ)

अरध नाम दरबारको वर कागदको तात  
 सो तूम हमकुं दीजीये सो होवे दीनानाथ (दरशन)  
 राधावरके कर वसे अक्षर पंच लख सोय  
 आदको अक्षर गेडके बचे सो हमकुं देय (दर्शन)  
 शिवसुत माता नामके अक्षर चार धरेव  
 मध्यको अक्षर छोड के सो तूम हमको देव (पावती) (पाती?)  
 धरम तणो छे सार छे उपरांठो घरनो  
 परदेशां जावो जरा थे म्हांने करजो (याद)  
 आद दहे अंत दहे मध्य रहे इण मांय  
 तूम दरसन बीन होत हे तूम दरसन ते जात (दरद)  
 गोर शिखरो निपजे उर मंडन जे होय  
 सो तो कोइ न साधीयो जीम जिवित सो कोइ (अनाज)  
 हाल हालवो भूइ पातली लीखतहार सुजाण  
 हाथे वावे मुखे लूणे नेनां करे वखाण (अक्षर)  
 चंचल रूख अनेक फल फल फल जुदां नाम  
 तोडया पठे पाकसी कहो उन रूख को नाम (चक कुंभ)  
 बिन पगल्यां परवत चढे बिन दांता खड खाय  
 हुं तूने पूछुं हे सखी ऐ कीस्यो जनावर जाय ? (अग्नि)  
 समुद्रकांठे नीपजे बिन डाली फल होय  
 छतीसा कोस हयबो सखी थारे होय तो जोय (लूण)  
 जल बिन वाधे वेलडी जल विधा कुमलाय  
 जो जल [से] नेडो करे जडामूलसुं जाय (तृषा)  
 गगन सिखामां रिये परदेशा मेले भेट  
 वाणिया द्राह्मण खावे कालजो इणको संसो देवो भेट (केरी)  
 आठ पांव दो पेट हे मोरा उपर पूछ  
 इण गूढानी अरथ कहो नहיתर केने राखो मूछ (तराजू)  
 ऐकने पग ऐक हे ऐकने पग चार  
 सारो जगतनो ढांकनो यमित करो विचार (कपास)

शाम वदन मुख मोरली रहे कुंजवन मांय	
माथे वांके मूगट हें वो श्रीकृष्ण नांय	(वेंगन)
मुख काली अंग उजली सुंदर बहु सरूप	
उढन पीली पामरी माथे नही केश अनूप	(कलम)
सोल सहस शीष हे नेत्र बतीश हजार	
चोखट सहस चरण हे पंडीत करो विचार	(चन्द्रमा)
साख शरवर बहोत जल कमल अनन्त अपार	
उन जल कमल न निपने पंडित करो विचार	(चक्र)
कागद से कटका करे महसुं झोला खाय	
राजा पूछे राणीने यो कीस्यो जनावर जाय	(वरवडी) (वावडी?)
बाप बेटो अेक नाम, बेटो फीरे गामे गाम	
बेटे जाइ बेटी, जो को धूल लपेटी,	
बेटी जायो बाप जी को पून्य हे न पाप	(आंबो)
नीचे सरवर उपर तता बिचमें खबकल बाहे	
चलो चलो नर देखन जावां उसना नाम ये ये लाहे	(होको)
अंग गरम मूख चरचरा कूले सुगंधी वास	
बलिधारी उस रूखने समुदां बीच रही वास	(लर्विंग)
च्यार शीष बीच खोपरी शाम वरण शीरकार	
मूंगो मोल मंजूस में श्रोता करो विचार	(लर्विंग)

आप हीले ओर मोय हीलावे, उसका हीलन मोरे मन भावे  
हील हीलकि हुवा नीसंका, कहो सखी सखा सज्यन ? ना सखी, पंखा.  
मोकुं तो हतीको भावे, आखे-वतो<sup>६</sup> नहि सोहांवे  
दूढ ढाढके जाइ (लाइ) पूरो, कहो सखी सज्यन ? ना सखी, चूडो.  
ऊंची अटारी पलंग बीछायो, में सोती औ उपर आयो  
उसके आया हूवा आनन्द, कहो सखी सज्यन ? ना सखी, चन्द.  
आधी रेन वो मेरे संग जागा, भोर भइ तब बीछडन लागा  
उसके बीछडत फाटा मेरा हीया, कहो सखी सज्यन ? ना सखी, दीया.

१. ओछो-वतो

आखी रेन छतियन पर रखा, रंग रूप जो उसने चखा  
 भोर लइ तब दीया उतारा, कहो सखी सज्यन ? ना सखी हारा.  
 सबज रंग और मूख पर लाली, जीसके गले में कंठी काली  
 ओ रंग बागो में होता, कहो सखी सज्यन ? ना सखी तोता.  
 बाट चलते मूजे जो खाया, खोटा खरा अे ना परखाया  
 खा जावे तो आवे केसा, कहो सखी सज्यन ? ना सखी पैसाँ.

तंबा सूत रिपू ता सगूर ता मख को अश्वार  
 ता जनानी आभरण यत आसरण मख तरा सूत साम जूहार (रामने जूहार)  
 अज सहेली तास रिपू ता जननी भरतार  
 ता का भ्रात का मीत्र कूं समरो वारंवार (श्रीकृष्णने)  
 नेन अढारा खट चरण तीन भूज जीव चार  
 रसना ताके नव भइ सुरता करो विचार (सूरजविमान) ?  
 कर को बाजो कर सूणे सरवण सुणे नहि ताह  
 अरथ करो छ मास लग कहे अकबर साह (नाडी-धबकारा)

### अथ सज्यनका दोहा लिख्यते

चलत कलम सुकत अक्षर, अेसो नेह को मूल  
 नेह गया नीलो रहे, ता के मूख पें धूल  
 खाटा मीठां चरपरा, सब जीभ्या रस लेत  
 पडे पडे रणखेत में, ओलंभा हम कूं देत  
 शीत सही अरू धूप सही, सही शीतने वाय  
 हम बिछु तूम कूंलियो,<sup>१</sup> सो घटत घटत घट जाय  
 मन के मते न चालीये, मनका मता अनेक  
 मन उपर अश्वार हे, सो लाखनमें अेक  
 अवसर जेने हठ करे, त तो चतुर .सुजाण  
 दीपावे जेना धर्मकुं, जीस का शिख्या प्रमाण

१. फूलिये



प्रीतम कहे सो कीजिये, रहीये प्रीतम पास  
 जो नही कीजे तो खरे, घणा होय विनाश  
 सज्यन सो कोसां वसे, तो ही नेडा नीपट हजूर  
 दूरजन तो द्वारा वसे, तो ही लाख कोस सुं दूर  
 में वरजुं मृगनयन कुं, वीसर मत जायगी वार  
 म्हे तने नेणां कदकीये, मन पे लीगी लजाय

### अथ नारीना पदरे नाम -

अबला, नारी, श्रीमन्तनी, रामा, वनीता, मीहीला, अंगना, कामनी, पेमंदा,  
 माननी, कान्ता, ललना, रमणी, रामा, कोपना.

### अथ चार प्रकार की स्त्री-

पदमणीने पान वहालो, मान वहालो चीत्रणी,  
 हंसतणीने ख्याल वहालो, कलह वहालो शंखणी.  
 पदमणी तो पलक चाले, चंम चाले चीत्रणी,  
 हंसतणी तो ठंम चाले, धंम चाले शंखणी.  
 पदमणीनो पांव आहार, चमक आहार चीत्रणी,  
 हंसतणी ने शेर अहार, कूंडो अहार शंखणी.  
 हस्ती हाथ हजार तजीयें, अश्व हाथ सो दूर,  
 शीग वाले दस हाथ तजीयें, दूरजन देशथी दूर.  
 करिये सुखको होय दूःख, अेह धोको न सयान  
 वां सोनेकी वारीये, ता को फाटे कान  
 जहां न ज्याके गुण लहे, तहां न ताको काम  
 धोबी वसके क्या करे, दीगम्बर के गाम  
 म्हारो मन माने नहीं, नेणां धरे नही धीर  
 वरखा श्रावण मास ज्युं, टप टप टपके नीर  
 चंगी छीटी<sup>१</sup> चीत चढी, हीत कर घाली हाथ  
 सहेनाणी सेन्हा तणी, सदा बोलावो पास

१. चीटी ।

नदीयां वहे उतावली, जलहर पाखर केल  
 पातशाहीका मामीलिया, दरिया ओ का खेल  
 सज्यन असा कीजिये, जेसा नीबू बाग  
 देख्या पीण चाख्या नही, रह्या उमाला लाग  
 हंसा ने सरोवर घणा, पूष्प घणा अलि राया  
 सा पुरुषाने सज्यन घणा, देश विदेशे जाया  
 कुंभल मेर कटारगढ, पाणी अवले फेर  
 सोइ कहे जो साजना, वश कुंभल भेंर  
 पान पदारथ सुगण नर, अण तोल्या बिकाय  
 ज्युं ज्युं पर भोमे संचरे, त्युं त्युं मोल मोंघा थाय  
 सर तर अखर शीख पीउ, जो रखेआ पाण  
 सर वेरी तरु सायरा, अखर राज दीवाण  
 सज्यन असा कीजिये, जेसा रेशम रंग  
 धमरुलि (धम सूली) शीख कांगरे, तोही न छोडे संग  
 फूल फूल भमरो रमे, चंपे भमर न जाय  
 भमरो चाहे केतकी, बंध्यो कमल सोहाय  
 जीहां लग मेरु अडोल हे, जीहां लग शशीहर सूर  
 तीहां लग सज्यन सदा, जो रहे गूण भरपूर  
 शशि चकोर, सूरज कमल, चातक घन की आश  
 प्राण हमारो वसत हे, सदा तमारे पास  
 मन मोती तन मूंगीया, जय माला जगनाथ  
 जीहां परमेसर पाधरा, तिहां नवनीध पर हाथ  
 गर हरीयो घन गाजीयो, मेडी उपर मेह  
 वीज पडे ते साजना, जे कर तोडे नेह  
 जा के दस दुशमन नही, सेना नही पचास  
 ता की जननि युं जण्या, भार मुंइ दस मास  
 सज्यन असा कीजिये, जेसा टंकन खार  
 आप तपे पर रीझवे, भांग्या सांधणहार

सज्यन अेसा कीजिये, जैसा सोपारी संग  
 आप कराये टूकडा, पण मुख आणे रंग  
 सज्यन अेसा कीजिये, जेसा लांबा ने लडाक  
 वरशाला की भीत ज्युं, पडे दमाक दमाक  
 सज्यन अेसा कीजिये, जेसा फूल गूलाब  
 देशतां नयना ठरे, ओर गुण नहि हिसाब  
 सज्यन अेसा कीजिये, जैसा कुवे का कोस  
 पगसुं पाछे ठेलीअे, तो य नही आणे रोष  
 सज्यन अेसा कीजिये, जेसा आकां दूध  
 अवगुण उपर गुण करे, ते सज्यन कुल सुध  
 सोनो वायो न नीपने, मोती न लागे डाल  
 रूपो धारो ना मीले, भूलो फिरे संसार  
 माया तो माणी भली, ताणी भली कमान  
 विद्या तो वापरी भली, वहेता भला नीर वाण  
 पांच पखेरूं सात सुवरा, नव तीतर दस मोर  
 कुंवर रीसालु के मालीये, चोरी ग(क)र गया चोर  
 काल मृग उजाडका, सज्यन पाछे फेर  
 सोवन की शीग मढावसुं, रूपाकी गले दोर  
 मति श्रुति निरमल नहि, नहि अवध मन ग्यान  
 केवल पण मुझ में नहिं, कीम उत्तर सुजाण - कीम कहूं उत्तर सुजाण  
 अेक आधार श्री जीन वचनका, अवर न दूसरो कोय  
 अपक्षापक्ष विचार के, देशुं उत्तर जोय  
 कागल हम दीनो सही, ओर न दीयो जाय  
 भांगा भेद विचारजो, लीजो मन समजाय  
 संगत अेसी कीजिये, अपना वरण बचाय  
 मोतीका मोती रहे, भूख हंसकी जाय  
 अंतर कपटी मुख रसि, नाम प्रीत को लेय  
 नालत हे उस मित्रकुं, दगा दोस्त कुं देय

आगे आगे कवले, पीछे हरिया होय  
 बलिहारी इण दरखतनी, जड काटयां फल होय  
 जड काटूं तो पांगरे, सीचू तो कुमलाय  
 हे गूणवंती वेलडी, तारा गुण तो कह्यो न जाय  
 गूपत बात छनी रहे, कोइ नर भेद न पावे  
 असा साजन को नहि, लालन प्रीती मिलावे  
 निडो न दीसे पारधी, लगे न दीसे बाण  
 हूं तोने पूछूं हे सखी !, कीण विध तज्या पराण  
 जल थोडो नेहा घणा, लगे प्रीत के बाण  
 तूं पी तूं पी कर मूये, इण विध तज्या पराण  
 नदी अनेक वन वन घणो, बीच बीच पडे पहाड  
 में तुज पूछूं हे सखी !, कीन कर कीयो शीणगार  
 आज चन्द्रमा दूज को, शशि चितवत चिंहु ओर  
 मेरे आ दीर्घ लाल को, नेत्र भमे हे कठोर  
 तूम तो समुद्र समान हो, चीडीया सम हम होय  
 चीडीया चांच डूबोय सो, समुंदर खाली न होय  
 मित्र में जाणी प्रीत गइ, दूर वसतें वास  
 युग्दल बीच अन्तर भयो, पण जीव तमारे पास  
 सो सज्यन हजार मित्र, मीजलख मित्र अनेक  
 जीन सज्यन से दुःख करे, वो लाखन में अेक  
 धन देइ तन राखीअे, तन देइ रखीअे लाज  
 तन धन दोनुं खरचीअे, अेक प्रीत के काज  
 तन कोमल मधुरी गीरा, दीसे प्रगट प्रसीद्ध  
 तो कठणाइ अेवडी, हिये कहांथी लीध  
 वीसवासी कीधी प्रीतडी, हवे दीखावो छेह  
 अे पातीक कीहां छूटसो, हिये विचारो अेह  
 मूझ सुं कांइ थोडे गून्हे, नेह विणा सो कन्त  
 गोद बिठाइ ने कहूं, मत ल्यो अबला अन्त

चाकर चूके चाकरी, पण स्वामी न चूके वाच  
 अवगुण उपरे गुण करे, ते मणी और कांच  
 कृष्णागर<sup>१</sup> बाल्यो थको, सामो दीये सुवास  
 कोश नाखीये नीरमां, तो पण जल दे तास  
 हुं छुं पगनी मोजडी, आप शिरना मोड  
 हुं कंटाळी बावळी, तमे तो सुर तरू छोड  
 सज्यन समये परखीये अपना कुल की रीत  
 लायक सेंती कीजिये वेर, वहेवार ओर प्रीत  
 में जाण्युं तूम कनक हो, ओर तूमकुं दीनो मान  
 कसी कसोटी कस दीया, पीतल नीकस्यो नीधान  
 तूम आंबा हम आंबली, तुम सरवर हम पाज  
 रीझ बूझ कर राखीयो, बांह्य ग्रह्याकी लाज  
 प्रीत न्यां पडदा नही, पडदा ज्यां नही प्रीत  
 प्रीत राखे पडदा रखे, आ तो बडी अनीत  
 पाणी विण मीन तरफडे, तेम तुं विण हुं थइश  
 तुज विण कोनी पास हुं, दिलनी कोहोने दइश  
 ज्युं हेमवंत ऋतु शमे, कंथ कान्त ले सोय  
 त्यों हमरो मन तुम विशे, लपट रह्यो नभ तोय  
 हम चावत तूम मिलन कुं, और तुम तो बडे कठोर  
 तुम विना हम तरसत हे, जुं जल बिना मोर  
 प्रतमली(प्रीत भली?) पंखी तणी, और रूपे झूडो मोर  
 प्रीत करीने परहरि, मानुष नहि ते ढोर  
 प्रीत छीपाइ नही छीपे, पलकमें करे प्रकाश  
 दाबी दूबी ना रहे, कस्तुरी की बास  
 प्रीत पूरानी नही पडे, जो उं तमसे लाग  
 सो वरसा जलमें रहे, चकमक तजे न आग  
 प्रीती ऐसी कीजिये, जैसी गुडीया दोर  
 कांटयाथी फीर पांगुरे, लीबु जांबु बोर

१. काळो अगर

सुण सज्यन अेक विनती, वारंवार करुं तोय  
 जो जो कीनी प्रीतडी, अब दगो मत दीजे मोय  
 मित्र अेसा कीजिये, जीसमें गुण बत्तीश  
 काम पड्यां बिछडे नही, बदले खरचे शीश  
 मिलना जगे अनूप हे, जो मिल जाने होय  
 पारस से लोहा मीले, छीन में कंचन होय  
 कागद थोडो हित घणो, कब लग लीखुं वणाप  
 सागरमें पाणी घणो, गागरमें न समाय  
 कागद थोडो पत्ति जो लीखे, जीनके अंतर होय  
 तन मन जीवन अेक हे, लोक देखा न होय  
 कागद नही शाही नही, नहि लिखी की रीत  
 सो पतियां केसे लिखुं, घटी तूमारी प्रीत  
 कनक पत्र कागद भयो !, मिसि भइ माणक मोल !  
 कलम भइ केइ लाखकी !, कयों नहि लिखे दो बोल ?  
 हाथ कंपे लिखणी मिठो, और मूखसे कही न जाय  
 सुध आवे छाती फटे, सो पतियां न लिखी जाय  
 सज्यन युं मत जाणजो, बीछडया प्रीत घट जाय  
 वेपारीका व्याज ज्युं, दिन दिन वधती जाय  
 सज्यन युं मत जाणजो, तुम बिछडया मोय चेंन  
 जेसी भट्टी लोहारकी, सिलगत हैं दिन रेन  
 सज्यन हुं थारा थकी, भावे ज्युं ही राख  
 नारंगीनी फाक ज्युं, न्यारी न्यारी चाख  
 सज्यन कचेरी छांड दो, अवर वसावो गाम  
 चोडे चुगली हो रही, ले लेशी वयरी<sup>१</sup> थारो नाम  
 नही कचेरी छांडस्यां, नहीं अवर वशायां गाम  
 दसरा वारो बोकडो, मरशी मोठे ठाम  
 दील ज्यों तमारा मोम सरीखा, तुम भी हमकुं चाहते थे  
 खाते थे पीते थे जानी, अेक जगा में रहते थे

१. वेरी ।

अगर जो तूमने वचन दिया था, वचन से पड गयें जूटें  
 नीम सरीखा कडवा हो गये, नीबू से दूने खटे  
 सज्यन चाल्या चाकरी, हाथ ली बिंडूक,  
 के तो लारां ले चलो, के कर जावो दो टूक  
 सज्यन हुं थारी गली, फीर फीर हेला देत  
 शब्द सुणावा और कुं, नाम तुमारा लेत  
 सोरठ ऊभी गोखमें, दांता चूप दमंक  
 जाणे हणमत वांकडो, लूंटी लायो लंक  
 वीजां वाडी गूलाबकी, मांहे लूंग घणा  
 थाम सि चित चोरीया, मा ने पुरूष घणा  
 सोरठ पाल तलावकी, मांहे गार घणी  
 थामा से चित चोरियो, मा ने नार घणी  
 वीजां वेडी रांडका, दे दे थाकी शीष  
 घर घेवर वासी रहे, पर घर मागे भीख  
 मीठाश वचने बोलीये, सुख उपजे कच्छु और  
 वशीकरण औ मंत्र हे, तजो वचन कठोर  
 जो सुख चाहो शरीर को, छोडो बातां चार  
 चरि चुगली जामनी, और बीरानी नार  
 क्रोड पुरव लग तप करो, भावे खालो गाल  
 उसमें नफा बहोत है, मेटो मनकी झाल  
 शुकर कुकर ऊंट खर, ये पशु वन में चार  
 तुलसी दया धर्म बीन, असे ही नर नार  
 वहेता पानी नीरमला, पडा गंदोला होय  
 साधु तो रमता भला, डाग न लागे कोय  
 बांध्या जल तो नीरमला, जो कुछ गहेरा होय  
 साधु तो थरता भला, जो मन समता होय  
 बुगला से नीर बिगडिया, बंदर सु बन राय  
 भोम सपुता बाडुड, वंस कुपुता जाय



खेती विणसे खारसे, सभा विणसे कुड  
 साधु बीठाडे (बिगाडे ?) लोलपी, ज्युं केसरमें धूल  
 वाणी विणसे वाद रां, चूगलां विणसे गाम  
 देश कुंबुध्या उ जेम, जाय कुपुतां नाम  
 मनकी<sup>१</sup> गुरु बगला कीया, दशा उजली देख  
 कहो रजब केसे तीरे, दोनो की गत अेक  
 धन पाया तो कया पाया, धर्म न पाया नहीं  
 वे नर दालीद्री सारीखा, कीसी गणतने मांहे  
 महेनत कर रे मानवी, महेनत पावे माम  
 महेनत वीण रीझे नहीं गुरु धणी भगवान  
 साधु सन्त की पारख्या, वाणी वाणी मांह  
 वाणी ज्या की सुध नहीं, वो साधु बीसुध नांह  
 तरवार तत्व पलटीया, पारस भेट्या आय  
 लोह पलट कंचन हुवा, तीखा पाणो न जाय  
 तरवार पारस भेटीया, मिटीया सब विकार  
 रजब तिनु न मीटीया, वांक मार और धार<sup>२</sup>  
 जैन धर्म पाया पीछे, वर्तमान कषाय  
 ये बातां अधकी सुणी, जलमां लानी लाय  
 पक्षा पक्ष माही पच रह्या, जे नर बुध का हीण  
 निरपेक्ष जे मानवी, सवाल बुध प्रवीण  
 मीठा बोलण नमन गुण, पर उगण ढकलेत  
 तीनुं भला रे जीवडा, चोथो हातसुं देत  
 माया ममता मोहनी, क्रोध लोभ चण्डाल,  
 चारू तजवो के देवे, जीनको नाम आचार  
 आंधला उन्दरने थोथा धान, जेवा गुरु तेवा जजमान  
 नाना भडका दीवाली, मोटा भडका होळी  
 चरादासजी चेला मूंड्या, आखर कोली ने कोली

१. बिलाडी ।

२. मार धार आकार ।

दया धर्म को मूल हे, पाप मूल अभिमान  
 तुलसी दया न छोडीये, जब लग घटमें प्राण  
 बात बणावे, अकल ओलवे, खावे वीराना माल  
 पर घर कुदे त्रण जणा, वकील वैद दलाल  
 माया से माया मीले, कर कर लंबा हाथ  
 तुलसीदास गरीबनी, कोइ न पूछे बात  
 चन्दन ऊग्यो बागमें, हरखी सब वनराय  
 संगत से म्होंगा कीया, अपणी बास लगाय  
 बांसन ऊग्या बागमें, धडकी सब वनराय  
 कुंलकां खांपण जनमीयो, बल जल भस्म हो जाय  
 अनर्था धन नीपजे, ते सतगुरु मुख कीम जाय  
 के तो भाटा फोडावशी, के मली मशकरा खाय<sup>१</sup>  
 सुसंगत सुधर्या नही, जीनका बडा अभाग  
 कुसंगत छोडया नही, ज्यां को मोटो भाग  
 अंकुश जिन बीगडया घणा, कुंशिष और कुनार  
 अंकुश माथे धारीअे, ज्यां को मोटो भार  
 अत शीतलाइ कया करे, दुश्मन केरी लाग  
 घसतां घसतां नीकले, चन्दन मांही आग

अथ मुशलमानी शेर लिख्यते-

बंदा बहोत न फूलीये खुदा खमेगां नांही  
 जोर जुलम करजे नहि, मरतलोक के मांही  
 मरतलोक लोक के माहि, तमाशा तुरत बतावे,  
 जो नर चाले अत्यायेते नर खता खावे  
 कहे दीन दरवेश सुणा रे मुख अंधा  
 खुदा खमेगां नांही बहोत मत फूले बंदा (१)  
 मनका चाया करत हे धर धर मनमें दाव  
 हिस्साब सबका होवेगा कोन रंक कोन राव

१. कां तो माथां फोडावशे, कां मळी मशकरा खाय ।

कोन रंक कोन राव जडा जंजीर जडेगा,  
 धणी मागशी ध्यान उन दिन खबर पडेगा  
 कहे कोन दरवेश सुणो रे मूरख अंधा  
 खुदा खमेगा नांही, बहोत मत फूले बंदा - (२)

अथ गझल लिख्यते-

सतगुरु देव हे लाहेला सांभल वेगे इ आवेला  
 तेरो सगो नही कोइ, दी सरंन सीरोही सेवे  
 पाप अढारे ज्याने नरक में भारे  
 पडशि जमकी फांस होवेला बहोत ही हांस  
 प्राणी देख मा सो बीछड गये संसार  
 जे नर धरम से रता, कहे प्रेम तीन का खूब हे मता

उपदेशना सवैया-

नर भव पायो सार धर्म कुं न लीनो लार,  
 कुसंगत करीने तु तो जनम बिगाडेगो,  
 साधु सन्त आव्यो देखी भुंडो भुंडो बोले,  
 मती जूटा आल दइने तू पडदा उखाडेगो;  
 धरमी पुरूष जति निन्दया मूढे करे मति,  
 दुवारे आवि सतीने डुंगीसे तुं ताडेगो,  
 रीख लालचन्दजी कहे वन्दे नहि तो निन्दे मती,  
 नहि तो तुं भंगी होय सेतुखाना झाडेगो  
 प्रथम पाणातीपात जीवन की करे घात,  
 वांसला सु कपि हाथ कसाइ दूध पावे रे,  
 ज्युं तु तरेडी तरकारी काकडी करेला केरी,  
 खवि रस वर भरी तली भुंजी खावे रे;  
 पेला का खाइने मांस आयखा की करे आश,  
 चीडिया का जीव्हा का ग्रास पापीने सोहावे रे,

रीख लालचन्द्रजी कहे कयों ने तु जीवाने हणे,  
नाने कर्म उदे आया नवा तु उपावे रे

मनुष जन्म पाय दया धर्म कीयो नांय,  
साधु सन्त देख्या प्राय जो तु जाय रोकेगो,  
शीलवन्त नरनारी धणीकी निन्दया जारी,  
खीम्मावन्त नाही धारी को के तुं टोकेगो;  
साचा जूठा आल दइ आबरू तें तें विगोइ,  
दुमति कलंक केइ होइ ने तुं को केगो,  
रीख लालचन्द्रजी कहे वन्दे नहि तो निन्दे मती,  
नहीतर गली गली मों ही गधो होय भूकेगो

धन ही के काज व्याज वावो जीवो हा रा वाजे,  
लंगोटी पेर्या की लाज हाथ राखे तूंबडी,  
केडीया कटारा बांधे भाला बिरछी बंदूक साधे,  
लाल कुंदो बणयो सागे जीसी पाकी गुमडी;  
गाय भेंस घरे ठाली भारा बांधे बाली हाली,  
कांदा मूला खावे गाली पाडे मुढे बूमडी,  
रीख लालचन्द्रजी कहे कबहु के मांठो भीख,  
रांक जीस्यो मांग्या फिरे घर घर भूमडी

नारी बुरी परकी घरकी, पण पारकी नार महा दूःख देती  
तनकु धनकु मनकु चूस लहे शील सन्तोष हरे जीम भूति  
लाज नहि सुत तातकी मातकी लोही भरी हडसुणी ज्युं कुति  
रीख लाल कहे परनारी सु (स्नेह)बहोत ही खावेगा मूंहे पे जूति

**कूड लक्षी -**

माया जोबन राज छक, बदी करो मत कोय,  
रावण बदी कमाय कर, गयो समुळी खोय  
गयो समुळी खोय बदी को दण्ड न छूटे,  
और नकल बणाय तो बरसु दी कुटे

भभीक्षण कुं राज मील्यो नेकी का फल सोय  
माया जोबन राज छक, बदी करो मत कोय.

और चुटका-

रतन चिन्तामण सारखो नरम वहे परधान,  
देव गुरु धर्मकी दिलमें करो पहिचान  
दिलमें करो पहिचान दीन दीन आयु छीजे,  
तप जप करणी नेम संजम उत्तम कीजे  
नर भव पायो निटसें गाढो करो जतन,  
वारवार नहि पामस्यो ज्युं चिन्तामणी रतन  
जैसो मेलो हांटको वैसो हे संसार,  
बिछडतां नही बार हे तन धन अरु परिवार  
तन धन अरु परिवार संध्या रंग समाना,  
डाम अणी जल बीद पको तखर पांना  
पडतां वार न लागशी रुपाल जगत का अेसा,  
दयाधरम तन्त सार हे सुधर्म स्वामी जेसा  
रयण दिवस जो जात है पाछी नही आवंत,  
नीर फले जावे पाप में भजे नहि भगवन्त  
भजे नहि भगवन्त रहेवि खिया रस रातो,  
हांसी वि कथा वारता करे पराइ तातो  
सांच जूठ अति केलवे नहीं सूणे जिन रयणां,  
धंधामांही दिन गुमावे सोय गुमावी रयणां

दोहा लिख्यते

मीठा मीठा जगे घणा कडवा मीले न कोइ  
खांड पीयां कफ उपजे, नीम पीयां सुख होय  
खम दम सरल सुभावतां, मद गाली हलवा होय  
सांच दया तपसी भला, ज्ञानी ब्रह्मचारी जोय

पंच पंच पाले पंच पंच टाले, छ छ नो करे विचार  
सात कुं टाले आठ कुं गाले, वेही सुध्य अणगार  
माया छांया अेक कही, घटे बवन के जोर<sup>१</sup>

रज विरज उंची रही, नर माइ के पांण  
पथर ठोकर खात हे, करडाइ के ताण  
अवगुण उर धरिये नहि, जोहो वे वृक्ष बंबुल  
गुण लीजे कालु कहे, नहि छांयामें शूल  
जल निकट उज्वल वरण, अेक पग चित्त ध्यान  
में जाणुं कोइ सन्त हे, महा कुपट की खाण  
चार कोशका माण्डला, वेवाणी का जोरा  
भारे करमी जीवडा, उठे बी रहे गया कोरा  
दस द्वारको पीजरो, जीसमें पंछी पौन  
रहे अचंबो मानीये, गये अचंबो कोन ?  
मस्तक गण्ठी मत हरे, बीच गण्ठी धन खाय  
छोटी लेखण जे लीखे, जडामूलसुं जाय  
फ्रीट फ्रीट थारी पाघडी, रंग हमारी चूडी  
अबांरका मोटीयारा सुं, लोगाव्या हैं रूडी  
धोला सो मंदिर भला, काला भला ज केश  
आभरण तो पीला भला, राता भला ज वेश

इति सम्पूर्ण संवत १९६१ का चैत्र सुदी पांच ने वार रविये देश दक्षण  
इलाख मोगलाइ जीला ओरंगाबाद तालुका अंबड पोस्ट बामुंटाकली  
मुकाम व्यावमांडा लिखीसुंत पूज्य साहेबजी श्री श्री श्री १००८ श्री  
कानरीखजी महाराज का खंभात संपदा का पुज्य भाणजी रखजी तत्  
शिष मूनि तपसीजी हीरारखजी मम गुरु तप प्रतापे अमीरख साधु ख  
आत्मा अर्थ ॥

(आनन्द आश्रम, घोषावदर, ता. गोंडल, जि. राजकोट ३६० ३११  
दूरभाष : ०२८२५-२७१५८२, २७१४०९, मो. ९८२४३ ७१९०४)

१. आ दोहानी एक पंक्ति रही गई छे.

## वादी हर्षनन्दन कृत जिनसागरसूत्रि गीतानि

म. विनयसागर

गहूली, गीत, भास आदि संज्ञक रचनाएँ सद्गुरु के प्रति अपनी हृद्गत भावनाओं को प्रकट करती हैं ।

### वादी हर्षनन्दन

इन गीतों के प्रणेता वादी हर्षनन्दन हैं । हर्षनन्दन महोपाध्याय समयसुन्दरजी के प्रमुख शिष्य थे । इनका जन्म कब हुआ, दीक्षा कब ग्रहण की, वादीपद एवं उपाध्यायपद कब प्राप्त हुआ एवं स्वर्गवास कब हुआ ? इत्यादि के सम्बन्ध में कोई भी ऐतिह्य प्रमाण प्राप्त नहीं है । कल्पनाश्रित आधार से कुछ प्रमाण एकत्रित किए जा सकते हैं, जो निम्न हैं :-

जिनचन्द्रसूरिने अपने आचार्य काल में (१६१२-१६७०) ४४ नन्दियाँ स्थापित की थी । इसमें से २७वीं नन्दी 'नन्दन' है । इस आधार से अनुमान किया जा सकता है कि संवत् १६४४ और १६४५ के बीच में इनको दीक्षा जिनचन्द्रसूरि ने प्रदान की होगी । जन्म स्थान का पता नहीं, किन्तु राजस्थान के निवासी हों और बाल्यावस्था में दीक्षित हुए हों, ऐसी कल्पना की जा सकती है ।

समयसुन्दरजी ने 'गुरुदुःखितवचनं' में स्पष्ट लिखा है - 'उत्कालिक-कालिक इत्यादि तपोवहन जिन्होंने किया हो, जिनको गच्छनायक को कहकर वाचकादि पद प्रेम से दिलाया गया हो, जिन्होंने बड़े-बड़े विशाल क्षेत्रों में गीतार्थ नाम धारण कर यशोपार्जन किया हो, जो तर्क-व्याकरण और काव्यादि विद्याओं में पारगामि हों, सूत्र-सिद्धान्त की चर्चा में वस्तुस्थिति प्ररूपक हों, पृथ्वीमण्डल में वादी हों और यशस्वी हों, हिन्दू और मुसलमानों के मान्य हों और सर्वगच्छों के मान्य हों, गच्छ के कार्यकर्ता हों; ऐसे शिष्य भी यदि गुरु की वृद्धावस्था में सेवा न कर सकें तो उन शिष्यों का होना निरर्थक है । जो गुरु को दुःखी करते हों, जिनमें लोकलज्जा भी नहीं हों, ऐसे शिष्यों



को दोष नहीं देना चाहिए, कर्म का ही दोष है। इस लघु कृति की रचना समयसुन्दरजी ने १६९८ अहमदाबाद में की है। इसी प्रकार एक लघु गीत में अपने हृदय की मार्मिक पीड़ा को व्यक्त किया है, वह गीत है- “चेला नहीं तउ म करउ चिंता, दीसइ घणे चले पण दुक्ख । संतान करंमि हुआ शिष्य बहुला, पणि समयसुन्दर न पायउ सुक्ख ॥”

समयसुन्दरजी जिनचन्द्रसूरि के पौत्र शिष्य एवं सकलचन्द्रगणि के शिष्य थे। जिनका दीक्षाकाल १६२८-१६३० से प्रारम्भ होकर १७०२ तक का है। इनके ४५ शिष्य थे और इसमें प्रशिष्यादि की गणना नहीं है। उन्हें जब १६८७ के गुजरात के भयंकर दुष्काल के समय अहमदाबाद में रहना पड़ा तब किसी शिष्य ने साथ नहीं दिया हो, ऐसा दुःखर्गभित-वचन में स्पष्ट झलकता है।

संभवतः ऐसा प्रतीत होता है कि नव्यतर्कशास्त्री और वादी होने के पश्चात् ही सम्भवतः जिनसागरसूरि का शाखाभेद इन्हीं के कारण हुआ हो। अपने शिष्य व्यामोह से समयसुन्दरोपाध्याय एवं पुण्यनिधानोपाध्याय की सारी परम्परा जिनसागरसूरि की अनुयायी बन गई। अथवा अन्य कोई भी कारण रहा हो।

वादी हर्षनन्दन चिन्तामणि, महाभाष्य आदि उत्कृष्ट ग्रन्थों के अध्येता थे। इनकी रचित निम्नांकित कृतियाँ प्राप्त हैं :-

१. मध्याह्न-व्याख्यान-पद्धति (सं. १६७३ पाटण)
२. ऋषिमण्डल-वृत्ति, ४ खण्ड (सं. १७०५ बीकानेर)
३. स्थानांग-गाथागत-वृत्ति (सं. १७०५ वा. सुमतिकल्लोल के साथ)
४. उत्तराध्ययन-वृत्ति (सं. १७११ बीकानेर ज्ञान.)
५. आदिनाथ-व्याख्यान
६. आचारदिनकरप्रशस्ति
७. शत्रुंजययात्रा-परिपाटी-स्तवन (सं. १६७१)
८. गौडीस्त० (१६८३) एवं अन्य स्तवनादि।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संवत् १७१२ के पश्चात् इनका देहावसान हुआ होगा ।

इसमें अन्तिम कृति बालचन्द्र के नाम से है, उनका कोई परिचय प्राप्त नहीं होता है ।

ये समस्त कृतियाँ आचार्य जिनसागरसूरि से सम्बन्धित है अतएव जिनसागरसूरिजी का परिचय देना अनिवार्य है :-

### आचार्य श्रीजिनसागरसूरि

बीकानेर निवासी बोथरा शाह बच्छराज की भार्या मृगादे की कोख से सं० १६५२ कार्तिक शुक्ला १४ रविवार को अश्विनी नक्षत्र में इनका जन्म हुआ था । जन्म नाम चोला था पर सामल नाम से प्रसिद्ध हुई । सं० १६६१ माघ सुदि ७ को अमृतसर जाकर अपने बड़े भाई विक्रम और माता के साथ श्रीजिनसिंहसूरिजी महाराज के पास दीक्षा लेकर 'सिद्धसेन' नाम पाया । आगम के योगोद्धहन किए, फिर बीकानेर में छमासी तप किया । कविवर समयसुन्दरजी के विद्वान् शिष्य वादी हर्षनन्दनजी ने आपको विद्याध्ययन बड़े मनोयोग से कराया । श्रीजिनसिंहसूरिजी के साथ संघवी आसकरण के संघ सह शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा की । खंभात, अहमदाबाद, पाटण होते हुए वडली में जिनदत्तसूरिजी के स्तूप की यात्रा की । सिरोही पधारने पर राजा राजसिंह ने बहुत सम्मानित किया । जालौर, खंडप, दुनाड़ा होते हुए घंघाणी आकर प्राचीन जिनबिम्बों के दर्शन किये । बीकानेर पधारे, शाह बाघमल ने प्रवेशोत्सव किया । सम्राट जहांगीर के आमंत्रण से विहार कर आगरा जाते हुए मार्ग में जिनसिंहसूरिजी का स्वर्गवास हो जाने से राजसमुद्रजी को भट्टारकपद व सिद्धसेनजी को आचार्यपद से अलंकृत किया गया । चोपड़ा आसकरण, अमीपाल, कपूरचन्द, ऋषभदास और सूरदास ने पदमहोत्सव किया । पूनमियागच्छीय हेमसूरिजी ने सूरिमन्त्र देकर सं० १६७४ फा० सु० ७ को जिनराजसूरिजी व जिनसागरसूरिजी नाम प्रसिद्ध किया ।

मेड़ता से राणकपुर, वरकाणा, तिवरी, ओसियां, घंघाणी यात्रा कर मेड़ता में चातुर्मास बिता कर जैसलमेर पधारे । राउल कल्याण व संघ ने वंदन किया । भणशाली जीवराज ने उत्सव किया । वहाँ श्रीसंघ को ग्यारह

अंग सुनाये । शाह कुशला ने मिश्री सहित रुपयों की लाहण की । लौद्रवा जी में थाहरू साह ने स्वधर्मी-वात्सल्यादि में प्रचुर द्रव्य व्यय किया ।

श्रीजिनसागरसूरिजी फलौदी पधारे, श्रावक माने ने प्रवेशोत्सव किया । करणुंजा होते हुए बीकानेर पधारे । पाताजी ने संघ सह प्रवेशोत्सव किया । मंत्री कर्मचन्द के पुत्र मनोहरदास आदि सामहिये में पधारे । लूणकरणसर चतुर्मास कर जालपसर पधारे, मंत्री भगवंतदास ने उत्सव सह वंदन किया । डीडवाणा, सुरपुर, मालपुर जाकर बीलाड़ा में चौमासा किया, कटारियों ने उत्सव किया । मेड़ता में गेलछ रायमल के पुत्र अमीपाल-नेतसिंह व पौत्र राजसिंह ने नन्दिस्थापन कर व्रतोच्चारण किये । फिर राजपुर-कुंभलमेर होते हुए उदयपुर पधारे । मंत्रीश्वर कर्मचन्द्र के पुत्र लक्ष्मीचन्द के पुत्र रामचन्द्र, रुघनाथ ने दादी अजायबदे के साथ वंदन किया । फिर स्वर्णगिरि होते हुए सांचौर गए । हाथीशाह ने साग्रह चातुर्मास कराया ।

सं० १६८६ में पारस्परिक मनोमालिन्य से दोनों शाखाएँ भिन्न-भिन्न हो गई । जिनसागरसूरि की 'आचारजीया' शाखा में ३० समयसुन्दरजी का सम्पूर्ण शिष्य परिवार और पुण्यप्रधानादि युगप्रधान जिनचन्द्रसूरिजी के सभी शिष्य मिल गये । तथा अनेक नगरों का संघ जिनसागरसूरिजी को मानने लगा । मुख्य श्रावक समुदाय के धर्मकृत्य इस प्रकार हैं -

करमसी शाह संवत्सरी को महम्मदी मुद्रा, उनका पुत्र लालचन्द श्रीफल की प्रभावना करता । माता धनादे ने उपाश्रय का जीर्णोद्धार कराया । भार्या कपूरदे ने धर्मकार्यों में प्रचुर द्रव्यव्यय किया । शाह शान्तिदास, कपूरचन्द ने स्वर्ण के वेलिये देकर ढाई हजार खर्च किया । उनकी माता मानबाई ने उपाश्रय के एक खण्ड का जीर्णोद्धार कराया । प्रत्येक वर्ष चौमासी (आषाढ) के पौषधोपवासी श्रावकों को पोषण करने का वचन दिया । शा० मनजी के कुटुम्ब में उदयकरण, हाथी जेठमल, सोमजी मुख्य थे । हाथीशाह के पुत्र धनजी भी सुयश-पात्र थे । मूलजी, संघजी पुत्र वीरजी एवं परीख सोनपाल ने २४ पाक्षिकों को भोजन कराया । आचार्यश्री की आज्ञा में परीख चन्द्रभाण, लालू, अमरसी, सं० कचरमल्ल, परीख अखा, बाछड़ा देवकर्ण, शाह गुणराज के पुत्र रायचन्द, गुलालचन्द आदि राजनगर का संघ तथा खंभात के

भणशाली वधू का पुत्र ऋषभदास भी धर्मकृत्य करने में उल्लेखनीय था । हर्षनन्दन के गीतानुसार मुकरबखान नवाब भी आपको सम्मान देता था । अनेक गीतार्थों को उपाध्याय, वाचक आदि पद प्रदान किये और स्वहस्त से अपने पट्ट पर जिनधर्मसूरि को स्थापित किया । उस समय भणशाली वधू की भार्या विमलादे और सधुआ की भार्या सहजलदे व श्राविका देवकी ने पदोत्सव बड़े समारोह से किया ।

श्रीजिनसागरसूरिजी का शरीर अस्वस्थ हो जाने से वैशाख सुदि ३ को गच्छभार छोड़ कर, शिष्यों को गच्छ की शिखामण देकर वैशाख सुदि ८ को अनशन उच्चरण कर लिया । उस समय आपके पास उपाध्याय राजसोम, राजसार, सुमतिगणि, दयाकुशल वाचक, धर्ममन्दिर, ज्ञानधर्म, सुमतिवल्लभ आदि थे । सं० १७१९ ज्येष्ठ कृष्णा ३ शुक्रवार को आप समाधिपूर्वक स्वर्ग सिधारे । हाथीशाह ने धूमधाम से अन्त्येष्टि क्रिया की । संघ ने दो सौ रुपये खर्च कर गायें, पाड़े, बकरियों आदि की रक्षा की । शान्ति-जिनालय में देववन्दन किया । इनके रचित विहरमान बीसी एवं स्तवनादि उपलब्ध हैं । बीकानेर शान्तिनाथ मन्दिर और रेल दादाजी में आपके चरण स्थापित हैं ।

### प्रति-परिचय

इस प्रति की साइज २५.२ x ४.३ है । चार पत्र हैं । दूसरा पत्र अप्राप्त है । प्रति पत्र पंक्ति लगभग १३ हैं और प्रति पंक्ति अक्षर लगभग ३९ हैं । लेखन १८वीं सदी का प्रारम्भ है । अपूर्ण प्रति है । प्रारम्भ की कृतियाँ वादी हर्षनन्दन कृत है और अन्तिम १४वीं कृति बालचन्द्र कृत है ।

### ( १ ) गहूली गीत

॥ दं० ॥ ढाल-सखीरी

मंगलकारणि सइंहथइ, आदीसर अरिहन्त सखीरी ।  
 सुन्दरिनइ सीखावीयउ, उतपति जास सुणन्त सखीरी ॥१॥  
 साथीयइ मन लागउजी नन्धावर्त इण तास सखीरी ।  
 चउरंस चतुरस मारिस्यइ, जाणइ सगलउ गाम सखीरी ॥

साथीयइ मन लागउजी ।

कुंकू आणी सोरठउ, माण्डलगढरी सालि सखीरी ।  
 पदमिण जातिनी श्राविका, वात वणइ ततकाल सखीरी ॥सा० २॥  
 कोकिल कण्ठइ कामिनी, गीतारि त्रिण्ह गाय सखीरी ।  
 मोती कीजइ लुंछणा, सफल मनोरण थाय सखीरी ॥सा० ३॥  
 यथासक्तइ साचवइ कलयुगि मे तपे धन्न सखीरी ।  
 श्रावककरणी एहवि, उत्तराध्ययन वचन्न सखीरी ॥सा० ४॥  
 मिरगां माता गाईयइ, धर्मपिता वच्छराज सखीरी ।  
 जिण कुलि सदगुरु उपनउ, खरतरगच्छ गच्छराज सखीरी ॥सा० ५॥  
 सुखसन्तान सदा हुवइ, सहगुरु आपइ वास सखीरी ।  
 जिनसागरसूरि वान्दतां, हरखनन्दन उह्लास सखीरी ॥सा० ६॥

इति गहुली गीतम्

( २ ) गुरु गीत

ढाल - लाखा फुलाणी री

तिहां सखी वांदण जाउ, जिण देस माहे पूजजी जांणीयइ ।  
 हुआ सकुन विचार पांचुही पण्डित तेह वखाणीया ॥१॥  
 श्रीजिनसागरसूरि कलियुगि सुणीजइ गोयम-सामजी ।  
 फुरकइ वामउ नेत्र, आज असोही सुणि अभिरामजी ॥२॥  
 माल्हा लीनि ज माहली, सन्मुख आवी आडी उडती ।  
 वामउ सबद गणेश, दाहिणी देवी दीठीइ उडती ॥३॥  
 अक समान मुझ हाथ, आम्बा बे. दीधा मीठा बहुफल्या ।  
 सामा साजण मेलि, मनमान्या पूजजी तउ मील्य ॥४॥  
 हीयइ कमल उल्हास, नयणे कीजइ पूजजी लुंछणा ।  
 भाव भगतिसुं भेटि, सुख समाधि पूजजी पूछणा ॥५॥  
 नयणे दीठा पूजजी, जीभ न दीठा गुरुगुण कुण तवइ ।  
 हरखनन्दन कहइ एम, मंगल कारण पूजजी नवनवइ ॥६॥

इति श्री गुरु गीतम्

### ( ३ ) अन्योक्ति गीतम्

(मो मन उमाह्वय श्री आचारिज वांदिवा-एहनी ढाल)

कलियुग खोटउ कवियण कां कहउजी, जिहां जिनसागरसूरि ।  
 श्रीखरतरगच्छ केरी मांडणी, भाग सोभाग पडूर ॥  
 दिन-दिन दीसइ हो पूजजी दीपता, गुरु समवडि करइ कुंण ।  
 दुरजण माणस बेहुं नयणमई, सिभरवालउ लुंण ॥दि० १॥  
 खोटउ मुरिख जे करइ, गुरुजी न पुइचई कोइ ।  
 वानर ऊचा घणुं ही आफ्लइ, गवण च पहुंचइ तोइ ॥दि० २॥  
 साजन साम्भलि सुख पामइ घणुं, दुर्जण मन अमलाय ।  
 दिन-दिन चिन्ता थायइ दूबला, गुरु प्रताप न खमाय ॥दि० ३॥  
 लेख हुवइ जगदीस ताहरउ, माणस भुंजइ भाउ ।  
 तेहनइ मुहडइ माहें पडइ, जेह उड़ावइ वाउ ॥दि० ४॥  
 श्रीजिनसागरसूरि वांदिश्यइ, ते जीव भविअण जाण ।  
 वादी हरखनन्दन कहइ इणविधइ, साची वात प्रमाण ॥दि० ५॥

इति अन्योक्ति गीतम्

### ( ४ ) गुरु गीतम्

(राग मारु, ढाल सोहलारी)

सखी मोरी करि सिणगार हे, सखी मोरी पहिरि पटोली नवरंग चुंनडी हे ।  
 उरि एकावली हार हे, सखी मोरी सीस उपरि सोवन राखरी हे ॥१॥  
 सिरधरि पूरण कुम्भसि..... (अपूर्ण)

### ( ५ ) अपूर्ण

.....

लउ, तिहां याचक पामइ दानो रे ॥श्री० ४॥  
 नयण सलूणा पूज्यजी, हिव हुं बलिहारी नामइं रे ।  
 मोहणगारा मानवी, हिव हरखनन्दन सुख पामइ रे ॥श्री० ५॥

इति गीतम्

## (८) गुरु गीतम्

(गुहलङ्गी मनरंगइ गावउ-एहनी ढाल)

श्रीजिनसागरसूरि आचारिज चालउ सखी गुरुवन्दण कारिज ॥श्री० १॥  
 चालउ मोती चउक पुरावउं सूहव नारि मोतीयडे वधावउ ॥श्री० २॥  
 अमृतवाणि सुणि सुख पावउ, मंगल गीत मधुर-सरी गावउ ॥श्री० ३॥  
 बोथरां वंसइ सोह चडावइ, वलिय पिता वच्छराज मल्हावइ ॥श्री० ४॥  
 मिरघां माता उरि अवतारा, लघुवय लीछउ संयमभारा ॥श्री० ५॥  
 श्रीजिनसिंहसूरीसरसीस सोहइ लक्षण अंगि बत्रीस ॥श्री० ६॥  
 संवत् सोल चिमोत्तर वरसे, फगुण सुदी सातमि बहु हरखे ॥श्री० ७॥  
 पद ठवण मेडता मारी कीधउ संघवी आसकरण सोभाग लीधउ ॥श्री० ८॥  
 उत्कृष्टी किरिया खपकारी श्री आचारिज बाल-ब्रह्मचारी ॥श्री० ९॥  
 सुन्दर रूप अनइ सोभागी आचारिज महावय सागी ॥श्री० १०॥  
 दरिसण दीठा आणन्द थायइ वाचक हरखनन्दण गुण गायइ ॥श्री० ११॥

इति श्री गुरु गीताम्

## (९) गुरु गीतम्

(वीर वखाणी राणी चेलणाजी-एहनी ढाल)

जिनसागरसूरि चिर जयउ जी, आचारिज अणगार ।  
 कठिन किरिया तप जप करइजी, गच्छ खरतर सिणगार ॥जिन० १॥  
 धुर थकी सुजस सोभा घणीजी, लाइक कहता सहु लोग ।  
 जिणचन्द्रसूरि पणि कह्यउ हूँतउ जी जेहनइ पाटनउ जोग ॥जिन० २॥  
 खरतर संघ सहु दीपतउजी मेडतई सबक..... ।  
 ..... संघवी सलजी, आसकर्ण अवसर जाण ॥ जिन० ३॥  
 सुन्दर रूप सोहामणाजी, सूत्र सिद्धान्त मु..... ।  
 ..... गुरु भलाजी, सुललित सरस वखाण ॥जिन० ४॥  
 तात वच्छराज माता मृगांजी, जिनसिंहसूरिसीस ।  
 हरखनन्दण कहइ हरखसुंजी, प्रतपज्यो कोडि वरीस ॥जिन० ५॥

इति गीतम्

१. वस्तुतः यहाँ क्रमांक ६ होना चाहिए । - शी.

### ( १० ) गुरु गीतम्

(पूजजी चउमास थकी आवियउ-एहनी ढाल)

आज वधावउ जी गाईयइ, उछव घरी-घरी आज ।  
 तोरण बांध्या ..... ऊजलइ, आव्या जिनसागरसूरि राय ॥आज० १॥  
 सात पांच सूहव मिली, गोरी गावइजी भास ।  
 मादल ताल बजावतां, गन्धर्व गावइ छइ रास ॥आज० २॥  
 सूत्र सिद्धान्त वखाणतां, कान ..... होइ ।  
 सुललित वाणीजी सांभलइ, निसचल मन सहू कोइ ॥आज० ३॥  
 कूकुं तिलकजी श्रावक, उत्तम फल हाथ ।  
 केसर अबीरजी छंटणा, साजण सहू को जी साथ ॥आज० ४॥  
 साथइ मोटांजी साधुजी, दीठां पातक जाय ।  
 तिणहकाल करउ वन्दणाजी, पडिलाभइ पुण्य थाय ॥आज० ५॥  
 धन मृगा कीन्नी कूंखडी, धन पिता वच्छराज ।  
 बोथरां वंसइजी चांदिलउ, गच्छमइं वधसी छइं लाज ॥आज० ६॥  
 गाई वाईजी हरखीया पूजजी छउ साबासि ।  
 हरखनन्दन सुख संपजइ, हाथ तणउ छउ वास ॥आज० ७॥

इति गीतम्

### ( ११ ) गुरु गीतम्

(कपूर हुवइ अति ऊजलुं रे-एहनी ढाल)

सरवर सरवर जल हुवइ रे, गंगाजल अतसान्ति ।  
 घरि घरि कुलगुरु छइ छाणां रे नावइ ए गुरु पांति ॥१॥  
 रे सहियां श्रीजिनसागरसूरि ..... ।  
 रतन ग्रही काच नांखीयइ रे, तिम सहगुरु नउ संघ रे सही ॥२॥  
 फूल्यउ सुन्दर नींबडउ रे कोइली छइ नही लाग ।  
 पण्डित माणस राचिस्यइ रे ए स्युं ..... रु धरमसम ॥३॥  
 नयण पदारथ ओलखइ रे लख आवरु लख जाइ ।  
 मन मान्या विण आपणइ रे सिर मन मणुं जाय रे सहिया ॥४॥



थोड़ा बोला गुण घणा रे पालइ संजय साच ।  
हरखनन्दन करइ वन्दणा रे निकलंक काच नहीं वाय रे ॥५॥

इति गीतम्

( १२ ) गुरु गीतम्

(राग खम्भायती-एहनी ढाल)

आठ वरस बालक वइं रे लीधउ संजम भार ।  
वारु वरस बावीसमइ रे खरतरगच्छ गणधारो रे ।  
पियु ..... पखीयइ जिनसागरसूरि क्रिया करू रे ॥१॥  
वड वयराग सोभागसुं रे सग वडइ कुण पूजइ रे ।  
कठिन क्रिया देखीं करी रे शिथिलाचारी धूजइं रे ॥पियु० २॥  
छत्रीस गुण अंगइ धरया रे शील सुगन्धित गात्रो रे ।  
ध्यान मौन तप जप धरइ रे निरमल चारित्र पात्रो रे ॥पियु० ३॥  
पूरव प्रीयां उधरया रे गुरु गच्छ राख्यउ नामो रे ।  
श्रीसंघ हरखित दिन-दिनइं रे हरखनन्दन अभिरामो रे ॥पियु० ४॥

इति श्री गुरु गीतम्

( १३ )

(ढाल-पारधीयानी)

हरख धरी म्हे आवीयो, मंगलीक कण्ठा गाय रे ।  
चिर जीवउ पूरइ मुख दीठइ दुख जायइ ॥१॥  
थांइ दरसण थी सुखथाइ इक वीनती ए वीसी अवधारि रे ।  
धरमलाभ थायइ घणउ रे गुहलडी ..... ॥  
सांची देसणा दीजीयइ रे ए मोटो उपगार रे ।  
वार-वार कईयइ किसुं रे श्री गुरुजी सब जाण रे ॥चिर० २॥  
अभिग्रह पिण पूरा हुवइ रे सुख पामउ भवि जीव रे ।  
आज दिवस छइ परवउ रे श्री संघ उदय सदीव रे ॥चिर० ३॥  
पूज पधारया पूठीयइ रे, मिरघा मात मलार रे । चि० ।  
श्रीजिनसागरसूरिजी रे सफल मनोरथ सार रे ॥ चिर० ४॥

सुहव करइ वधामणा रे चतुरविध श्रीसंघ रंग रे । चि० ।  
हरखनन्दन कहइ सेवतां रे चतुर माणस चित चंग रे ॥चि० ५॥

इति गीतम्

### ( १४ ) गुरु गीतम्

(ढाल-हासलानी)

जउ तुहे जास्यउ कामनइ हुं जाइसुं रे वान्दण मन भाइय कि । पूजजी भला ।  
पूजजी कउ हो रुडउ परिवार अति रुडउ हो आचार-विचार कि । पू.भ. ।  
सुणि सुन्दरी पहिली सुण्या पधारया खरतरगच्छराय कि ॥पू. १॥  
सजकरी सोल श्रृङ्गार तु हूं हिरु हो अति उजल वेश कि ।पू.।  
ओढ नवरंग चूनडी कसबीनी हो बांधु पाग विशेष कि ॥पू. २॥  
तुं करिजे तिहां गूंहली हुं खरचिसुं हे बोरी भरी दाम कि ।पू.।  
तुं गीत गावे पूजरा हूं करिस्युं हे पंचाग प्रणाम कि ॥पू.३॥  
हूं तेडीसि घरि आंपणइ पडिलाभे हे सुजतउ आहार कि ।पू.।  
वार-वार थे वान्दिज्यो हूं सेविसुं हे गुरु चरण उदार कि ॥पू.४॥  
एह मनोरथ सवि फल्या जब दीठा हे जिनसागरसूरि कि ।पू.।  
वांछा भाव वछइ घणा बोलइ बालचन्द सनूरकि ॥पू.५॥

इति मनोरथ गीतम् (१४)

### ( १५ ) गुरु गीतम्

(मादल मइ सुण्यउ-एहनी ढाल)

इण नगरई उ.....

C/o. प्राकृत भारती  
१३-A, मेन गुरुनानकपथ  
मालवीयनगर, जयपुर

## ॥ साध्वीजी भावलक्ष्मी धुलबन्ध ॥

सं. मुनिसुजसचन्द्र-सुयशचन्द्रविजयौ

जिनशासननी उन्नति करवामां जेटलो सिंहफाळो पू. साधुभगवन्तो नो छे तेटलो ज सिंहफाळो पू. साध्वीजी भगवन्तो नो पण खरो. आ बाबतमां शंक्राने कशे ज स्थान नथी. इतिहास पण आवा केटलाय द्रष्टान्तो नो साक्षी छे के अनेक विकट प्रसंगोमां सा. राजिमती, सा. रुद्रसोमा, सा. पोहिणी जेवा घणा साध्वीजी भगवन्तोए शासनने टकाववा/आगळ धपाववा माटे महेनत करी हती. प्रस्तुत कृतिमां पण कविश्री मुकुन्दे तेवा ज एक साध्वीजी श्रीभावलक्ष्मीजीना जीवनचरित्र पर प्रकाश पाड्यो छे.

### साध्वीजीनो परिचय

साध्वीजी भावलक्ष्मीजी सीधपुर (सिद्धपुर ?) नामना नगरमां रहेता . साल्हओ नामना व्यवहारीना पुत्री छे. तेमनी मातानुं नाम झबकू छे. “वितपन नाम मरगदि सुन्दरी” आ पंक्ति परथी साध्वीजीनुं गृहस्थपणानुं नाम वितपन होय एवं लागे छे. आवुं नाम कल्पवुं थोडुं कठिण छे, छतां ज्यां सुधी साध्वीजीना जीवनसम्बन्धि अन्य काव्य न मळे त्यां सुधी स्वीकारवुं पडशे. तेमनी दीक्षा कइ उमरे थइ ए अंगे कविए कशुंज लख्युं नथी, परंतु “कालिक कुंयरि नइ सरसती ए” आ पद द्वारा कविए भाइ (दीक्षानुं नाम तपासवा योग्य छे) अने बहेन (सा. भावलक्ष्मी) बन्नेनी दीक्षानी ओछा पण सुन्दर शब्दोमां नोंध करी छे. “रतनचूला शिक्षणी” आ पद द्वारा कविए साध्वीजी भगवन्तना गुरुणीना नामनो निर्देश कर्यो होय एम अमो मानीए छीए. साध्वीजी भगवन्तना शीयळादि गुणोनी पण कविए सुन्दर प्रशंसा करी छे. आ सिवाय तेमनो विशेष परिचय काव्यमां मळतो नथी

प्रस्तुत कृतिनी रचना वृद्धतपागच्छना रत्नसिंहसूरिना शिष्य उदयधर्म उपाध्यायना शिष्य मुकुन्द कविए करी छे. काव्य ऐतिहासिक छे. कृति रचना कविए धवल नामना काव्यप्रकारमां करी छे. आ काव्यमां वपरायेला रगतहंसा (रक्तहंसा), मारूयणी धनासी (धन्यासी), धुल धनासी रागो विशेष नोंधपात्र छे.

प्रस्तुत कृतिनी प्रत सम्पादनार्थे आपवा बदल श्रीसाहित्यमन्दिरभण्डार (पालीताणा)ना व्यवस्थापकश्रीनो तेमज मुनिजयभद्रविजयजीनो आभार.

॥ अहँ नमः ॥

॥ ऐँ नमः ॥

॥ धुलबंध ॥ राग - रगतहंसा ॥

शासनदेवति<sup>१</sup> नमउं तुम्ह पाय, सरसति मझ मत्ति दिउ घणी ए,  
हर ..... भास, आस पुरउ हईया<sup>२</sup> तणी ए १  
हंसवाहिनि वर आपि अनोपम, ऊपम भगवति दिउं किसिउं<sup>३</sup> ए,  
मूरख हूं पण भगति विशेषिहिं, भावलक्ष्मी गुण गाइसिउं ए २  
.....वि, निरमली सहज सभावि,  
आनन्दि पूरिउ आज, सारीउं मइं मझ काज,  
सारीउं मइं मझ काज, भगवति नयणि दीठइं वासना<sup>४</sup>,  
दारिद्र चूरइ ऋद्धि पूरइ सखी, देव ..... ३  
नयर निरूपम सीधपुर जाणि, सरगजमलिं किरि तुडि<sup>६</sup> करइ ए,  
दीसए गढ-मढ-पोलि<sup>७</sup>-पगार<sup>८</sup>, सार सरसति नदी जिहां वसइ ए ४  
मेरूसिहर सम पंच प्रासा[द], ..... हइ ए,  
प्राग्वंसि वसइ विव[हारीया] साल्हओ नामि, जाणि कि आणन्द अवतरिउ ए ५

### त्रूटक

अवतरिउ किर<sup>९</sup> आणन्द श्रावक, महति<sup>१०</sup> मुहवडि<sup>११</sup> किज्ज,<sup>१२</sup>  
तस घरणि झबकू ....., सुदढपणि सलहिज्ज<sup>१३</sup>ए,  
तस ऊयरि उतपन अच्छइ, वितपन नाम मरगदि<sup>१४</sup> सुन्दरी,  
जिण वचण जाणइ हियइ आणइ, जाणि कि ब्राह्मी सुन्दरी ६

॥ अथ राग-मारूयणीं धना[सी] ॥

उदार सुललित इम भणइ ए, सांभलु ए मुझ मन तणी वात,  
तात माता प्रति प्रीछवइ ए, जाणीउ एउ अथिर संसार,  
सार संजम अम्ह मनि वसउ ए ७  
व्रत लयुं ए निज बान्धव साथि, साखि<sup>१६</sup> श्रीरत्नसिंघसूरि तणइ ए,  
अवतरियां ए किरि बेउ इणि कालि, कालिक कुंयरि<sup>१७</sup> नइ सरसती ए ८

### त्रुटक

सरसती किरि मुखि वसइ, अमिरत्तवाणि<sup>१८</sup> सोहामणी,  
गणि भावलक्ष्मी नाभि भगवति, सती सयल सिरोमणी,  
तपगच्छ सोह<sup>१९</sup> करइ मुहतर<sup>२०</sup>, रतनचूला शिक्षणी,  
सिद्धन्त<sup>२१</sup> वांचइ सुकृत सांचइ<sup>२२</sup>, सारसीति<sup>२३</sup> सलक्षणी ९

॥ हिव राग धुल धनासी ॥

लक्षण-गुणमणिखाणि, जाण कि चन्दन<sup>२४</sup> अवतरी ए,  
रूप सोभाग निधान, दरिसणि दुक्खि परिहरी ए १०

धन धन जननी कूख, दूखलिउं जीणं ऊपनां ए,  
गछमाहि मेरू समान, ज्ञाने चारित्रपात्र नीपनां ए ११

नीपनां चारित्रपात्र चतुर्विध संघ मन आनन्द ए,  
प्रमाद टालइ पुण्य पालइ पापमूल निकंदए,

श्रीउदयधर्म उज्झांय सेवक इम मुकुन्द समुच्चरइ,  
<sup>२५</sup>भलपणइं भगवति भावलक्ष्मी महिम<sup>२६</sup> महीयलि विस्तरइ १२

॥ इति धुल ॥छा॥ ग्रं. २१॥

### शब्दकोश

- |                           |                             |
|---------------------------|-----------------------------|
| १. शासनदेवति = शासनदेवता  | १४. मरगदि = मरकत रत्न जेवी, |
| २. हईया = हृदय            | १५. लयुं = लीधुं            |
| ३. किसिउं = केवुं         | १६. साखि = साक्षिए          |
| ४. वासना = ?              | १७. कुयरि = कुंवर           |
| ५. सरगजमलि = स्वर्गसमान   | १८. अमिरत्तवाणि = अमृतवाणि  |
| ६. तुडि = स्पर्धा, बरोबरी | १९. सोह = शोभा              |
| ७. पोलि = दरवाजो          | २०. मुहतर = महत्तरा         |
| ८. पगार = किल्ले          | २१. सिद्धन्त = सिद्धान्त    |
| ९. किर = जाणे के          | २२. सांचइ = एकटुं करे छे.   |
| १०. महति = मोटा (?)       | २३. सारसीति = ? सरस्वति     |
| ११. मुहवडि = आगळ पडता     | २४. चन्दन = चन्दनबाळा       |
| १२. किज्ज = कार्य         | २५. भलपणइं = श्रेष्ठपणामां  |
| १३. सलहिज्जए = वखाणवा     | २६. महिम = महिमा, महात्म्य  |

# ॥ श्री हंसराजपोसालधुलबन्ध ॥

(गन्धारनी प्राचीनता)

सं. मुनिसुयशचन्द्र-सुजसचन्द्रविजयो

भरूचथी २६ कि.मी. दूर समुद्रना किनारे गन्धार गाम पासे गन्धार तीर्थ आवेलुं छे. एक काळे आ नगरनी बंदर तरीके सारी ख्याति हती. देश-परदेशनो माल अहींना बजारोमां ठलवातो तेथी अहीं वेपारीओनी भीड रहेती. नगरनी आवी समृद्धिना कारणे सहुकोइनी नजर अहीं रहेती. आ नगर केटलुं प्राचीन हशे ते तो शोधनो विषय छे. छातां “सं. ७६९-७० मां सिन्धनो गवर्नर हासम बिन अमरु तघलखी नौका वाटे गन्धार आव्यो, तेणे मूर्तिओनो नाश कर्यो, तेमज मन्दिरो तोडी मस्झिद बनावी” आ मुजबनी नोंध आ नगरी माटे मळे छे. प.पू. जगद्गुरु हीरविजयसूरिजीए पण आ नगरमां पोताना विशाल समुदाय साथे चातुर्मास कर्यानी नोंध मळे छे. वळी आ नगरीनी प्राचीनताना पुरावा रूपे आजे पण आसपासना विस्तारमांथी पुरातत्त्वावशेषो मळी रहे छे.

**मन्दिरो :**

अहिं प्राचीन बे-चार(?) जिनमन्दिरो हता. १. श्रीमहावीरस्वामी भगवाननुं अने २. अमीझरा पार्श्वनाथ भगवाननुं. तेमां महावीरस्वामी भगवाननुं मन्दिर पूर्वे लाकडानुं हतुं ते सं. १५०० मां बन्यानो उल्लेख मळे छे. ते मन्दिरो जीर्णोद्धार सं. १८१०मां हठीसिंग केसरीसिंगना धर्मपत्नी हरकोइबाईए कराव्यो हतो. बीजुं पार्श्वनाथ प्रभुजीनुं जिनालय कोणे कर्युं तेनो विशेष उल्लेख मळतो नथी. ३. विजयदेवमाहात्म्य नामना काव्यमां सं. १६४३ना जेठ सुद १०ना इन्द्रजी नामना श्रावके श्रीवीरप्रभुना चैत्यनी प्रतिष्ठा पू. विजयदेवसूरिजीना हाथे कर्यानी नोंध छे. ४. तो बीजी बाजु खंभातना राजिया अने वाजिया श्रावके करेला वीरप्रभुना चैत्यनी आजे नोंध सरखी पण मळती नथी.

**गन्धार चैत्यपरिपाटी :**

सं. १९१९मां भरूच नगरथी गन्धार बंदरनो पू. हुकुममुनिजीए संघ काढ्यो हतो. ते वखते तेमणे गन्धारनगर-चैत्यपरिपाटी नामनी कृतिनी रचना

करी हती तेमां गामना मूळनायक तरीके श्रीवीरप्रभुना जिनालयनी नोंध करता मूलगभारामां आरसना ३६ जिनबिम्बने, तथा ७ धातुनी प्रतिमाने, तेमज रंगमण्डपमां ६ अने ७ एम कुल ५२ बिम्बने जुहार्यानुं लखे छे. त्यारबाद गामनी बहार रहेला अमीझरा पार्श्वनाथना जिनालयने भेट्यानुं लखे छे. आना उपरथी एटलुं कही शकाय के १९१९ सुधी गाममां वीरप्रभुनुं जिनालय मध्यमां हशे. पछी गामनो विस्तार अमीझरा पार्श्वनाथना जिनालयनी आगळ वधतो गयो हशे. एम करता आखुं गाम अमीझरा पार्श्वनाथना जिनालय तरफ थइ जता वीरप्रभुनुं देरासर निर्जन विस्तारमां थता ते देरासरनी प्रतिमा अहीं लवाइ हशे. बाकी आ विगतो पर पुरतो प्रकाश पाडवो घटे.

### उपाश्रय :

गन्धारगामथी लगभग थोडे दूर रहेला खाली जिनालयनी बाजुमां एक भीत छे. जे हीरसूरि म.सा.ना उपाश्रयनी भीतना नामथी ओळखाय छे. हीरसूरि म.सा. ए अहीं चोमासुं कर्यानी नोंध मळे छे. एटले एटलुं चोक्कस के आ गाममां प्राचीन उपाश्रय हशे. परंतु काळना प्रभावे तेनो नाश थता आटलो भाग शेष रह्यो होय एवुं बने.

### कृतिनो परिचय :

प्रस्तुत कृतिमां कविए गन्धार श्रीसंघना उपाश्रय अंगेनी एक ऐतिहासिक माहिती पूरी पाडी छे. उपाश्रय कोणे कराव्यो ? प्रथम चातुर्मास कोणे कर्युं ? इत्यादि बाबतो पर कविए आपणुं ध्यान दोर्युं छे.

### कृतिनो सारांश :

वीर प्रभुना चरणकमलमां नमस्कार करीने गन्धार नगरना श्रावकोनुं कविए शरूआतनी ३ गाथामां वर्णन कर्युं छे. त्यार पछीनी गाथाथी पौषधशाळा कराववा माटे संघना मनोरथनुं तेमज हंसराज संघपतिना गुणोनुं वर्णन कर्युं छे. पौषधशाला कराववा माटेनी तैयारीनुं तथा कादी (काजी)न समजता पौषधशाला माटे प्राणनी परवा कर्या विना खान क्षितिपतिने भेटी हंसराजे कार्यने पूरुं कराव्युं ए वातनी नोंध करी ११मी गाथाथी पौषधशालानी नकशी, कोरणीनुं वर्णन कवि करे छे. अन्त्यनी गाथाओमां उपाश्रय तैयार थया पछी प्रथम

चातुर्मासने माटे वृद्धतपागच्छीय श्रीरत्नसिंहसूरिना शिष्य उदयधर्मने तेडावी चातुर्मास कराव्यानी अने अन्त्य गाथामां फरी वीरप्रभुने प्रणमी पोताना गुरुभगवन्तोने याद करी बोधिबीज पामवानी कवि वात करे छे.

### कर्तानो परिचय :

कर्ता मुकुन्द वृद्धतपागच्छनी शाखामां थयेल रत्नसिंहसूरिजीना (हस्त दीक्षित) शिष्य उदयधर्म गणिना शिष्य छे. उदयधर्मजी पोते समर्थ विद्वान हता. तेमणे सं. १५०७मां वाक्यप्रकाश औक्तिकनी, तथा उपदेशमाळानी ५१मी गाथानुं शतार्थी विवरण बनाव्युं हतुं. बीजा पण महावीरस्वामी स्तोत्र, उपदेशमाला-कथानकछप्पड आदि ग्रन्थोनी रचना करी हती. तेमना शिष्य कवि मुकुन्द विषे अन्य कोइ परिचय प्राप्त थतो नथी, परंतु तेमनी अन्य एक रचना “सा. भावलक्ष्मी धुल” नामनी प्राप्त थाय छे. जे आगळ प्रकाशीत करी छे.

### काव्यमां प्रयुक्त बे शब्दो :

काव्यरचनामां कर्ताए धुल - धवल नामना काव्य प्रकारनो आशरो लीधो छे. साथे राग तरीके देसाख, कुकुभी [धुल], रक्तहंसा [धुल], धनासी (धन्यासी) ने पसंद कर्या छे. अहीं खास तो कुकुभी [धुल], रक्तहंसा [धुल] आ बन्ने रागना बन्धारण शुं हशे ? ते केम गवाता हशे ? ते शोधवा लायक वस्तु छे.

### पांच पंक्तिनुं काव्य :

कविए काव्य ११मां पांच चरण रच्या छे. तो शुं ते पांच चरणनुं ज गेय काव्य छे ? के एक पंक्ति रही गइ हशे ? जो के कर्ताए अन्य एक रचनामां आज रीते ५ पंक्तिओ रची काव्य रच्युं छे. तेथी ५ चरणनुं काव्य मानवुं योग्य जणाय छे.

### प्रत परिचय :

प्रस्तुत प्रत अमोने पालीताणा स्थित श्रीसाहित्यमन्दिर उपाश्रयना हस्तलिखित संग्रहमांथी प्राप्त थई छे. प्रत आपवा बदल मुनिराजश्री जयभद्रविजयजी म.सा. तथा साहित्यमन्दिरना व्यवस्थापकोनो खूब-खूब आभार.



श्री

॥ हंसराजपोसाल धुलबन्ध ॥

अहं नमः ।

एँ नमः ।

॥ए ६०॥ राग - देसाख ॥ दूहा बन्ध ॥

वीर जिणेशर पय नमी, गुरूउ<sup>१</sup> गुणभण्डार,  
 नयर निरुपम दीपतुं, जगि जाणीइ<sup>२</sup> गन्धार १  
 वासि वसइं विवहारीया<sup>३</sup>, पुरूषरयण परधान,  
 धन सम्पत्तिइं धनद<sup>४</sup> किरि<sup>५</sup>, लीलां इन्द्र समान २  
 तिहां जिनशासन गहगहइ<sup>६</sup>, उत्सव करइं अपार,  
 सुगुरूवयण नितु संभलइं, भरइं सुकृतभण्डार. ३  
 गुरू उपदेस हीइ<sup>७</sup> धरइं, करइ विमासण चिति<sup>८</sup>,  
 पौषधशाल करावीइं, मनि अति आणइं खंति ४

॥ राग - देसाख ॥ धुल<sup>९</sup> बन्ध ॥

खंति करी संधि मांडीयां काज, पौषधशाल बहु नीपजइं<sup>१०</sup> ए,  
 समरथ संघपति हंसराज चितवइ, ठाकुरसिंघ कुलमण्डणु ए ५  
 जाण सिरोमणि मानि दुरयोधन, दानि करण किरि अवतरिउ ए,  
 हठि चडिउ जाणि कि रावण राउ, सन्त सरिसु ससि अभिनवु ए ६

॥ त्रूटक ॥

अभिनवु ससि अमिरत्तधारी<sup>११</sup>, अंगि सारी बुधि वसइ,  
 पौषद्धशाल कराविवा, गुणवन्त अणुदिण<sup>१२</sup> उल्लसइ,  
 पण काज जे मनि चितवइ ते अवर कोइ न जाणए  
 श्रीसंघ कहइ संघपति जे पण अंगि आलस आणए  
 आणए य आलस अंगि जइ एउ काज कवण समुद्धरइ,  
 श्रीसंघ मनि आनन्द करिवा हंस संघपति खंति<sup>१३</sup>करइ ७

॥ हवं राग - ककुभी धुल ॥

नाम प्रमाणि चडाविवा काजि, पोसालपायुओ<sup>१४</sup> परठीउ<sup>१५</sup> ए,  
 तेइया कबाडीय<sup>१६</sup> अनइ सिलाट<sup>१७</sup>, निश्चल काम मंडावीउं ए ८  
 धसमस<sup>१८</sup> पणइं बइसारीइं ई(ई)ट, पीढनइं<sup>१९</sup> काठ कपावीइं ए,  
 सिहर कादी<sup>२०</sup> यदि वारए आण, प्राण<sup>२१</sup> करइ य पोसालसिउं ए ९

॥ व्रूटक ॥

पोसालसिउं करइ प्राण, संघपत्तिनइं हूउं जाण,  
कादी न मानइ जाम, हठि चडिउ संघपति ताम,  
हठि चडिउ संघपति जईय भेटिउ, खान क्षितिपति ताम,  
पोसाल चउपटपणि<sup>२२</sup> करावी, जगि रहाव्युं<sup>२३</sup> नाम १०

॥ हवं - धनासी राग धुल ॥

मंडीउ खप तिहां अतिघणु ए, मुंकीउ ए निज बन्धव कामि,  
नामि मीनागर संघवई ए, पीढ बइसारीय विचित्र विसाल,  
सार<sup>२४</sup> पटसाल करावीइं ए ११  
खडकीय<sup>२५</sup> जोयंता लागए खंति<sup>२६</sup>, चिंति चउसाल<sup>२७</sup> ए ओरडा ए,  
थंभकुंभीसिरां<sup>२८</sup> कोरणी चंग, अंग ऊलट करइं आलीया<sup>२९</sup> ए १२

॥ व्रूटक ॥

आलीया ए ऊलट करइं, धवलित<sup>३०</sup> भजइं भीति<sup>३१</sup> अपार,  
ओरडा पटसाल<sup>३२</sup> सोहइ, चउक सीहदूयार<sup>३३</sup>,  
खडकी कमाडसु<sup>३४</sup> कोरणी, छाजासु<sup>३५</sup> छाजइं बारि,  
चित्राम<sup>३६</sup> चिहुपखि<sup>३७</sup> जोयतां, आनंद रिदय मझारि,  
आनंद रिदय मझारि मनि, व्यापार बीजु छंडीउ,  
बन्धव बेटासिउं रही, पोसाल खप बहु मंडीउ १३

॥ हवं राग - रक्तहंसा धुल ॥

धन धन तपागच्छ वडीय पोसाल, श्रीरत्नसिंघसूरि गणधरू ए,  
उत्तम श्रावक अनइ सुजाण, सुहगुरूवास हीइ वसइ ए १४  
श्रीउदयधर्म उज्झांय तेडावीय, चतुर्मासि रहावीय रंग करइ ए,  
भगतिहिं वेचए वित्त अपार, सुजस रहावए<sup>३८</sup> आपणु<sup>३९</sup> ए १५  
जस रहावइ आपणु, वेचइय वित्त अपार,  
श्री श्रीयमालशृंगार, ..... दरिसणहं दातार,  
संघपति हंसिहिं निघुट करणी<sup>४०</sup> कराव्युं बहु रंगि,  
जोयतां भवीयण तणइ मनि ऊलट्ट माइ न अंगि १६  
ऊलट्ट माइ न अंगि जिन श्रीवर्धमान प्रणामीइ,  
गुरु [उदयधर्म शिष मु]कुन्द बोलइ, बोधिबीज सुपामीइ १७

॥ इति सं. हंसराज पोसाल धुल बन्ध ॥

## शब्दकोश

१. गुरूउ = मोटुं  
 २. जाणीइ = जाणे के  
 ३. विवहारीया = वेपारी  
 ४. धनद = कुबेर  
 ५. किरि = जाणे के  
 ६. गहगहइ = वृद्धि-विस्तार पामे छे  
 ७. हीइ = हृदयमां  
 ८. चिंति = चित्तमां  
 ९. धुल = धवल  
 १०. नीपजइ = बने,  
 ११. अमिरत्तधारी = अमृतने धारण  
 करनार  
 १२. अणुदिण = दररोज  
 १३. खंति = होंश, उमंग  
 १४. पायुओ = पायो  
 १५. परठीउ = मुक्युं, नाख्युं  
 १६. कबाडीय = कठियारो  
 १७. सिलाट = सलाट, कडियो  
 १८. धसमसपणइ = झडपथी,  
 उतावळथी  
 १९. पीढ = जेना उपर मेडाना पाटिया  
 जडवामां आवे ते लांबुं लाकडुं  
 २०. कादी = काजी  
 २१. प्राण करइ = नियम करे  
 २२. चउपटपणि = चारे बाजुथी, सम्पूर्ण  
 पणे  
 २३. रहाव्युं = राख्युं  
 २४. सार = श्रेष्ठ, सुन्दर  
 २५. खडकीय = डेली  
 २६. खंति = चीवट, काळजी (?)  
 २७. चउसाल = विस्तृत, मोटुं  
 २८. सिरां = (शंभी-कुंभी)ना मस्तके,  
 फरते  
 २९. आलीया = गोख  
 ३०. धवलित = श्वेतपणुं  
 ३१. भीति = दीवाल  
 ३२. पटसाल = घरनो आगलो खण्ड,  
 परसाळ  
 ३३. सीहदूयार = सिंहद्वार  
 ३४. कमाड = बारणुं  
 ३५. छाजासु = छापराथी  
 ३६. चित्राम = चित्ररामण, चित्रो  
 ३७. चिहुपखि = चारे बाजु  
 ३८. रहावए = राखे  
 ३९. आपणु = पोतानुं  
 ४०. निघुटकरणी = निर्घुट (?) उदार  
 करणी - कार्य

C/o. अश्विन संघवी  
 गोपीपुरा, कायस्थ महोल्हो  
 सूरत-१

# સં. ૧૭૩૦નું અમદાવાદની તાત્તી દોશીહટીમાંની પંચહટી મધ્યેનું હાટગ્રહણક (ગિરો) ર્ચતપત્ર

રસીલા કડીઆ

અમદાવાદની હાજાપટેલની પોઢમાં આવેલા સંવેગીના ઉપાશ્રયના જ્ઞાનભળ્ડારમાંથી મને વાંચવા માટે જે કેટલાક દસ્તાવેજોની ઝેરોક્ષ મઢી છે તે માંહેનો આ એક દસ્તાવેજ છે. અન્ય દસ્તાવેજો ઘરના વેચાણના કે ગિરવે આપવાના છે જ્યારે પ્રસ્તુત દસ્તાવેજ હાટનું ગિરોચત છે. આ તબક્કે આ માટે, હું ત્યાંના ટ્રસ્ટીઓ તથા કર્મચારી ગણનો આભાર માનું છું. અન્ય દસ્તાવેજોના અક્ષરો આ દસ્તાવેજની અપેક્ષાએ ઘણા વધુ સુવાચ્ય છે. અહીં ઘણે સ્થલે અક્ષરો ડકેલવામાં ઘણી મુશ્કેલી પડી છે.

પ્રસ્તુત દસ્તાવેજ સં. ૧૭૩૦, શક સંવત ૧૫૯૫, ઈ.સ. ૧૬૭૪ના સમયનો ચૈત્ર સુદ ૧૦ અને રવિવારના રોજ તૈયાર થયો છે. દસ્તાવેજ કાપડ પર છે. કાઢી શાહીનું લખાણ છે. તેનું માપ ૨૩" x ૯ $\frac{૩}{૪}$ " (૫૭.૫ x ૨૪.૫ સે.મી.) છે. પ્રથમ લીટીમાં સાકે ૧૫ પછીના અંકોવાઢું કાપડ ફાટેલું છે પળ સંવતને આધારે તે ૧૫૯૫ હોવાનું નિશ્ચિત કરી શકાય છે. જમણી બાજુ કાપડની ધારી ફાટેલી છે. 'મતુ'વાઢી બાજુ ડૂબ જ જીર્ણ છે છતાં અક્ષરો કપાયા નથી. ૨૧મી લીટીમાં ભગવતીદાસના પિતાના નામને સ્થાને ડાલી જગ્યા છે જે પાછલ્થથી પૂછીને ભરવાનું વિચારાયું હોય અને રહી ગયું હોય તેમ જણાય છે. તે સિવાય દસ્તાવેજ પૂર્ણ છે, પળ ઘણો જ જીર્ણ, સછિદ્ર, ઝાંચો અને ડાઘાડૂઘીવાઢો છે. અક્ષરો એ જ ભળ્ડારના અન્ય દસ્તાવેજની અપેક્ષાએ નાના છે અને ઓછા સુવાચ્ય છે. દસ્તાવેજમાં કુલ ૩૭ પંક્તિઓ (મતુ અને સહી સિવાય)નું મૂલ્ લખાણ છે. એમાં દરેકમાં શબ્ડો લગભગ ૯ થી ૧૨ છે.

દસ્તાવેજની ભાષા સંસ્કૃત-મિશ્રિત જૂની ગુજરાતી છે અને લિપિ દેવનાગરી છે. અંકો લખાયા છે ત્યાં ગુજરાતી અંકો છે. 'મતુ' અને 'સાક્ષી'માં શિરોરેચાવાઢી ગુજરાતી લિપિ પ્રયોજાઈ છે. અ ત્રિપાંજિયો છે. ડ અને ષ બને વર્ણો ડ માટે પ્રયોજાયેલા છે. હ્રસ્વ ડ દેવનાગરીનો છે પળ ઢીર્ઘ ઈ માટે હ્રસ્વ

इ ने दीर्घ इकारान्तसूचक मात्रा लगाडेल छे. दा.त. बाड़ी. 'ल'वर्ण आजनी गुजराती वर्णमाळ जेवो ज छे.

સારાંશ : વિ.સં. ૧૭૩૦માં દિલ્હી (શાહસ્યાંહાનાબાદ)ના તરુએ ઔરંગઝેબ હતો અને તેના સમયમાં અમદાવાદ ઁાતેના જુદાજુદા ઁાતાઓના અધિકારીઓ તથા નગરશેઠના નામોલ્લેખ હોવાથી, એ સમયની શાસનવ્યવસ્થા તથા અધિકારીઓ બાબતેની માહિતી સાંપડે છે. દસ્તાવેજની ૧ થી ૧૦ લીટીઓમાં દસ્તાવેજનો સમય તથા રાજ્યવ્યવસ્થા અને અધિકારીઓનો વિગતે ઁલ્લેખ છે. પ્રસ્તુત દસ્તાવેજ એક હાટને ગિરવે મૂકવા બાબતે છે, તેની જાણકારી પ્રાપ્ત થાય છે. ઔરંગઝેબે પોતાનું ઁપનામ (તખલ્લુસ) મહિદદીન મહિમ્મદ ઔરંગઝેબ બહાદુર આલમગીર પાદશાહ ગાજી રાખેલ હતું તે વિગત પણ અહીં સાંપડે છે.

પંક્તિ ૧૧ અને ૧૨માં ગિરવે રખાનારી હાટનું સ્થાન દર્શાવ્યું છે. ત્રિપોલીઆના અંદરના ભાગમાં આવેલ નાની દોશીહટીમાં આવેલ પંચહટી વિસ્તારમાં આવેલી આ દુકાન છે.

'મિરાતે અહમદી'માં અમદાવાદના સ્થલોના ઁલ્લેખો જોતાં, એમાં 'ત્રિપોલીઆ' ત્રણ દરવાજા માટે વપરાતો શબ્દ જણાયો છે. ભદ્રથી ત્રણદરવાજા વચ્ચેનો વિસ્તાર 'ઁાસ બજાર' નામો ઁોલ્લેખાતો, ત્રણદરવાજાથી આજે જે રીચીરોડ કે ગાંધીરોડ તરીકે ઁોલ્લેખાય છે તે બજારનો ભાગ હોવાનું જણાય છે. આજે 'દોશીવાડો' છે. દોશીહટી - નાની કે મોટી - નથી. જોકે, આજેય દોશીવાડાની બહારનો ભાગ (ફતાસાપોલ અને ઢીકવાચોકીનો ઢાલ ઁતરતાં) બજાર જ છે, વઢી, સંવેગીના ઁપાશ્રયમાંથી પ્રાપ્ત થયેલ અન્ય દસ્તાવેજો હાજા પટેલની પોલ્લના ઘરોના વેચાણના છે. આ દસ્તાવેજ પણ ત્યાંનો છે એટલે આ દુકાનનું સ્થલ પ્રાયઃ દોશીવાડાની બહારના ભાગથી હાજા પટેલની પોલ્લના છેડે આવેલ ઁંકશાલ્લની પોલ્લ સુધીના વિસ્તારમાં આવેલ હોવું જોઈએ. વઢી, દસ્તાવેજમાં ઁૂંટની વિગતોમાં, હાટની પછીતે, પૂર્વ દિશાએ મુસલમાન દરજીના ઘર હોવાની વિગતો છે. આજે પણ તે વિસ્તારમાં દરજીની દુકાન તથા ઘર હોવા વિશે તો આ લખનાર તે વિસ્તારમાં રહ્યા હોઈને (૫૦ વર્ષ પહેલાં), ઁની જાણકારી છે. છેલ્લાં વર્ષોમાં વસ્તીના ફેરફારો ઘણા છે.

પછીની ૧૩ થી ૧૬ લીટીઓમાં હાટ ગિરવે આપનાર તથા લેનારની

विगतो छे अने अे विगतो परथी आ एक बेनामी transaction (व्यवहार) थयो होवानुं फलित थाय छे. शाह त्रिलोकशी प्रतापशी दुकान गिरवे आपनार छे. सामे पक्षे बाई पूजी जे ओश वंशना वृद्धि शाखाना वीरजी यादवनी पुत्री छे जेना त्रिलोकशी भरथार छे !

घणीवार धंधामां मोटी खोट आवी होय के आवनार होय तेम लागे त्यारे देवामां पोतानी अंगत मूडी बधी जती न रहे ते माटे केटलीक मूडी आज्येय पत्नीना नामे थती होय छे जेथी खराब समये ते टांचमां जती बची शके. अहीं पण अेवी कोई शक्यता जणाता थयेलो व्यवहार छे. त्रिलोकशीने पैसानी जरूर छे अने ते पोतानी पत्नी अने ससरा पासेथी गिरवे ले छे. पंक्ति ३५-३६मां पैसानी चुकवणी बाबते स्पष्टता करवामां आवी छे के, हाट गिरवे राखनार अेनी पत्नीए ४९८ रू. सुखडी रूपे आवेल पोतानी अंगत मूडी नाणांमांथी = मुहुरना आपेल छे. तथा अेना पिताश्रीअे - वीरजी यादवे - ३२५ रू. दीकरीने आपेल छे. अेनी पासे आ बधा पैसा सुखडीना भाग रूपे आवेला, बचावेला - स्त्रीधन रूपे हता. आ विगत स्पष्ट करे छे के दुकान गिरे आपीने, दुकान बचावी लेवानी आ कायदेसरनी युक्ति छे. आवा बेनामी व्यवहार अे जमानामां थता हता तेवुं आ दस्तावेज स्पष्ट करे छे.

वळी, सुखडीना पैसा अर्थात् दस्तूरी लेखे दीकरीने के पत्नीने पैसा अपाता तथा ते तेनुं पोतानुं धन गणातुं. स्त्रीधनने कायदो स्पर्शतो नथी, एटले अहीं पत्नीने ज हाट गिरवे अपाय छे.

त्यारबाद हाटनुं वर्णन तथा खूंटनी विगतो छे ते मुजब प्रस्तुत हाट ३ खण्डवाळुं, पश्चिमाभिमुखी, उपर पीटणी अने गुखा (पाटडो अने गोखला) साथेनुं छे. आगला भागे पेढी तरीके बनावेलो ४थो खण्ड छे. पेढी एटले दुकानना आगला भागमां मोटो ओटलो होय. त्यां मालिक गादी नांखीने बेसता होय, जेथी आवता-जता ग्राहको पर नजर रही शके. घणीवार अेनी आगळ कठेडा जेवुं बनाववामां आवतुं. आजे होटलोमां थडे बेठेल मेनेजर कहीअे छीअे तेवुं काईक आ छे. पण दुकाने ओटलाना पगथियांनी नीचे अेक के वधारे मोटां पगथियां होय जे मुख्य रस्ताथी थोडुंक ऊंचे होय. आ हाटनी रचना पण आवी छे. आगळना कठोडावाळुं भागे नळियावाळुं छपरु छे, जेथी

ઓટલો હોવા છતાં વરસાદમાં રક્ષણ રહે, ઁૂંટ જોતાં, પૂર્વે પછીત આવે. ત્યાં મુસલમાન દરજીના ઘરો છે. ત્યાં નેવના પાળી પડે છે. હાટની પેઢીના પાળીનું નિકાલ પશ્ચિમે છે. (આગલ જણાવેલ છે કે પેઢી પર છાપરું છે). આગલ રાજમાર્ગ છે, મતલબ આ હાટ મોકાની જગા પરનું છે, દક્ષિણે પનજી સોતરિયાનું (સુતરિયાનું ?) ઘર છે. ઉત્તરે શાહ ભગવતીદાસની ઢુકાન છે.

ત્યારબાદ ગિરવે કેટલા રૂપિયામાં આપ્યું તેની વિગત છે. તથા તેની શરતોનો ઉલ્લેખ છે. અમદાવાદના ટંકશાલના ૮૨૩ રૂ. બાઈ પૂજીએ ત્રિલોકશીને આપ્યા છે. સાક્ષીની સહી જોતાં, ત્રિલોકશીના બે ઢીકરાએ જ સહી કરેલી જણાય છે. દર વર્ષે વલ્લતિઁ ૧૦ ત્રાંબાના પૈસા આપવાના રહે છે. એમાં માત્ર પુજીના પેટના ઢીકરાને વાપરવાનો અધિકાર જણાવ્યો છે. અહીં 'પેટના' શબ્દ અગત્યનો છે. એ સમયે પુરુષો કાયદેસર રીતે ઁકથી વધુ પત્ની કરી શકતા, બાઈ પૂજીએ પૈસા આપ્યા છે તેથી હક માત્ર તેની કૂંચેથી જન્મ લેનારનો રહે છે તેવી સ્પષ્ટતા દસ્તાવેજમાં કરાતી તે જાણવા જેવી બાબત છે. વલ્લી આ હાટ, ત્રિલોકશીને મોસાલ પક્ષેથી મલ્લ્યું છે ઁટલે મોસાલનું કોઈ પળ હક કરતું ન આવે તેની કાલ્જી લેવાઈ છે. ઢીકરીને પિતા નાળાંકીય સંકટ વખતે મદદ કરતાં અને સુખડીમાં તેનો ભાગ રહેતો.

આમ પ્રસ્તુત મોગલકાલીન દસ્તાવેજ અમદાવાદની ભૂગોલ, તત્કાલીન રાજકીય પરિસ્થિતિ, શાસક અને શાસન સમ્બન્ધી વિગતો તથા તે સમયની સામાજિક-કૌટુંબિક બાબતો-રિવાજો જણાવતું હોઈને અગત્યનું બને છે.

### સં. ૧૭૩૦નો ગિરોલ્લતનો મૂલ્પાઠ

- ૧ : ॥ સ્વસ્તિ શ્રીમન્નૃપ વિક્રમાલ્ક સિતમાતીત (સમયાતીત) । સંવત્ (ત) ૧૭૩૦ વર્ષે શાકે ૧૫[૧૫]
- ૨ પ્રવર્તમાને ચૈત્ર શૂઢિ ૧૦ રવૌ । ઢને અઢેહ શ્રી અહિમ્મદાવાદ મધે હાટ પ્રહીળ-
- ૩ ક પત્રમમિ લલ્ચયતે । અઢેહ શ્રી ગૂર્જરાધીશ । માહારાજાધિરાજ પાતશાહ શ્રી
- ૪ શ્રી૭ મહિદઢીન મહિમ્મદ ઁરગજેહેબ બાધુર આલમગીર પાતશાહ ગાજી
- ૫ શાહસ્યાંહાનાબાદ મધે વિજય રાજ્યે । તત્ર શ્રી અહિમ્મદાવાદે હાકિમ નબાબ

- ६ श्री५ महिम्मद अमीषां(खां)न । तस्याग्रे राज्य श्री५ रंगीलादास । दीवानी मी-
- ७ र्या श्री५ शेष(ख) निजांमदी अहिम्मद । बक्सी मीयां श्री५ मीर बाहावदी हू-
- ८ शेन । कादी श्री५ मीर महिम्मद शरीफ । अदलमीर श्री५ अबू नासर
- ९ अमीन दारोगा मीयां श्री अहिम्मद बेग । चुतरे मीयां श्री५ अली रजा वेग
- १० मुशरफ ठाकुर निखिलदास । सहिर कानूंगो समस्त एतान् धर्मन्यायां प्रवर्त्तते ।
- ११ एवं पंचकुलान्वये । तत्र हवेलयां वडा चुतरानी । त्रिपोलीआ मांहिली पासां-
- १२ नी नाहानी दोशीहटी मधे पंचहटी मधेनू हाट ग्रहणके दत्तांनि । श्री ओ-
- १३ श वंश ज्ञातीय । वृद्धि शाषा(खा)यां । बाई पूजी बिन वीरजी बिन यादव ए वीर-
- १४ जीनी पुत्री बाई पूजी पारस्यात् । भर्थार साह तीलोकशी बिन प्रतापशी
- १५ बिन वीरजी ए साह तीलोकशी हस्तांक्षराणि दत्तां । यित हाट अेक १ षं(खं)ड इ त्र-
- १६ ण पश्चिमीभिमूष(ख)नू छि । षं(खं)ड ३ त्रण ऊपरि पीटणी छि ते सहित । १ गुषा(खा) छि ।
- १७ अग्रे षं(खं)ड ४ पेढीनुं छि । ऊपरि नलीअर छापर छि । ए हाट सर्वोपस्कर छादित
- १८ भूमि सहितं । ए हाटनां षू(खू)ट पूर्व दिसि पछीति मुसलमान दरजीनां घर छि ।
- १९ नेव पडि छि । पश्चिमे ए हाटन(नी) पेढीनुं नीकाल छि पगथीईआं छि ।
- २० अग्रे राजमार्ग छि । दक्षिणे साह पनजी बिन सोतरीआनू हाट छि । उत्तरे सा-
- २१ ह भगवतीदास (भगवतीदास) बिन .....नू हाट छि । एवं च्यारि ४ षू (खू)टांनि । एवंविध ए हाट



- २२ ग्रहणके दत्तानि । तस्योपरि अहिम्मदावादनी टंकसालिना आकरा कोरा मासा
- २३ ११॥ ना रूपैआ ८२३ अंके आठसहि त्रेवीस पूरा रोकडां । बाई पूजी पाशेथी साह
- २४ तीलोकशीअि लेईनि ए हाट बाई पूजीनी ग्रहिणि आपू छि । हवि ए हा-
- २५ ट पड्युं करापिते । तथा राजक दैवक लागीते । तथा नलीआंनी खोटि ए हाट छोड-
- २६ वतां सर्वे ए हाटना धणी वर्ती आपि । संचरामणी बिसनारनी । रूपै-
- २७ आनूं वाज नही । ए हाटनूं भाड्युं नही एणिहिरि बाई पूजी तथा बाई
- २८ पूजीना पुत्र पेटना परिवार बिसि वसिइ आपे । ग्रहि मूकि । तिह्वारि
- २९ ए हाटना धणी कणवार न करि । वलतीउ वर्ष अेक १ प्रति थोकडि दोकडा
- ३० १० दस छूटा त्रंबाना वलती । यिह्वारि साह तीलोकशी रूपैआ आठसहि
- ३१ अेकवीस पूरा रोकडा एकिमूठि बाई पूजीनि । तथा बाई पूजीना पुत्र परिवारनि आपी
- ३२ तिहवारि ए हाट छूटि । ए हाटनु को वहिरशि आपि तेहनी साह तीलोकशी प्री-
- ३३ छवी वारि । ए हाट साह तीलोकशीनि मुहुसाल पक्ष्यानुं छि । ए हाटनां षा(खा)-
- ३४ ल प्रनाल नेव पेढी । पगथाईआं सर्वा पूर्वा रीति समंधी सही । रूपै-
- ३५ आ मधे रूपैआ ४९८ ए बाई पूजीअि पोतानी मुहुरना आपा छि । तथा रूपैआ ३२५
- ३६ त्रणसहि पंचवीस साह वीरजी यादवना । बाई पाशे सूष(ख)डीना हता ते बाई पूजीअि आ-
- ३७ पा छि एणी वगति जमलि रूपैआ ८२३ आठसहि त्रेवीस आपीनि ए हाट ग्रहिणि लीधूं छि

- |                             |  |
|-----------------------------|--|
| १ अत्र मतू                  | १ अत्र साष्यि (ख्य)                              |
| १ तलोकशी परताप मतु उप       | १ पदमसी तलकसी साख ३५                             |
| २ लखातै सही रू ८२३ गरद देवा | रि लाखुत्त सह बाप न बोलसी पल                     |
|                             | १ दीपचन्द तलकसी साख ऊपर लखूस अपनापन बोलसूं पलीअे |

### शब्दार्थ

पंक्ति

- २ ग्रहीणक = गिरवे  
 ४ बाधुर = बहादुर  
 ४ उरंगजेहेब = औरंगजेब  
 १६ गुखा = गोखला ?  
 १६ पीटणी = पाटडो ?  
 १७ अग्रे = आगळ  
 १७ पेढी = थडो / दुकाननी आगळनी कठेडावाळी जग्या (ओटला) ज्यांथी ग्राहको प्रत्ये नजर रहे.  
 १९ पगथीईआ = मोटा पगथियां  
 २९ कणवार = ककळोट  
 ३७ वगति = विगत / प्रमाणे  
 ३७ जमलि = अेकीसाथे / भेगा / सरवाळ्णे  
 ३५ मुहर = स्त्रीधन ?

C/o. ८ जयमा सोसायटी,  
 मानसी सर्कल पासे,  
 अमदावाद-१५

# मरमी सन्त आनन्दघन अने तेमने परम्परा प्राप्त जैन चिन्तनधारा

नगीन जी. शाह

विक्रमनी १७मी सदीना उत्तरार्धमां विद्यमान कवि, मर्मी, अवधू आनन्दघनजीअे रचेलं प्रथम २२ जिननां स्तवनो प्रसिद्ध छे. श्री मो. द. देसाईअे खोळी पोते प्रसिद्ध करेलां २३मा अने २४मा जिननां स्तवनो आनन्दघनजीना होवानी अने अमुक कारणे गोप्य रखायां होवानी सम्भावना ते स्वीकारे छे. आ बधां स्तवनोनी पाठशुद्धिनी समस्या पण खास नथी. परंतु पदोनी बाबतमां आवुं नथी. आनन्दघनजीअे हिन्दीमां बहोतेर पदो रच्यां छे अने ते 'आनन्दघन बहोत्तरी' तरीके प्रसिद्ध छे. ७२ उपरांत बीजां तेमना नामे चडावायां छे अने तेमनां पदो तरीके १०७ पदो छपायां छे. तेमांथी तेमनां पदो कयां नथी तेनो निश्चय करी तेमने बाद करी तेमनां ज पदोने जुदा तारवीअे नहि अने ते बधां ज १०७ पदोने आधारे आनन्दघनजीनो आ विचार हतो अने आ भावना हती अेम कहीअे तो आनन्दघनजीने बहु अन्याय थाय. अने आवुं अत्यार सुधी थतुं आव्युं छे. पदोनी पाठशुद्धि पण अनेक स्थाने विचारणा मागे छे. लहियाओअे-खास करी गुजराती-हिन्दी न समजावाथी पोतानी भाषासमज प्रमाणे फेरफर करी नांख्या छे. तेथी, आनन्दघनजीना पदोनी समीक्षित शुद्ध आवृत्तिनी खास जरूर छे. आ कार्यमां श्री मो.द. देसाईनो लेख 'अध्यात्मी श्री आनन्दघन अने यशोविजय' अत्यन्त उपयोगी सिद्ध थशे. आ लेख वांच्यो त्यारे ज जाण्युं के आनन्दघनजीनुं मनातुं अत्यन्त प्रसिद्ध पद 'अब हम अमर भये न मरेंगे' तो आग्रावासी कवि दानतराय (जन्म सं. १७३३)नुं छे.

आनन्दघनजी मरमी सन्त छे, तत्त्वचिन्तक नथी. तेथी तेमनुं कथन अन्तर्दृष्टि, आन्तर प्रतिभा, अन्तःप्रज्ञा, intuition मांथी स्फुरेलुं छे, ते बुद्धिना पृथक्करण, विश्लेषणमांथी उपजेतुं नथी. ते आत्मानुभव उपर भार दे छे, बुद्धि-चिन्तन उपर नहि. ते तर्कविचार अने वादनी तरफेण करता नथी. 'तर्कविचारे रे वादपरम्परा रे, पार न पहुंचे कोय.' अेटले ते 'घट अन्तर' परखवा, 'अन्तर

ज्योति' जगववा, 'निर्विकल्प रस' पीवा, 'सहज सुभाव धिरता' धरवा, 'अजपा की अनहद धुनि' सुणवा, 'रम महारस' चाखवा, 'अगम पियाला' पीवा, 'नीज परचे सुख' पामवा अने 'चित्तसमाध' माटे मथवा आपणने प्रेरे छे.

आनन्दघनजीनी अन्तर्दृष्टि खुली गई छे. तेमने सकळ कोटे अजवाळं छे. ते स्वयं सहज सुज्योति सरूप छे. ते बिना ज्योति उजियारा छे. ते स्वयंप्रकाश छे. तेने बीजी ज्योतिनी आवश्यकता नथी. बुद्धिना प्रकाशनी तेने जरूर नथी. बुद्धिनो प्रकाश भेदक छे, भेद प्रगट करे छे, अने भेद भय, शोक अने मोहनो जनक छे. "द्वितीयाद् वै भयं भवति । तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।" जे भेदने देखे छे ते मृत्युनी परम्पराथी मुक्त थतो नथी. "मृत्योः मृत्युमाप्नोति य इह नानात्वमनुपश्यति ।" जे आत्मप्रकाश छे, अन्तःप्रज्ञा छे, अन्तर्ज्योति छे ते अभेदने प्रगट करे छे, अभेदने नीरखे छे. अभेद भय, शोक अने मोहनो नाशक छे. आ अभेदनो साक्षात्कार आनन्दघनजीना आ शब्दोमां व्यक्त थाय छे : "राम कहो रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री. पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री. भाजनभेद कहावत नाना, अेक मृत्तिका रूप री. तैंसैं खण्डकल्पना रोपित, आप अखण्ड स्वरूप री." अहीं पण उपनिषदना शब्दो याद आवे छे - "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम् ।" अभेदसाक्षात्कार शुद्ध प्रेमनो जनक छे. तेमांथी निरुपाधिक प्रेम जं प्रगटे छे. प्रीतसगाई रे... विकसति... द्रवति... व्यतिषजति... जे आतम अनुभव रसनो रसियो छे, ते प्रेम कटोरी पीयूष पीअे छे, तेने प्रेमनुं तीर अचूक लागे छे. आतम अनुभवथी प्रगट अभेदमांथी प्रसूत प्रेम ज्यां होय त्यां दुविधा होय नहि. 'प्रेम जहां दुविधा नहीं रे.'

आनन्दघनजी जातपांतभेद, सम्प्रदायभेद, स्त्रीपुरुषभेदनो प्रबळ विरोध करे छे. गच्छभेद अे तो उपलक्षण छे. तेनाथी सम्प्रदायभेद, पन्थभेद पण समजवाना छे. 'नहीं हम पुरुषा नहीं हम नारी' अेम कही आनन्दघनजी समजावे छे के आत्मा स्त्री-पुरुषभेदथी पर छे अने जेने आतम अनुभव छे ते पण आ भेदथी पर छे, ते आ भेदने स्वीकारतो नथी. अहीं नानपणमां सांभळेली वात याद आवे छे. मीराबाई वृन्दावन गया. त्यां प्रसिद्ध गोस्वामीने मळवानी ईच्छा थई, मळवानी रजा मागी. गोस्वामीअे कहेवडाव्युं के पोते कोई स्त्रीने

મઝતા નથી. મીરાબાઈએ વઙ્ગતું કહેવડાવ્યું કે હું તો સમજતી હતી કે સમગ્ર બ્રહ્માણ્ડમાં એક જ પુરુષ છે, બાકી બધી ગોપીઓ છે, આ બીજો પુરુષ કોણ છે એ મને સમજાવશો. મીરાબાઈના શબ્દોથી ગોસ્વામીનું પુરુષાભિમાન ગઢી ગયું અને મીરાને વન્દન કરવા સામે ગયા. સર્વ મરમી સન્તો ભેદોના, ઁંચનીચના પ્રખર વિરોધી રહ્યા છે.

આનન્દઘન નિજાનન્દી, બ્રહ્મવિહારી, આતમરસ પીનાર મરમી છે. એટલે તેમનું જીવન સહજ છે, મુક્ત છે, મસ્ત છે. તે રૂઢિબન્ધનોને ગાંઠતા નથી, તેમને તોડી મુક્ત બને છે. તેમને લોકલાજની પરવા નથી. ‘લોકલાજ સૂં નહિ કાજ.’ તે અનાદિ અનન્તમાં ખેલે છે, તે બેહદના મેદાનમાં રમે છે.

આનન્દઘનજી ચિન્તક ન હોવા છતાં જે જૈન ચિન્તનધારામાં તે થયા છે તે ચિન્તનધારાના ઁ્યાલોને, વિચારોને તે પ્રસ્તુત કરે છે. આ વિચારો તેમનાં જિનસ્તવનોમાં વિશેષે અભિવ્યક્તિ પામે એ પળ સ્વાભાવિક છે. મરમીના અભેદદર્શનનો, નિરુપાધિક સાત્ત્વિક પ્રેમનો, વૈચારિક અર્હિસાનો પોષક અનેકાન્તવાદ તેમને સૌથી વધુ આકર્ષે છે. સર્વ દૃષ્ટિઓ, દર્શનો, વિચારધારાઓનો સમન્વય અનેકાન્ત છે. તેથી, કોઈ પળ વિચારધારાનો અનાદર જૈનને માન્ય ન હોય - ચાર્વાક કે કાર્લ માર્ક્સની ધૌતિકવાદી વિચારધારાનો પળ નહિ. એટલે જ તો આનન્દઘનજી કહે છે-

“ષડ્દરિશન જિનઅંગ ધણી જે, ન્યાય ષડંગ જો સાધે રે ।  
નમિજિનવરના ચરણઉપાસક, ષડ્દરિશન આરાધે રે ॥૧॥

....

લોકાયતિક કૂખ જિનવરની.....” ॥૪॥

અર્હી ષડ્દર્શન એ તો ઉપલક્ષણ છે, તેથી ઉપલબ્ધ સઘઙ્ગાં દર્શનો સમજવાનાં છે. અનેકાન્તવાદનું કે આનન્દઘનજીના કથનનું રહસ્ય ઁંડું છે. તે આ છે : જૈનદર્શન સ્વયં એક દૃષ્ટિ નથી પળ બધી દૃષ્ટિઓનો સમન્વય છે. અને દૃષ્ટિઓ (નયો) અનન્ત છે, તેનો કદી અન્ત થવાનો નથી, કાલક્રમે દૃષ્ટિઓ વધતી અને વિસ્તરતી જ રહેવાની છે. આમાંથી એ ફલિત થાય છે કે જૈનદર્શન closed system નથી, બન્ધ થઈ ગયેલી સિસ્ટમ નથી, પૂર્ણ થઈ ગયેલી System નથી, પળ સદા વિકસતી જ રહેવાની છે, કદી પળ Closed

बनवानी नथी, सदा Open ज रहेवानी छे, कदी पूर्ण बनवानी नथी. आ महत्त्वनी वात छे. आ रहस्यनो स्वीकार तेने सदा चेतनवन्ती, जीवन्त राखशे, सदा वधु ने वधु समृद्ध थती राखशे, अन्यथा तेनी पूर्णतानो स्वीकार अे ज तेनो विनाश- अन्त बनी रहेशे. समन्वय विचारधाराओनो करवानो छे अने अेटले ज बधी भारतीय अने अभारतीय - विचारधाराओनो अभ्यास जरूरी छे. अन्यथा समन्वय शेनो करीशुं ? फ़ोर्ड, युंग, हेगल, कान्ट, शोपनहोर, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ, शंकराचार्य, बुद्ध, धर्मकीर्ति, वगैरेने वांचवा-समजवा पडशे. सीमामां बद्ध रहेवुं नहि पालवे, मनने मुक्त करवुं पडशे. आचारनी बाबतमां जैनाचार्योअे वारंवार भारपूर्वक कह्युं छे के आ करवुं ज अने आ न ज करवुं अेवी एकान्त आज्ञा भगवाननी नथी परंतु पुरुष, देश, काळ, वगैरेने लक्षमां लई विवेकबुद्धि जे नक्की करे ते करवुं. तेवी ज रीते, जैनाचार्योअे अनेकान्तवादने अनुसरी कहेवुं जोइअे के तत्त्व आवुं ज छे अने आवुं नथी ज अेम भगवाननुं कहेवुं नथी परंतु ते ते देश-काळे उपलब्ध बधी ज दृष्टिओने ध्यानमां लइ समन्वयकारी विवेकबुद्धि जे नक्की करे तेवुं तत्त्व ते ते देश काळे समजवुं / स्वीकारवुं.

प्रथम स्तवनमां सर्वदर्शनमान्य कर्मसिद्धान्तने आधारे सतीप्रथानुं खण्डन छे. ते ज स्तवनमां जगतनिर्माणने ईश्वरनी लीला माननारना मतनो प्रतिषेध छे. लीला, क्रीडा तो आनन्दप्राप्ति माटे होय, पूर्णानन्द लीला करे नहि. छल्लु स्तवनमां जैन कर्मसिद्धान्तनी सारभूत बाबतो जैन परिभाषामां निरूपी छे. बारमा स्तवनमां जैन मते आत्मस्वरूपवर्णन छे. वीसमा स्तवनमां आत्मा विशेना विविध दार्शनिक मतोनुं जैन दृष्टिअे निरसन छे. आठमा स्तवनमां सूक्ष्म निगोदथी संज्ञी पंचेन्द्रिय सुधीना जीववर्गोनी गणना छे. आ उपरांत, प्रसंगे प्रसंगे नयवाद, द्वयगुणपर्यायवाद, सप्तभंगी, निश्चय-व्यवहार आदिना उल्लेखो तेमनां स्तवनो अने पदोमां मळे छे. अहीं अे वस्तु ध्यानमां राखवी जोइअे के स्तवनो अने पदोमां जैन सिद्धान्तोना उल्लेख के निर्देशने अवकाश छे, अथी विशेषने अवकाश नथी.

अहीं आपणे बारमा स्तवननी नीचेनी पंक्तिओ उपर विस्तारथी विचार करीशुं.

“ ... .. ,  
 निराकार साकार सचेतन, ... .. ॥१॥  
 निराकार अभेद संग्राहक, भेदग्राहक साकारो रे,  
 दर्शन-ज्ञान दुभेद चेतना, वस्तुग्रहण व्यापारो रे ॥२॥”

जैनदर्शनमां ‘दर्शन’ शब्द बे अर्थमां प्रयोजायो छे - (१) श्रद्धा (२) अेक प्रकारनो बोध. नोंधपात्र वात अे छे के श्रद्धाना अर्थमां ‘दर्शन’ शब्दनो प्रयोग उपनिषदो, जैन परम्परा अने बौद्ध परम्परा सिवाय बीजे क्यांय थतो नथी. आपणे जे पंक्तिओनो विचार करीअे छीअे त्यां ‘दर्शन’ शब्द अेक प्रकारना बोधना अर्थमां प्रयोजायो छे. दर्शन पण अेक प्रकारनो बोध छे अने ज्ञान पण एक प्रकारनो बोध छे. आ बे बोध वच्चे शो तफावत छे ? दर्शन अने ज्ञान वच्चे शो भेद छे ? आ समस्या छे. आ अंगे जैन चिन्तकोमां मतभेद छे.

सचेतन निराकार-साकार उभयात्मक छे, चेतना उभयात्मक छे. चेतनाप्रकाश निराकार पण छे अने साकार पण छे. चेतनानो वस्तुग्रहणव्यापार निराकार अने साकार बे प्रकारे होय छे. चेतनाप्रकाशने के चेतनाना वस्तुग्रहणव्यापारने जैन परिभाषामां उपयोग पण कहेवामां आवे छे. अेटले जैन आगमोमां कह्युं छे के उपयोग बे प्रकारनो छे - निराकार उपयोग अने साकार उपयोग. सादी भाषामां कहीअे तो बोध बे प्रकारनो छे - निराकार अने साकार, अने निराकार बोध अेटले दर्शन अने साकार बोध अेटले ज्ञान. आ वस्तुने वधारे स्पष्ट करतां कहेवामां आव्युं के निराकार बोध अेटले सामान्यग्राही बोध (दर्शन) अने साकार बोध अेटले विशेषग्राही बोध (ज्ञान). “जं सामण्णगहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणम् ।” - सन्मतितर्कप्रकरण (२.११). अर्थात्, अभेदग्राही बोध अे दर्शन छे अने भेदग्राही बोध अे ज्ञान छे. आ मत स्वीकारतां, प्रथम दर्शन उत्पन्न थाय अने पछी ज ज्ञान उत्पन्न थाय, सामान्यनुं ग्रहण कर्यां विना विशेषनुं ग्रहण थाय नहि. “प्राग् अनाकारः पश्चात् साकार इति प्रवृत्तौ क्रमनियमः, यस्तु नाऽपरिमृष्टसामान्यो विशेषाय धावति ।” - तत्त्वार्थभाष्य उपर सिद्धसेनगणिटीका, २.९. आ मतनो स्वीकार आनन्दघनजीनी उपरनी पंक्तिओमां छे.

केटलाक जैन चिन्तको आ मत स्वीकारता नथी. ते माटेनो तेमनो

મુખ્ય તર્ક નીચે મુજબ છે. જૈનદર્શન અનુસાર વસ્તુ સામાન્યવિશેષાત્મક છે. વસ્તુગ્રાહી બોધને જ યથાર્થ અથવા પ્રમાણ કહેવાય. કેવલ સામાન્યગ્રાહી બોધને કે કેવલ વિશેષગ્રાહી બોધને વસ્તુગ્રાહી ગણાય નહિ અને તેથી યથાર્થ કે પ્રમાણ ગણાય નહિ. આમાંથી એ ફલિત થાય કે આ ચિન્તકો દર્શનને પળ સામાન્યવિશેષગ્રાહી ગણે છે અને જ્ઞાનને પળ સામાન્યવિશેષગ્રાહી ગણે છે. તો પછી તેઓ દર્શન અને જ્ઞાન વચ્ચેના ભેદનો ખુલાસો કેવી રીતે કરશે અને તેમની ક્રમોત્પત્તિને કેવી રીતે સમજાવશે ? આ ચિન્તકોનું સમાધાન આ પ્રમાણે છે - સામાન્યવિશેષાત્મક આત્મસ્વરૂપગ્રહણ દર્શન છે અને સામાન્યવિશેષાત્મક બાહ્ય વસ્તુનું ગ્રહણ જ્ઞાન છે. “સામાન્યવિશેષાત્મકબાહ્યાર્થગ્રહણં જ્ઞાનં તદાત્મકસ્વરૂપગ્રહણં દર્શનમિતિ ।” - ધવલા ટીકા પૃ.૧૪૭. કુન્દકુન્દાચાર્યે નિયમસાર ગાથા ૧૬૦માં “દિટ્ઠી અપ્પપયાસા ચેવ” લખીને દર્શન આત્મપ્રકાશક હોય એવો પક્ષ રજૂ કર્યો છે. પળ ક્રમોત્પત્તિને કેવી રીતે સમજાવશો ? આનો વિચાર કરીએ. ‘તદાત્મકસ્વરૂપગ્રહણ’ પદમાં આવેલા ‘સ્વરૂપ’ શબ્દનો અર્થ આત્મસ્વરૂપ યા આત્મા કર્યો છે તેને બદલે જ્ઞાનસ્વરૂપ યા જ્ઞાન કરવામાં આવે તો આ પ્રશ્નનો ખુલાસો થઈ શકે. વિષયનું ગ્રહણ એ જ્ઞાન, અને આ જ્ઞાનનું જ્ઞાન એ દર્શન. આમ, અહીં ક્રમ ઊલટો થઈ જાય - પહેલાં જ્ઞાન અને પછી દર્શન. પરંતુ જૈનોના મતમાં જ્ઞાનનું જ્ઞાન એ સ્વસંવેદન છે. એટલે ક્રમપક્ષને અવકાશ નથી પળ યુગપત્પક્ષ જ સ્વીકાર્ય બને.

આ બીજા મતમાં સામાન્યવિશેષગ્રાહી દર્શન અને સામાન્યવિશેષગ્રાહી જ્ઞાન વચ્ચેના ભેદને તેમ જ તેમની ક્રમોત્પત્તિને બીજી રીતે પળ સમજાવી શકાય છે પરંતુ કોઈ જૈન ચિન્તકે તેનો ઉપયોગ કર્યો નથી. પ્રથમ મતમાં માનનારા સામાન્યગ્રાહી બોધને માટે નિર્વિકલ્પ બોધ અને વિશેષગ્રાહી બોધને માટે સવિકલ્પ બોધ એવા પ્રયોગો કરે છે. અહીં આપણે નોંધવું જોઈએ કે વિકલ્પનો અર્થ વિચાર પળ છે અને આ અર્થ અનુસાર બીજા મતને સ્વીકારનારા જૈન ચિન્તકો કહી શકે કે સામાન્ય-વિશેષનું નિર્વિચાર ગ્રહણ દર્શન અને સામાન્ય-વિશેષનું સવિચાર ગ્રહણ જ્ઞાન. આમ દર્શન અને જ્ઞાન બંનેનો વિષય તો એકનો એક જ હોય છે પળ દર્શન વિચાર દ્વારા તે વિષયને ગ્રહણ કરતું નથી જ્યારે જ્ઞાન વિચાર દ્વારા તે વિષયને ગ્રહણ કરે છે. પ્રશસ્તપાદ, જયન્ત ભટ્ટ આદિ ન્યાય-વૈશેષિક ચિન્તકોએ સ્વીકાર્યું છે કે નિર્વિકલ્પ પ્રત્યક્ષ અને સવિકલ્પ પ્રત્યક્ષ બંનેનો



વિષય એકનો એક જ હોય છે, પરંતુ નિર્વિકલ્પ પ્રત્યક્ષ દ્રવ્ય, ગુણ, કર્મ, સામાન્ય વગેરે બધા પદાર્થોને અવિભક્તરૂપે ગ્રહણ કરે છે, જ્યારે સવિકલ્પક પ્રત્યક્ષ તે જ પદાર્થોને વિભક્તરૂપે ગ્રહણ કરે છે, અને પહેલાં નિર્વિકલ્પ પ્રત્યક્ષ યા બોધ થાય છે અને પછી સવિકલ્પ પ્રત્યક્ષ યા બોધ થાય છે. અહીં બીજી એક રસપ્રદ બાબત નોંધવી જોઈએ કે યોગીઓની બાબતમાં પહેલાં સવિકલ્પક ધ્યાનમાં (સવિચાર ધ્યાનમાં) સવિકલ્પક યા સવિચાર બોધ થાય છે અને પછી નિર્વિકલ્પક ધ્યાનમાં (નિર્વિચાર ધ્યાનમાં) નિર્વિકલ્પક યા નિર્વિચાર બોધ થાય છે. યોગીઓની બાબતમાં જ્ઞાન પહેલાં અને દર્શન પછી એવો ઝલટો ક્રમ હોય છે એમ કહેવામાં કોઈ બાધ નથી.

જ્ઞાન-દર્શનની સમસ્યાના ઉકેલ માટે જૈન ચિન્તકોએ અન્ય ભારતીય દર્શનોમાં જ્ઞાનરૂપ બોધ અને દર્શનરૂપ બોધનો ભેદ સ્વીકારાયો છે કે નહિ અને જો સ્વીકારાયો હોય તો તે ભેદનો આધાર શો છે, એનો વિચાર કર્યો નથી. પોતાની દાર્શનિક સમસ્યાઓના ઉકેલ માટે બીજા ભારતીય દર્શનોનો અભ્યાસ કરવાનું અને તેમાંથી સહાય મેળવવાનું જૈન ચિન્તકો અને સંશોધકોને માટે આવશ્યક છે. તુલનાત્મક દૃષ્ટિની જરૂર છે. આધુનિક ચિન્તકોમાં પण्डितश्री सुखलालजी आ बाबतोंમાં અનુકરણીય દૃષ્ટાન્ત પૂરું પાડે છે.

સાંખ્ય-યોગમાં તો જ્ઞાન-દર્શનનો ભેદ ઝડીને આંખે વઢ્યો એવો છે. ચિત્ત અને પુરુષ બે અલગ તત્ત્વો છે. ચિત્ત જ્ઞાતા છે અને પુરુષ દૃષ્ટ છે, ચિત્તને જ્ઞાન છે અને પુરુષને દર્શન છે. ચિત્ત જે તે વિષયના આકારે પરિણમી તે વિષયને જાણે છે. ચિત્તના વિષયાકાર પરિણામને ચિત્તવૃત્તિ કહેવામાં આવે છે અને આ ચિત્તવૃત્તિ જ જ્ઞાન છે. ઘટાકાર ચિત્તવૃત્તિ જ ઘટજ્ઞાન છે. ચિત્તવૃત્તિનું પ્રતિબિંબ પુરુષમાં પડે છે. ચિત્તવૃત્તિનું પ્રતિબિંબ ઝીલવું એ પુરુષ દ્વારા ચિત્તવૃત્તિનું દર્શન છે. ઘટાકાર ચિત્તવૃત્તિનું પ્રતિબિંબ પુરુષમાં પડવું એ જ ઘટાકાર ચિત્તવૃત્તિનું પુરુષ દ્વારા દર્શન છે. ચિત્તવૃત્તિ જેવી ઉત્પન્ન થાય છે તેવું જ તે ચિત્તવૃત્તિનું પ્રતિબિંબ પુરુષમાં પડે છે. ચિત્તવૃત્તિ એક ક્ષણ પળ પુરુષથી અદૃષ્ટ રહેતી નથી, સદા દૃષ્ટ જ રહે છે. “સદા જ્ઞાતાશ્ચિત્તવૃત્તયસ્તત્પ્રભોઃ પુરુષસ્ય.... ।” - યોગસૂત્ર ૪.૧૮. ચિત્તવૃત્તિ વિના ચિત્તવૃત્તિનું દર્શન સંભવતું નથી, જ્ઞાન ઉત્પન્ન થયા વિના દર્શન ઉત્પન્ન થતું નથી, આ અર્થમાં તાર્કિક ક્રમ જ્ઞાન અને દર્શન વચ્ચે છે

परंतु कालक्रम बंने वच्चे नथी. ज्ञान अने दर्शननी उत्पत्ति युगपत् छे. घटज्ञान अने घटदर्शननी उत्पत्ति युगपत् छे. जो बधी पारिभाषिकताने बाजुअे राखीअे तो सांख्य-योग मतमांथी अेवो निष्कर्ष नीकळे छे के घटनुं ज्ञान अे ज्ञान अने घटज्ञाननुं ज्ञान अे दर्शन. आम सांख्य-योगमांथी नीकळतो आ निष्कर्ष जैन चिन्तकोना अेक वर्गना अे मतनी अत्यन्त निकट छे के बाह्यार्थनुं ज्ञान अे ज्ञान अने स्वरूपनुं (आत्मस्वरूपनुं) ज्ञान अे दर्शन. जो स्वरूपनो अर्थ (ज्ञानस्वरूप के ज्ञान) करवामां आवे तो सांख्य-योगमांथी नीकळता आ निष्कर्ष साथे अे मतनो अभेद ज थई जाय.

सांख्य-योग मत अने जैन मतमां भेद अेटलो ज छे के सांख्य-योगे दर्शन अने ज्ञान गुणने अेटला तो भिन्न मान्या के ते अेक ज तत्त्वना आ बे गुणो छे अेम मानी शक्युं नहि, ज्यारे जैनोअे तेमने भिन्न गुणो तो मान्या पण अेटला भिन्न नहि के जेथी तेमने अेक ज तत्त्वना गुण मानी न शकाय.

बौद्धधर्मदर्शनमां पण दर्शनरूप बोध अने ज्ञानरूप बोध अे भेद स्वीकरायो छे. पिटक्रेमां समाधिनां फळरूपे ज्ञान-दर्शन जणावायां छे. घोषकप्रणीत अभिधर्मांमृत ५.१०मां कह्युं छे : “समार्धि भावयतो ज्ञान-दर्शनलाभः ।” अर्थात् आ यौगिक कोटिनां ज्ञान-दर्शन छे. ‘जाणता अने देखता’ अे बुद्धनुं लाक्षणिक वर्णन छे. चार आर्यसत्योने बुद्धे जाणीने पछी देख्यां छे. “अरियसच्चानि अवेच्च पस्सति ।” - सुत्तनिपात, २२९. अभिधर्मकोशभाष्य ८.२७ मां कह्युं छे के “ज्ञानदर्शनाय समाधिभावना”. यशोमित्रनी स्फुटार्था व्याख्या तेनी समजूती आपतां कहे छे - “ज्ञानदर्शनाय इति । ज्ञानाय दर्शनाय चेति समासः । तत्र ज्ञानं मनोविज्ञानसंप्रयुक्ता प्रज्ञा । ... विकल्पात् । दर्शनं चक्षुर्विज्ञानसंप्रयुक्ता प्रज्ञा अविकल्पिका । अहीं सन्दर्भ दिव्यचक्षुनो होइ, चक्षुथी दिव्यचक्षु अभिप्रेत छे. निष्कर्ष अे के समाधिना फळरूपे क्रमथी जे सविकल्पिका प्रज्ञा अने निर्विकल्पिका प्रज्ञा जन्मे छे ते ज यौगिक ज्ञान अने दर्शन छे. अहीं ज्ञाननी उत्पत्ति प्रथम अने दर्शननी उत्पत्ति पछी अे क्रम छे, जे ‘अवेच्च पस्सति’ अे शब्दोथी सूचित थाय छे. आम सविचार-ध्यानजन्य सविचार बोध (प्रज्ञा) अे ज्ञान अने निर्विचार-ध्यानजन्य निर्विचार बोध (प्रज्ञा) अे दर्शन अेवुं स्पष्ट समजाय छे. यौगिक कोटिनां ज्ञान-दर्शन उपरान्त व्युत्थानदशामां पण

ज्ञान-दर्शन होय छे. अभिधर्मकोशभाष्य १.४३मां कह्युं छे के चक्षु अर्थात् इन्द्रियो देखे छे अने मन जाणे छे, स्थविरो अनुसार मननुं (मनोविज्ञाननुं) कार्य सन्तीरण (investigating, ईहा, ऊह) अने वोट्टपन (determining निश्चयप्रक्रिया) छे. पांच इन्द्रियविज्ञानो सन्तीरण अने वोट्टपनथी रहित छे. भदन्त घोषक अभिधर्माभूतमां कहे छे के पांच इन्द्रियविज्ञानो विवेक करवा समर्थ नथी ज्यारे मनोविज्ञान विवेक करवा समर्थ छे. “पंच विज्ञानानि न शक्नुवन्ति विवेक्तुम्, मनोविज्ञानं शक्नोति विवेक्तुम्।” ५.१०. आ उपरथी अे तारण नीकळे छे के व्युत्थानदशामां दर्शननो अर्थ छे निर्विकल्पक इन्द्रियप्रत्यक्ष अने ज्ञाननो अर्थ छे सविकल्पक इन्द्रियप्रत्यक्ष अने अन्य सविकल्पक ज्ञानो. अहीं दर्शननी उत्पत्ति पहेलां अने ज्ञाननी उत्पत्ति पछी अे क्रम छे. अहीं निर्विकल्पकनो अर्थ सामान्यग्राही करवो शक्य ज नथी, कारण के बौद्धोने मते सामान्य जेवी कोई वस्तु ज नथी, सामान्य अवस्तु छे, कल्पना छे. अेटले निर्विकल्पक अेटले निर्विचार अने सविकल्पक अेटले सविचार अे ज अर्थ छे. अने आ ज अर्थ ध्यानदशानी बे प्रकारनी प्रज्ञाओ अने व्युत्थानदशाना बे प्रकारना बोध अे बंने कोटिओमां अेकसरखो ज रहे छे.

बौद्ध परम्परामां पण जैन परम्परानी जेम अेक ज तत्त्वने (= चित्तने = आत्माने) ज्ञान पण छे अने दर्शन पण छे; वळी ज्ञानने पोताने ज थतुं पोतानुं संवेदन (स्वसंवेदन) छे. सर्व ज्ञानो स्वसंविदित ज छे. परंतु बौद्ध परम्परामां बाह्यार्थनुं ग्रहण ज्ञान अने स्वसंवेदन दर्शन अे रीतनो ज्ञान-दर्शननो भेद करवामां आव्यो नथी.

आम अन्य दर्शनोमांथी आपणने पर्याप्त सामग्री मळे छे, जे आपणने जैन परम्परामां ज्ञान-दर्शनना भेद अंगे जे मतभेद छे, तेनो उकेल शोधवामां सहाय करी शके.

C/o. २३, वाल्केश्वर सोसायटी,  
भुदरपुरा, आंबावाडी,  
अमदावाद-१५

## મૌખિક અને લિખિત પરમ્પરાઓ સબ્દર્થે બોલે બાંધનારની કથાઓ

હસુ યાજ્ઞિક

જૈન કથા-સાહિત્યનાં મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યક્ષેત્રે મહત્ત્વનાં બે યોગદાન છે. પહેલું તો એ કે આને કારણે એક બોલાતી ભાષાનું લિખિત સાહિત્યકૃતિના માધ્યમ તરીકેનું સ્વરૂપ ઘડાયું, સ્વીકારાયું અને સુપ્રતિષ્ઠિત અને સ્થિર થયું. બીજું આવું જ મહત્ત્વનું યોગદાન એ કે આના કારણે જ સંસ્કૃત, પ્રાકૃત, અપભ્રંશાદિ ભાષાઓમાં જે મહત્ત્વની રસપ્રદ કથાઓ હતી તે મધ્યકાલીન ગુજરાતી ભાષામાં આવી તે સાથે જ આ પ્રવાહમાં સમકાલીન એવી મુખપરમ્પરાની કથાઓનું પણ લિખિત રૂપ બંધાયું. અહીં વિશેષ નોંધપાત્ર અને કથાસાહિત્યના અભ્યાસીએ ખાસ ધ્યાનમાં રાખવા જેવી વાત એ છે કે, જ્યારે કોઈ પણ મુખ-પરમ્પરાની કથાનું લિખિત રૂપમાં દસ્તાવેજીકરણ થાય છે ત્યારે એનું લોકવિદ્યા-Folklore માંથી પ્રશિષ્ટમાં સ્થાનાન્તર-રૂપાન્તર થાય છે, એનું ચંચળ અને ફરતું-તરતું Floating એવું રૂપ નિશ્ચિત શબ્દો ધરાવતા પાઠ Text વાળું બને છે, પાત્ર-સ્થલ-ઘટના સુનિશ્ચિત અને સ્થિર બને છે. આમ છતાં, આવી કથાઓ, મૌખિક પરમ્પરામાં તો સાતત્યથી, કેટલાંક રૂપાન્તરો-પરિવર્તનો સાથે પણ પોતાનું અસ્તિત્વ ટકાવી રાખે છે. આધુનિક કાળે દસ્તાવેજી રૂપ પામેલી કોઈ પણ લોકકથાનાં કથાનકને, એનાં કોઈ રૂપાન્તરને કોઈ સંસ્કૃત, પ્રાકૃત, પાલિ ભાષાના કથાગ્રન્થમાં જોડે છે છીએ, ત્યારે તારવીએ છીએ કે અમુક આજની કળપરમ્પરાની લોકકથાનાં કુલ્લમૂળ સંસ્કૃત કે પ્રાકૃતમાં છે ! આવું કહીએ, માની-મનાવીએ ત્યારે પણ ખાસ લક્ષમાં રાખવા જેવી બાબત એ છે કે આવો સંસ્કૃત-પ્રાકૃત-પાલિ કથાગ્રન્થ કંઈ એ કથાનો મૂળ સ્ત્રોત Origin નથી, કેમકે, એ ગ્રન્થમાં પણ આવી કથા, અન્તે તો તે સમયની કળપરમ્પરામાંથી જ લેવામાં આવી હોય છે. દૃષ્ટાન્ત આપીને સ્પષ્ટ કરીએ તો આધુનિક કાળની કળપરમ્પરામાંથી લિખિત દસ્તાવેજી રૂપ પામેલી ઓઢા જામ અને હોથલ પદમણીની કથામાં મૂળ આપણે 'ઋગ્વેદ' દશમ મળ્ડલમાં સંવાદસૂક્તરૂપે જલ્લાયેલી પુરુરવા-ઉર્વશીની પ્રેમકથામાં જોડે છે છીએ, તે પણ કંઈ આ કથાનો

आदिस्रोत नथी. वेदमां पण ते कथा तो ते समयनी कण्ठपरम्परामांथी आवी छे. अने वेदनी रचनाकाळे पण कण्ठप्रवाहमां जे कथा हती ते पण भारत-युरोपीय कुळनी अप्सरा अने मानव वच्चेनां प्रेम अने शरती लग्ननी कोइ मूळ कथानां रूपान्तरे अस्तित्व धरावती प्राचीनतम कथा हती. अेनुं मूळ कथा-माळखुं आर्ने अने स्टीथ थोम्सनना Story-type Index मां छे. आ कथानां विविध रूपान्तरो अने संक्रमणनी सवीगत चर्चा टोनी-पेन्डरकृत कथासरित्सागरना अंग्रेजी भाषान्तरमां छे. तात्पर्य अेटलुं ज के (१) जे कथानां मूळ प्रमाणे संस्कृत-प्राकृतादि भाषाओना कोइ ग्रन्थमां होवानुं जणावीअे छीअे ते पण कंइ सम्बन्धित कथानुं उद्भव-मूळ, आदि स्रोत, origin नथी, केमके ग्रन्थमां पण ते कथा तत्कालीन कण्ठप्रवाहमांथी जे लेवामां आवी होय छे अने (२) आवी रीते पण कण्ठप्रवाहनी कोइ कथा लिखित दस्तावेजी रूप पामी 'नियतशाब्दी' अेटले के जेनो पाठ - Text - निश्चित छे अेवी बने छे, Lore रूपे जे तरतुं Floating अने परिवर्तनशील अे चंचळ छे,अनुनेय Flexible छे ते निश्चित - Fixed अने स्थिर - static बने छे, अे पछी पण आवी कथा अने अेना विविध रूपान्तरो कण्ठ द्वारा कहेवाती लोककथा तरीकेनुं पोतानुं अस्तित्व टकावी राखे छे तथा प्रदेश अने भाषाभेदे तेनां विविध रूपान्तरो जोवा मळे छे. प्रेमकथा अने चातुर्यकथा अेवा बे मुख्य प्रकारोमां प्राचीनतम मूळनी कथाओ छेक वीसमी सदीना अन्त सुधीनी कण्ठ परम्परामां अस्तित्व धरावती जोवा मळे छे. अहीं, चातुर्यकथानो जे अेक विशेष प्रकार 'बोले बांधनार'नां कथानको विशे चर्चा करवानो उपक्रम छे.

'बोले बांधवुं' अेटले बोलनारना शब्दने पकडी लई, अनुकूळ होय अेवा भळता अर्थने अनुसरवुं. आम थतां बोलनार आपत्तिमां मुकाय ने सामी व्यक्तिनी गुनो कर्यानी फरियाद सामे निर्दोष पुरवार थाय अने छूटी जाय, सजा न पामे. आवा बोले बांधनारमां पण मुख्य बे प्रकार छे : अेमां पहेलो प्रकार अेवो छे के बोलने वळ्गनारनो पोतानो हेतु कंई सामी व्यक्तिने छेतरीने अंगत स्वार्थ सिद्ध करवानो होतो नथी. क्यारेक नियति के परिस्थितिवश अथवा तो बाघाईने कारणे बोलनारनुं अहित थतुं होय छे - पालिनी 'ग्रामीण चण्ड' अने अेनां रूपान्तरोमां अे जोवा मळे छे. बीजो प्रकार अेवो छे जेमां बोलथी बांधी

લઈને સામી વ્યક્તિને ટાકામાં ઉતારનારનો હેતુ કાં તો કેવલ ટીકલ કરવાનો, મશ્કરીમજાક કરવાનો હોય છે અથવા તો કોઈને ચલાકીથી ધૂતી લઈ અંગત સ્વાર્થ સિદ્ધ કરવાનો હોય છે - કળપ્રવાહની પ્રો. ડો. શાન્તિભાઈ આચાર્યે આપેલી 'ટળક'ની કથા તથા પ્રાકૃતમાં મલ્તી વચનસાર અને ચિપિટનાસની કથામાં એ જોવા મલે છે.

ઉક કથાઓના સન્દર્ભ અને સાર આ પ્રમાણે છે :

પાલિ ભાષાના 'જાતકકથા'ના ત્રીજા ટ્વળડના સંકલ્પ વર્ગમાં ૨૫૭મી 'ગામણીચળડ'ની કથા છે. ભગવાન બુદ્ધના વારાણસીના રાજા આદાસમુઘ તરીકેના પૂર્વભવ સાથે આ કથા સાંકલ્લામાં આવી છે. રાજના કારભારથી નિવૃત્ત થયેલા ગામણીચળડ એટલે કે મુઘીએ પોતાના ગામમાં જાતે ટ્વેતીકામ સંભાલ્યું. મિત્ર પાસેથી એ બલ્લદ લઈ આવ્યો. કામ પૂરું થતાં ઉધાર માગેલા બલ્લદને સોંપવા ગયો, ત્યારે મિત્ર જમતો હોવાથી બલ્લદને ટ્વીલે બાંધી જતો રહ્યો. રાતે બલ્લદની ચોરી થતાં મિત્ર ગામણીચળડના ગલે પલ્લ્યો : 'મારો બલ્લદ મને પાછો આપ. તું મને સોંપી ગયો નથી.' ગામણીચળડે ગેરવાજબી માગણી ન સ્વીકારી એથી મિત્રે તે સમયના રિવાજ પ્રમાણે ગામણીચળડના હાથમાં ઠીકરું પકડાવ્યું અને ન્યાય માટે રાજદ્વારે લઈ ગયો.

વારાણસી જતાં માર્ગમાં તે એક ગામમાં આવ્યો અને ત્યાં રહેતા મિત્રને મલ્લા ગયો. મિત્રની પત્નીએ જમીને જવાનો આગ્રહ કર્યો અને અનાજ કાઢવા કોઠીએ ચલ્લતાં નીચે પડી ને ગર્ભપાત થયો. ઘરે આવેલા મિત્રે આની જાણ થતાં ગર્ભપાતની નુકશાની માગી અને તે પળ ફરિયાદી તરીકે જોડાયો. વલ્લે પાણીનો ધોધ આવતાં બે ટ્વોટી ફરિયાદથી ત્રાસેલો ગામણીચળડ આપઘાત કરવા પહાડી રસ્તા પરથી ધોધમાં પલ્લ્યો પરંતુ ધોધના બલ્લે કાંટે કપડાં ધોતા વૃદ્ધ વળકર પર પલ્લ્યો અને વળકર મરી જતાં એનો પુત્ર પળ ત્રીજા ફરિયાદી તરીકે જોડાયો.

રસ્તામાં પોતાના ભાગતા ઘોડાની પાછલ્લ ઢોડી એને પકડવા મથતો સવાર મલ્લ્યો. એણે ભાગતા ઘોડાને ધોકો મારી અટકાવવા કહ્યું. એમ કરવા જતાં ઘોડો લંગડો થયો ને ચોથા ફરિયાદી તરીકે ઘોડાવાલ્લો જોડાયો.

વારાણસી જતાં રસ્તામાં પાળ્લુરોગી શેઠ, જેની ધીલ્લતી કમાણી બંધ

पडी छे एवी वेश्या, पियरमां के सासरामां क्यांय गमतुं नथी अेवी नववधू, दुबळो होय त्यारे भोणमांथी नीकळतां मुशकेली पडे अने जमीने पुष्ट थयो होय तो पण सहेलाइथी प्रवेशी शके अेवो नाग, मात्र एक ज वृक्ष नीचेनुं खड चरवानुं भावतुं हतुं अेवुं हरण, लोकोअे जेनुं पूजन करवानुं छोडी दीधुं अेवा वनदेवता, स्मृतिभ्रंशनो रोग अचानक थइ आवेलो अेवो छात्र वगेरै मळ्या अने अे सहुअे 'आदासमुख जेवा बुद्धिशाळी अने न्यायी राजाने मळवा जाव छे त्यारे अमारां पण दुःखनां कारण-वारण जाणता आवजो' अेम गामणीचण्डने जणाव्युं.

अन्ते गामणीचण्ड वाराणसी पहोंच्यो. बालवयनो परंतु चतुर अने बुद्धिशाळी राजा आदासमुख पोताना जूना मुखीने ओळखी गयो. फरियाद सांभळी न्याय तोळवा जणाव्युं : १. मुखीअे हाथोहाथ उधार मागेला बळदने सोंप्यो अेथी अेना हाथ कापी लेवा, परंतु मालिके बळद अेनां स्थाने बंधातो जोई शकातो होवा छतां अेनी आंखे न जोयो अेथी आंखो फोडी नाखवी. २. गर्भपातनो भोग बनेली पोतानी पत्नीने फरियादीअे गामणीचण्डने सोंपी देवी अने तेने गर्भवती बनावीने मूळ मालिकने सोंपवी. ३. फरियादीअे बाप गुमाव्यो छे तेथी गामणीचण्डे वृद्ध मृतकनी पत्नी साथे लग्न करवा जेथी युवान वणकरने मागणी प्रमाणे बाप मळे. ४. घोडावाळ्यने लंगडाने बदले साजो घोडो राज अपावशे परंतु गमे तेम करीने घोडाने रोकवानुं कहेनार फरियादीनी जीभ कापी लेवी - चारे फरियादीओअे पोतानी फरियाद पाछी खेंची लीधी अने दण्डनी रकम गामणीचण्डने आपवामां आवी.

मुखी, गणिका, ग्रामवधू, नाग, हरण, वनदेवता, छात्र वगेरेनां दुःखदर्दनां कारण-वारण आपतां राजाअे जणाव्युं : १. धर्मानुसार न्याय करवानुं छोडतां मुखी पाण्डुरोगी बन्यो छे. २. जेनुं धन ले अेनी सेवा करवानुं मूकीने मनगमतां होय अेमने ज सुखसेवा आपवाने कारणे गणिका पासे ग्राहको जता नथी. ३. सासरा अने पियरनां गामनी वच्चे नववधूनो पूर्वप्रेमी वसे छे अेथी क्यांय गोठतुं नथी. ४. भोणमां धन छे तेने साचववानी पळोअण-चीवटने कारणे नीकळतां क्षीणकाय अवस्थामां मुशकेली पडे छे. ५. जे वृक्षनुं घास चरवुं गमे छे तेना पर मधपूडो छे. ६. वनदेवता रक्षक मटी जतां पूजाता बंध थया. ७.

સમયબાન વગરનો કૂકડો બાજુમાં હોવાથી ગમે ત્યારે બોલે છે ને છાત્ર જાગી જતાં ઝંઘ પૂરી થતી નથી, તેથી સ્મૃતિભ્રંશનો ભોગ બન્યો છે.

જાતકની આ કથામાં ૧. પનોતીકથા અને ૨. વિધાતાની શોધમાં (જેમાં શીતલાકથા, શામલકૃત 'રૂપાવતી'ની વિક્રમકથા) એમ બે કથાનકોનું સંયોજન થયું છે. અને જેનું ચિત્ત સ્વચ્છ અરીસા જેવું હોય એના ચિત્તમાં સાચું શું ને યોગ્યું શું, એનું પ્રતિબિંબ સાહજિક રૂપે જ ઉપસે છે, એવા રાજાના ન્યાયપૂર્ણ ચાતુર્યને આ કથામાં આલેખવાનો હેતુ છે. આથી, બાલ્યકાળમાં પળ એનામાં કેવા-કેટલાં ન્યાયબુદ્ધિ-ચાતુર્ય હતાં, તે દર્શાવતી કથાઓ પળ, પ્રસ્તુત કથાના આરંભમાં છે. પ્રચલિત લોકકથાઓનો ઔચિત્ય અને સૂઝભર્યો સંમિશ્રિત વિનિયોગ અહીં જોવા મળે છે.

આ જ કથા પ્રાકૃત ભાષાના 'ઉપદેશપદ'માં વૈનયિકી બુદ્ધિનાં ગોળા નામના દ્વારમાં નિર્ભાગીની કથામાં મળે છે. (પૂર્ણ વીગત-સન્દર્ભ માટે જુઓ : આનન્દ-હેમ-ગ્રન્થમાલા પુષ્પ : ૧૮, પ્રા. ઉપદેશપદ મહાગ્રન્થનો ગૂર્જર અનુવાદ, અનુવાદક-સમ્પાદક આ. શ્રીહેમસાગરસૂરિ, ઈ. ૧૯૭૨, પૃ. ૧૨૨, ૧૨૩) એમાં મળતી કથા પ્રમાણે નિર્ભાગીએ મિત્ર પાસેથી બલ્લદ માગી લેતી કરી બલ્લદ પાછો લાવી લેતી બાંધી ગયો. બલ્લદ ચોરાયો. મિત્ર ફરિયાદી બની નિર્ભાગીને રાજદ્વારે ઢસડી ગયો. રસ્તામાં ઘોડાવાળી ઘટના બની, આપઘાત કરવા જતાં નટોનો મુખી મર્યો. મન્ત્રીએ ન્યાય તોલતાં આગળની કથામાં છે તેમ ફરિયાદીના નેત્ર ફોડવા અને ઘોડાવાળીની જીભ કાપવા જણાવ્યું. અને નટના મુખીના મોતને બદલે કોઈ નટે પળ આપઘાત કરવા ગળે દોરી નાખી નિર્ભાગી પર પડવું, એવો ચુકાદો આપ્યો.

આ જ કથા ગુજરાત પ્રદેશના ભાલકાંઠાના પ્રદેશમાં લોકકથારૂપે કળ્પપ્રવાહમાં વીસમી સદીના અન્તભાગમાં પળ જોવા મળે છે જેનું લિખિતરૂપ શ્રીજોરાવરસિંહ જાદવે 'સાડા ત્રણ દિ'ની પનોતી'ની કથામાં આપ્યું છે. (વીગત માટે જુઓ : જોરાવરસિંહ જાદવની શ્રેષ્ઠ લોકકથાઓ, સં. ડૉ. હસુ યાજ્ઞિક, ગૂર્જર ગ્રન્થ કાર્યાલય, અમદાવાદ, ઈ. ૨૦૦૪, પૃ. ૬ (પ્રસ્તાવના) તથા પૃ. ૮૮ થી ૯૫) એમાં આલેખાયેલી વીગત પ્રમાણે એક જુગારીને જોશીએ ભારે પનોતીની અસરવાળા સાડા ત્રણ દિવસ બહાર ન નીકળવા અને કોઈ પ્રવૃત્તિ



न करवा कह्युं. परंतु जुगारनो शोखीन पठाण साथे जुगार रम्यो ने कशुं ज न रहेता उधारमां दाव लगाव्यो अने हारे तो पोताना शरीरनुं सवाशेर मांस आपवानी शरत कबूल करी. जुगारी हाय्यो ने सवाशेर मांस आपवा तैयार न थतां पठाण धंधूकानी दरबारी कोर्टमां लई गयो. रस्तामां तरस लागतां पीवानुं पाणी मागी खाटलामां बेठो ने अेना भारथी खाटलामां ढबूरेलुं सवा महीनानुं छेकरु मरी गयुं. आथी छेकरानी मा पण फरियादमां जोडाइ. आगळ जता घोडावाळी अने पडतुं मूकवा जता वृद्धना आकस्मिक मोतनी घटना घटी. अने ते बे पण फरियादमां जोडाया. अन्ते साडा त्रण दिवसे, धोळकानी कोर्टमां पहोंच्या त्यारे, पनोती उतरी जतां जुगारीना पासा सवळा पड्या ने प्रधाने न्याय आप्यो : १. जुगारी सवाशेर मांस आपे ने पठाण तलवारथी कापी ले परंतु अे रीते शरीरमांथी काढेलुं-कापेलुं मांस तलभार पण वधवुं-घटवुं न जोइअे. २. मृत बाळकनी माताने कहेवायुं के अेणे छेकरुं पाछुं मेळववा जुगारी साथे रहेवुं अने गर्भाधान करावी गुमावेलुं सन्तान पाछुं मेळववुं. ३. घोडावाळअे जीभथी घोडुं रोकवा कहेलुं अेथी फरियाद करनारनी गुनेगार अेवी जीभ कापवी अने घोडाने अपंग बनवानो गुनो करनार जुगारीनो हाथ कापवो. ४. मृत वृद्ध पुरुष (बाबासाहेब) पाछा मेळववा माटे दावेदार बधाअे वाराफरती सातमे माळथी जुगारीनी जेम कूदी पडवुं, अेम करतां जे बचे ते बाबासाहेब : चारे ये फरियाद पाछी खेंची लीधी अने दण्ड भरी दीधो.

अहीं जोई शकाशे के 'जातककथा' तथा 'उपदेशपद'मां जे कथा छे ते ज वीसमी सदीनी भालकांठानी कण्ठपरम्परामां छे. पालि भाषानी जातककथामां मूळभूत तो पनोतीनी ज लोककथा लिखितरूपमां विशेषरूप पामी छे. नसीब वांका होय छे त्यारे तो भोंमांथी पण भाला नीकळे छे, अेनुं ज आ दृष्टान्त छे. अेटले ज कदाच 'उपदेश-पद'ना विवृत्तिकारे आ दृष्टान्तकथाना पात्रने 'निर्भागी' ज कह्यो छे- अभागियानी ज आ कथा छे. करवा जाय छे अे कोइ कहे अेने अनुसरीने सवळुं, पण भाग्यवश पडे बधुं ज अवळुं ! आवुं थतां निर्दोषने दोषित ठरवुं पडे छे, परंतु, कथानो उत्तरार्ध अेने न्याय अपावे छे, खोटी फरियाद करनारने पाठ भणावे छे. आथी, पनोतीने कारणे के बदनसीबने कारणे जेने अकारण गुनेगार बनवुं पडे छे तेने राजा के मन्त्री, चातुर्यथी न्याय

अपावे छे. आ कारणे ज तत्त्वतः बे भिन्न अने स्वतन्त्र अेवां कथानको संकळातां कथानुं अेक अेवुं रूप बंधाय छे, जे अेनी पूर्णकथा तरीकेनी अतूट अेवी परम्परा ऊभी करे छे. अहीं विशेष नोंधपात्र अे छे के पालि अने प्राकृतमां पण जेनुं अस्तित्व छे अेवी प्राचीनमूळनी कथा गुजरातना गोहिलवाडनी कण्ठपरम्परामां मळे छे. बोले बांधनारनी जे वचनसार-चिपिटनासनी कथा छे तेनो पण प्रादेशिक स्रोत धंधुका ज छे. उत्तरार्धमां ते कथाओ जोईअे. अेमां मुख्य पात्र छे ते पनोतीग्रस्त के अभागिया जेवुं सालस-निर्दोष नथी परंतु कां तो 'टणक' अथवा 'धूर्त' छे. अे अंगत हेतुथी, स्वार्थथी, सामी व्यक्तिने बोलथी बांधीने विवश बनावे छे.

केवळ टीखळ-मजाक माटे ज बोलनारना शब्दोनो पोताने अनुकूळ अेवो अर्थ करवानी शब्ददळनी युक्ति लंका-काण्डनी प्राकृतभाषामां मळती कथामां मळे छे. नेमिचन्द्र गणिअे ई. १०७३ थी १०८३ना गाळामां प्राकृतग्रन्थ 'आख्यानक-मणि-कोश'नी रचना करी तेना पर ई. ११३४ मां आम्रदेवसूरिअे धोळकामां वृत्ती रची तेमां आ कथा मळे छे. (विशेष वीगत-सन्दर्भ माटे जुओ 'आख्यानक-मणि-कोश' आख्यानक १०६, पृ. २८५-२८६ अथवा 'लोककथानां मूळ अने कुळ' डॉ. हरिवल्लभ चू. भायाणी, पार्श्व प्रकाशन, अमदावाद : १९९० पृ. १६५ थी १६७) अेनो कथासार आ प्रमाणे छे :

पत्नी साथे अणबनाव थतां अेक युवान परदेश जवा नीकळ्यो. रस्तामां महियारीओ मळी अेणे वाट खुटाडवा, रसना रेला चाले अेवी वात करवा कहुं. आथी हारबंध, माथे दहीं भरेली मटुकीओ लइने चालती महियारीओ आडे पोतानो पग नाख्यो. तेरेय महियारीओ गोथु खाई गई अने माथे मूकेली मटुकीओनां दहींना रेला चाल्या. परिणामे लांबो झघडो थयो, प्रवास पूरो थतां गाममां पहोंच्यां त्यारे युवाने कहुं : 'जुओ, झघडो करीने अने रसना रेला चाले अेवी वात करीने में तमारा कहेवा प्रमाणे वाट खुटाडी.' आम कही ते छटकी गयो अने वेश्यावासमां रोकायो.

राते अेक घरडी वेश्याअे रामायणनी लंकाकाण्डनी वात कहेवा जणाव्युं. युवाने पूछ्युं : 'लंकाकाण्डनी वात कहुं के ते प्रत्यक्ष बतावुं ?' डोशी बोली : 'प्रत्यक्ष बताव.' आथी युवाने, 'जो हुं तने हनुमाने मुक्को मारीने

રાવણના મુગટનાં મોતી કેવી રીતે खेरવેલાં તે બતાવું' એમ કહીને બૂઢીના મોઢે મુક્રો મારી એના ઢાંત પાડી નાઢ્યા અને 'લંકાકાળ્ડ પ્રત્યક્ષ બતાવું' કહી ઢીવાની ઝાઢે ઢોશીનું ઘર સઢ્યાવ્યું.

મહિયારણો અને ઢોશીએ રાજાને યુવાન વિરુઢ્ઢ ફરિયાદ કરતાં યુવાને બચાવ કર્યો : 'મેં તો ંમણે જેમ કહેલું તેમ કર્યું.' આ કથાના સન્ઢર્ભમાં ઢો. ઢાયાણીએ નોંઢ્યું છે : 'આ વાર્તા કોઢ તત્કાલીન લોકપ્રચલિત કથામાંથી આમ્રઢેવસૂરિએ લીઢી હોવાનું જણાય છે.' (પૃ. ૧૬૬) ઢો. ઢાયાણીની આ સમ્ઢાવના, આ જ પ્રાઢેશિક ક્ષેત્રમાંથી ઢો. શાન્તિઢાઈ આચાર્યે 'ટળક'ની જે વાર્તાઓ ઢ્વનિમુઢ્રિત કરી તેથી પુષ્ટ થાય છે. આમ્રઢેવસૂરિ કથાના આલેઢનમાં પળ કેટલીક ચૂક કરે છે અને વાર્તામાં રહેલી કથાયુક્તિની ચોટ બરાબર ડપસતી નથી. તે ઢર્શાવીને પળ ઢો. ઢાયાણી 'કથામાં ઢૂટતી કે નબઢી કઢી કથાકારની પરાશ્રિતતા વ્યક્ત કરે છે.' (પૃ. ૧૬૬) એવો અઢિપ્રાય આપે છે, એટલે કે લઢનારે સાંઢઢેલી એવી, કળ્ઠપ્રવાહની રચનાનો અહીં આઢાર લીઢો છે.

બોલે ઢાંઢીને, અન્યના શબ્ઢોનો પોતાના સ્વાર્થ માટે ઢઢ્તો અર્થ ઢૂર્ત-કથામાં જોવા મઢે છે. ૧૧મી સઢીમાં રચાયેલા વર્ઢમાનસૂરિકૃત પ્રાકૃતઢાષાના 'મનોરમાકથા'માં (શ્રીરૂપેન્ઢ્રકુમાર પગારિયાના સમ્પાઢનમાં એલ.ઢી. ઈન્સ્ટિટ્યૂટ ઢ્વારા ઈ. ૧૯૮૭માં પ્રકાશિત) વચનસાર અને ચિપિટનાસ નામના બે ઢુષ્ટ અને ક્રૂર પ્રકૃતિ ઢરાવતા ઢૂર્તોની કથા મઢે છે. (પૃ. ૨૫૯-૨૬૨). એમાં બોલે ઢાંઢનારનો હેતુ માત્ર ઢીઢ્ઢનો નથી પરંતુ અન્યને ઢૂતવાનો છે. એમાં મઢ્તી કથાયુક્તિ ઢઈ સઢીમાં પળ પ્રચલિત અને લિઢિતરૂપમાં ઢસ્તાવેજીકરળ પામેલી લોકકથામાં મઢે છે. પ્રાકૃતમાં જે કથાયુક્તિ છે તે આ પ્રમાણે છે : (સન્ઢર્ભ-વિશેષ વીઢત માટે 'લોકકથાનાં મૂઢ અને કુઢ્ઢ', પૃ. ૮૦ થી ૮૩)

ઢૂર્ત વચનસારે, ઠંઢીમાં જેનું ચીંથરું પળ પાસે રાઢવાથી ઢાઢ ન વાય એવો ચમત્કારી ઢાબઢો એક વેપારીને પાંચસો સોનામહોરમાં વેચ્યો અને નઢર છેઢીને જતાં રસ્તામાં બકરો ઢરીઢો. સામેથી એક ઢાપુને આવતાં જોઢ બકરાની પાછઢ ૪૯ સોનામહોરનો ઢઢલો કરી, પચાશમી સોનામહોર બકરાની પૂંઢે લઢાઢી બકરા પર ચઢી કાન આમઢવા લાઢ્યો. ઢાપુએ નજીક આવી બકરા પર ત્રાસ

गुजारवानुं कारण पूछतां वचनसार बोल्यो : 'बकरो रोज पचाश सोनामहोर हगे छे, आज अेक ओछी हग्यो !' बापुअे पूंठ पर चोटेली जोई वचनसारने आपी अने लोभ-लालचवश हजारमां बकरो खरीद्यो. बीजे दिवसे सोनामहोरने बदले मात्र लींडी मळता बापु वचनसार पासे गया तो वचनसारे कह्युं : 'बकरानी पूंठे आ चिपिटनासना काननो मेल लगाडो तो ज बकरो पचाश सोनामहोर हगे !' लालचु बापुअे हजार सोनामहोर आपी चीबाना काननो मेल पण खरीद्यो. अेमां छेत्राया छे अेनो अनुभव करी धूंवाफूंवा थता बापुअे वचनसारने मारवा लीधो त्यारे एणे फरी युक्ति करीने 'बूढीने मारो तो जवान थाय' अेवो चमत्कारी लालियो धोको पधराव्यो. बापुअे घरडां ठकराणांने जुवान करवा धोकाव्यां ने ठकराणां हाडकां भांग्यां ने धूतारा वचनसारने पकडवा गया ने कोथळामां पूरी डुबाडवा गया. परंतु हरणुं जोतां बापुनी डाढ डळकी ते कोथळो मूकी बापु पाछळ दोड्या. आवी चडेला भरवाडे वचनसारने मुक्त कर्यो तो वचनसार बोल्यो : 'मारे परणवुं नथी, तोय मारो बाप मने परणाववा मागे छे.' भरवाड भोळवायो, पोतानो माल धूताराने सोंपी कोथळे पूरायो, धूतारो भरवाडनो माल लई आगळ नीकळी गयो. हरण पाछळ गयेला बापु पाछ आव्या ने कोथळाने नदीमां डुबाडी आगळ चाल्या तो अेमने माल चारतो वचनसार मळ्यो. अेणे कह्युं : 'नदीनो यक्ष प्रसन्न थयो ने मने माल आप्यो.' लालचु बापु जाते कोथळे पुराया अने डूबी मर्या.

प्राकृतस्रोतमां लिखित दस्तावेजीकरण पामी चूकेली दशमी-अगियारमी सदीनी आ कथाओ अनुगामी कण्ठपरम्पराओमां पण छेक वीसमी सदीना उत्तरार्धमां पोतानुं अस्तित्व टकावी राखे छे. लोकविद्याविद्-भाषाशास्त्री प्रो. डॉ. शान्तिभाई आचार्ये कच्छ-गुजरात-सौराष्ट्रनी विविध बोलीओ पर ई. १९६५ थी ई. १९८५ सुधी सर्वेक्षण करीने काम कर्युं अने विविध कथकोनी बोलीमां कहेवायेली लोककथाओने विद्यापीठना सामयिकमां, डॉ. भायाणी सम्पादित 'वाग्-विमर्श'मां अने 'सीदी-कच्छी वार्ताओ', 'हेंडो वात मांडीअे' (ई. १९९०) वगेरे पुस्तकोमां कण्ठप्रवाहनी कथाओ आपी. ताजेतरमां ज गुजराती साहित्य परिषद द्वारा तेमनो 'अमे बोलीओ छीअे' (इ. २००९) नामनो बोली विषयक शास्त्रीय ग्रन्थ प्रगट थयो छे तेमां पांत्रीशेक जेटली कण्ठ-

પરમ્પરાની લોકકથાઓ છે. એમાંથી ગોહિલવાડી બોલી બોટાદ વિસ્તારની 'ટળક-૧', 'ટળક-૨', ચોધરી બોલીની 'ભરવાડો' વગેરેમાં ઉપર્યુક્ત પ્રાકૃતમૂળની જ લોકકથાઓનાં સ્થાનીય રૂપાન્તરો મળે છે.

ટળક-૧ની કથાનાં ડોશીનો દીકરો 'કાન આમઢીને પળ રડતા છોકરાને સરખો બેસાડ' કહેતી માતાના બોલ પકડી કાન આમઢી લે છે, 'જોર દડ વાંસો કર' કહેતા તઢાવકાંટે સ્નાન કરતા ડોસાને જોર કરી તઢાવમાં નાખી દે છે, ભાગતી ભેંશને ગમેતેમ કરીને રોકવાનું કહેતા રબારીની ભેંશને ગેડીના ફટકે મારી નાખે છે. (પૂર્વવર્તી કથાઓમાં ઘોડો છે તેનું આ સ્થાનીય રૂપાન્તર છે), રસના રેલા ચાલે એવી વાર્તા કહેવાનું જળાવતી ભરવાડળોનાં મટકાં ફોડે છે. ભોગ બનેલા બધાં ટળક વિરુદ્ધની ફરિયાદમાં જોડાય છે. પટેલના ઘરે ઘોડી લઈને રાતવાસો કરતાં લાદમાં રૂપિયા છુપાવી હજાર રૂપિયામાં ઘોડું ફટકારી ધૂતી લે છે. લગ્ન કરવાની લાલચે કોથઢામાં પુરાતો ભરવાડ પળ આ કથામાં છે. અન્ય જે કથાઓના સન્દર્ભ આપ્યા છે તેમાં પળ આ જ કુઢ અને મૂળની કથા છે. બીજી એક ઝાસ નોંધપાત્ર બાબત એ છે કે પ્રાકૃત ભાષામાં વૃત્તિ રચનાર ગ્રન્થકારે ગુજરાતના ગોહિલવાડ સ્પર્શી ધોઢક્રમાંથી કળ્ઠપ્રવાહની લોકકથાઓને પ્રાકૃતભાષામાં બાંધી છે એ જ ભાષા-બોલી-પ્રદેશક્ષેત્રમાંથી વીસમી સદીના કળ્ઠપ્રવાહના સ્તોતમાંથી આ કથાઓ મઢી અને લિખિત દસ્તાવેજીકરળ પામી છે.

આથી, સ્પષ્ટ થશે કે, ૧. સંસ્કૃત-પ્રાકૃત-પાલિ વગેરે ભાષાઓનાં કથાસાહિત્યમાં જે કથાઓ મળે છે તેમાં મોટા ભાગની કથાઓ ઉદ્ભવ-વિકાસની દૃષ્ટિએ તો પરમ્પરાગત લોકકથાઓ છે, જેમાં એનો વિનિયોગ કરી લિખિતરૂપ આપનાર ગ્રન્થકારોએ પોતાના હેતુ માટે જરૂરી લાગતાં ફેરફારો કર્યાં. ૨. કહેવાતી કથાઓ લિખિતરૂપમાં લોકવિદ્યા Folklore વાળી માધ્યમના Lore માંથી પ્રશિષ્ટ-લિખિતરૂપના સાહિત્યમાં કૃતિરૂપ પામીને સાહિત્યમાં લિખિતસ્વરૂપે પળ અનુગ્રન્થોમાં આવી અને લખનારના હેતુની દૃષ્ટિએ એનાં રૂપાન્તરો થતાં રહ્યાં (પાલિની ગામળીચળ્ડની અને પ્રાકૃતની અભાગિયાની કથા) ૩. કોઈ કથાનું કળ્ઠપ્રવાહમાંથી લિખિતપ્રવાહમાં સ્થાનાન્તર થાય તે પછી પળ કળ્ઠપ્રવાહમાં તે કથાનું સ્થાનગત-બોલીગત-સમયગત રૂપાન્તર થતું રહે છે અને

चमत्कारना तत्त्वने कारणे - Striking element थी पोतानुं अस्तित्व टकावी राखे छे. धूर्तकथाओमां Striking element विशेष होय छे, कायम याद रही जाय अेवुं होय छे अने प्रेमकथाओमां स्थानीयरंग, संवेदन अने मर्मने स्पर्शवानी शक्ति विशेष होय छे तेथी लोककथाना ते प्रकारो सदीओ सुधी पोतानुं अस्तित्व टकावे छे. ४. कथायुक्ति Story-device थी जेना केन्द्रमां मुख्य अेक स्फोट होय अेवा टूका, स्वयंसम्पूर्ण लघु कथानक जन्मे छे अने मूर्ख, धूर्त, टणक, अन्यकामी चारित्र्यशिशिल स्त्री अेवा कोई अेक पात्र साथे ज आवां स्वतन्त्र अनेक कथानको संकळाय छे, अेनी शृंखला रचाय छे अने अेमांथी ज शशधर, मूलदेव, घट-खर्पर, वचनसार-चिपिटनास जेवां धूर्तोनी कथाओ, कामकथाओ, मुग्ध(मूर्ख)कथाओनी शृंखलाओ रचाय छे. ५. आवां भिन्न भिन्न घटकोनी शृंखलाओथी ज अस्तित्वमां आवेलां कोइ अेक स्वतन्त्र कथानकनो पण विकास आवी बीजी घटनाशृंखलाथी थाय छे. 'बोले बांधनार'नुं कथानक पोतानी रीते सम्पूर्ण अने स्वयं पर्याप्त छे, परंतु अेमां राजा के मन्त्रीना चातुर्यनी घटनाओनी शृंखला उत्तरार्ध रूपे संकळायता नवा ज स्वतन्त्र कथानकनो विकास थयो. प्रश्नगर्भ कथाओथी 'वेताळपचीशी', प्राकृतनी 'चित्रकारदुहिता', अेना परथी ज आवेली 'अेरेबियन नाइट्स' जेवी कथाओ जन्मी. अेक मुख्य भूमिका कथाअे 'सूडा-बहोतेरी' के फारसीनी, नवग्रहरंगी महेलमां वसती भिन्न भिन्न देशमां जन्मेली-राणीओ द्वारा कहेवाती, 'दास्ताने नुहमंझर' जेवी कथाओ जन्मी, अेम बोले-बांधनारनुं संयोजन राजा के मन्त्रीना चातुर्यनी साथे थयुं. आमांथी ज बोले-बांधनार जुदां-जुदां पात्रोने अेना ज बोलेला बोलथी बांधीने नुकशानमां उतारे अने अेनो भोग बननार राजा के मन्त्रीने फरियाद करे अने राजा वा मन्त्री बुद्धिचातुर्यथी न्याय तोळे : अे प्रकारनो कथाविकास थयो. आम थवामां कण्ठप्रवाहने मुख्य योगदान लिखितप्रवाहनुं होइ शके. ६. आने आधारे अेम कही शकाय के लिखित माटेनो मुख्य स्रोत कण्ठप्रवाह छे, परंतु द्वैतीयिक भूमिकाअे लिखितप्रवाह पण कण्ठप्रवाहने घडे छे. ६. लोकविद्या - Folk lore नुं उद्भव-मूळ लोकमां, शिष्टमां के बन्नेमां छे : अे सन्दर्भे लोकविद्याविज्ञान-Folkloristics मां मुख्य त्रण थियरी छे. अेक माने छे उद्भव-मूळ लोकमां छे, बीजी माने छे उद्भव-मूळ शिष्टमां छे, त्यां जे जन्मे ते पछी लोकभोग्य, स्पर्श, उपयोगी होय ते Lore रूपे वहेतुं थाय. त्रीजी थियरी परावर्तीय -

Reversal છે, જે પ્રમાણે લોકમાં જન્મે, શિષ્ટમાં પ્રવેશતાં એનાં પર સંસ્કાર થાય અને નિશ્ચિત રૂપમાં ઢલે ને એ પાછું લોકમાં જાય - Reverse થાય. સામાન્ય રીતે થિયરી-થિયરી વચ્ચે ભેદ અને વિરોધ લાગે, પરંતુ એક સાચી કે પ્રવર્તમાન તો અન્ય સર્વથા ઓટી અને અમાન્ય એવું માનવું-ધારવું અભ્યાસ દૃષ્ટિએ ઓટા માર્ગે દોરનારું છે. વિદ્યા Lore અને કલા, એક સંકુલ-સંમિશ્ર ઘટના છે. કોઈ એક નિશ્ચિત પરિસ્થિતિ નહીં પરંતુ એની પળ વિવિધતા ઉદ્ભવ-વિકાસમાં કારણરૂપ હોય છે. આથી કલા કે એના એક પ્રકાર તરીકે સાહિત્યની વિવિધ થિયરી, એના વાદો કે મતો, સર્વથા સમ્પૂર્ણ ને સ્વીકાર્ય કે સર્વથા અપૂર્ણ ને અસ્વીકાર્ય ન હોઈ શકે. આ ઘટના, કળા અને લિખિતના સમ્બન્ધ પરત્વે, બોલી અને ભાષા જેવી છે. બોલી જ ભાષાને ઘડે છે, બોલીનાં નિયમો, એનું વ્યાકરણ બોલીને ભાષારૂપે સિદ્ધ કરી આપે. પરંતુ દ્વિતીયીક ભૂમિકાએ ભાષા બોલીઓને જન્માવે અને ઢૂઢ કરે. જન્ય હોય એ જનક અને જનક હોય તે જન્ય બને : આવું અહીં શક્ય છે. કળા અને લિખિત એવા લોકસાહિત્ય અને સાહિત્ય વચ્ચેનો સમ્બન્ધ આ પ્રકારનો છે. કળા અને લિખિત વચ્ચેના સમ્બન્ધનો વસ્તુનિષ્ઠ તટસ્થ અભ્યાસ પ્રમાણમાં ખૂબ ઓછો છે. અને ડૉ. ભાયાળી પછી તો એ લગભગ લુપ્ત છે. આ બે ભિન્ન છતાં સમર્થ અને સમકક્ષ એવા પ્રવાહો-પ્રકારોના અભ્યાસ-સંશોધન થાય તો જ 'નશ્ય'ની નજીક પહોંચી શકાય.

૧, પદ્માવતી બંગ્લોઝ,  
ભાવિન સ્કૂલ સામે, થલતેજ,  
અમદાવાદ-૩૮૦૦૫૯

# अज्ञातकर्तृक प्राकृत-प्रश्नगर्भ-पंचपरमेष्ठि-स्तव

प्रो. नलिनी बलवीर

नमस्कार महामन्त्र का प्रभाव तथा प्रचार जैन समाज में सर्वत्र है। जैन लोग इसे कण्ठस्थ करते हैं और सभी धार्मिक अवसरों पर “नवकार” को प्राकृत भाषा में ही सुनते हैं। यदि श्रद्धा के साथ इसका प्रयोग किया जाए तो सभी प्रकार के विघ्न नष्ट हो जाते हैं। यह भय से सुरक्षित रखता है। इसको प्रायः जैन गायत्री कहते हैं। इसे पढ़ने से जैसे द्वार अपने आप खुलते हैं। फरवरी १९९६ की बात है। एक प्रातःकाल आबु पर्वत के जैन मन्दिर में प्रवेश के समय मेरा खाकी वर्दी के संरक्षक से सामना हुआ। प्रातःकाल मन्दिर केवल जैनियों के लिए पूजार्थ खुला होता है। संरक्षक से हिन्दी में मेरा संक्षिप्त वार्तालाप आरम्भ हुआ। मैंने बताया कि मैं दूर से आयी हूँ, मैं जैन धर्म के विषय पर शोध कर रही हूँ। मैं ने पं. माल्वणिया और प्रो. भायाणी के नाम का उल्लेख किया। उसने उत्तर दिया-यदि तुम जैन हो तो नवकारमन्त्र सुनाओ। तभी मैंने उसे मन्त्र कह सुनाया और उसने बड़े आडम्बरपूर्ण ढंग से हाथ उठाकर मुझे मन्दिर में प्रवेश करने दिया।<sup>१</sup>

नमस्कार महामन्त्र के ऊपर असंख्य ग्रन्थ लिखे गए हैं। स्तोत्र, रास,

१. पूर्व प्रकाशित निबन्ध का यह लेख संक्षिप्त रूपान्तर है। देखिए Nalini Balbir “Le Pañcanamaskāra en charades” *Jaina-Itihāsa-Ratna. Festschrift für Gustav Roth zum 90. Geburtstag* ed. by U. Hüsken, P. Kieffer-Pulz & A. Peters, Marburg, 2006 (Indica et Tibetica 47), pp. 9-31 स्वर्गीय डॉ. रोथ (१९१६-२००८) ने पंचनमस्कारमन्त्र के विषय पर एक प्रेरणात्मक लेख लिखा है : “Notes on the Pañca-Namokkāra-Parama-Maṅgala in Jaina Literature”, *Adyar Library Bulletin. Mahāvira Jayanti Volume 38*, pp. 1-18, reprinted in G. Roth, *Indian Studies, Selected Papers*, Delhi Shri Satguru Publications, 1986, pp. 129-147
२. देखिए James Laidlaw, *Riches and Renunciation. Religion, Economy, and Society among the Jains*. Oxford, Clarendon Press, 1995, p. 136 : “More than once when I was travelling ... in India I gained access to a closed Jain temple on the basis of little more than a clear recitation of the *nokar mantra*.”



कथाएँ इत्यादि संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, हिन्दी में उपलब्ध हैं। समस्त मन्त्र के पदों की संभाव्य संख्या, “हवइ”/“होइ” पाठ की चर्चा और उसके पद्याकार में चित्रित रूप पर वाद-विवाद प्रचलित हैं। **प्रश्नगर्भ-पंचपरमेष्ठि-स्तव** एक ऐसा ग्रन्थ है जो प्रश्नोत्तर के रूप में नमस्कार मन्त्र का महत्त्व प्रस्तुत करता है। इस में माहाराष्ट्री जैन प्राकृत के ६ पद्य हैं। उनमें से पहले पांच (छन्द-स्त्रधरा) अलग-अलग प्रश्नोत्तर प्रस्तुत करते हैं। अर्हत्-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय तथा साधु के नमस्कार मन्त्र का हरेक भाग ढूँढना इनका लक्ष्य है।

**नमो अरिहन्ताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं ।**

स्तव का अन्तिम पद्य (छन्द-शार्दूलविक्रीडित) फलश्रुति का द्योतक है। नमस्कार महामन्त्र की चूलिका पर (एसो पंचनमोक्कारो) स्तव में कुछ नहीं मिलता।

यह स्तव विनोदी और उपदेशात्मक रीति में मौलिक प्रकार से पंचनमस्कार मन्त्र के शब्दों और पदों को रेखाङ्कित करता है और साथ ही कुछ सिद्धान्त परिकल्पनाओं का प्रदर्शन करते हुए उसके महत्त्व का और उसकी मन्त्रप्रकृति का उल्लेख करता है। प्रश्नोत्तर खेल विनोद के लिए भाषा के खेल ही नहीं है। किसी नाम का अन्वेषण उनका लक्ष्य हो सकता है। प्रेम के सन्दर्भ में वे नाम प्रेमपात्र के हैं। धार्मिक सन्दर्भ में (उदाहरणतः विश्वसिपत्रों में) वे गुरु के नाम, उनके मातापिता के नाम या उनके जन्मस्थान के नाम हो सकते हैं<sup>३</sup>। इस प्रकार पहेलियाँ आदरणीय व्यक्ति के प्रति भक्ति की अभिव्यक्ति करने की एक विधि हैं। पहेलियाँ आदरणीय व्यक्ति के प्रति भक्ति की

३. प्रेमविषयक और धर्मविषयक जैन प्रश्नोत्तरों के बारे में देखिए Nalini Balbir, “Théorie et pratique de la devinette en milieu jaina. I. Les Cent soixante et une devinettes de Jinavallabha. II. Devinettes en contexte”, *Bulletin d’Etudes Indiennes* 20.2 (2002), pp. 83-243; “Grammatical riddles in Jain literature” in *Jambū-jyoti (Muni Jambūvijaya Festschrift)*, ed. M. A. Dhaky & J. B. Shah, Ahmedabad, 2004, pp. 269-309; “Gurubhakti through word-puzzle in the Jain context” in *Vāṇi-jyotiḥ* 17-18 (*Prajñāna-Mahodadhīḥ*, Prof. Dr. Gopinath Mohapatra Felicitation Volume), Department of Sanskrit, Utkhal University, Bhubaneswar, 2003, pp. 181-203.

अभिव्यक्ति करने की एक विधि हैं। पहेलियाँ के दो पक्ष हैं। रूप की दृष्टि से विनोदजनक पर विषय की दृष्टि से गम्भीर।

इस स्तोत्र में कुछ प्रश्न और उत्तर जैन धर्म के सामान्य सिद्धान्तों व मूल्यों का उल्लेख करते हैं। उनमें पंचपरमेष्ठियों के नामों की निरुक्ति नहीं मिलती\*। कुछ और पंचनमस्कार के मन्त्र के मूल्य और ध्यान के फल को रेखाङ्कित करते हैं जैसे हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र ८/८-९ में मिलता है।

इस स्तोत्र के अर्ह और ॐ के उत्तरों में पंचनमस्कार का सार मिलता है। उपाध्याय और नील वर्ण का सम्बन्ध स्तोत्र के चौथे पद्य में आता है। इस सम्बन्ध की उत्पत्ति अज्ञात होते हुए भी महामन्त्र की साधना में पाँच परमेष्ठियों और पाँच वर्णों के बीच में एक विशिष्ट सम्बन्ध विकसित हो गया है। मध्यकालीन पाण्डुलिपियों में इस प्रकार के चित्र मिलते हैं<sup>५</sup>। आधुनिक जैनियों की दृष्टि में यह सम्बन्ध स्वाभाविक है<sup>६</sup>। पूर्ण रूप में पाँच भूत और शरीर के पाँच अंगों में भी यह सम्बन्ध है।

अर्हत	सफ़ेद	मस्तक का ऊपरी भाग	पानी
सिद्ध	लाल	मुँह	आग
आचार्य	पीला	हृदय	पृथ्वी
उपाध्याय	नीला	नाभि	वायु
साधु	काला	पैर	आकाश

४. इसके लिये देखिए महानिसीहसुत्त ३/९।

५. देखिए U. P. Shah, "Pañca-Parameṣṭhis" in *Jaina-Rūpa-Manḍana* (Jaina Iconography). New Delhi : Abhinav Publications, 1987, p. 44; British Library हस्तप्रत नं. Or. 2116C, पत्र १; और देखिए पंडितराज श्रीधुरन्धरविजयजी गणिवर्य, मुनिवर्य जम्बूविजयजी, मुनिवर्य श्रीतत्त्वानन्दविजयजी, *नमस्कार स्वाध्याय* संस्कृत विभाग, बम्बई, जैन साहित्य विकास मण्डल, १९६२, पृ. १६ के सामने तथा *Victorious Ones. Jain Images of Perfection*, ed. Ph. Granoff, Rubin Museum of Art, New York, 2009, p. 287, "P-34 The meaning of the Mantra Om Hrim̐".

६. देखिए पृ. मुनिराज श्रीकुन्दकुन्दविजयजी महाराज सा., *नमस्कार चिन्तामणि*, श्रीजिनदत्तसूरि मण्डल, दादावाड़ी, अजमेर, १९८०, पृ. १४४-१४५ (श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन

इस स्तोत्र के तीसरे पद्य के अनुसार “नमो आयरियाणं” के जाप से “थम्भ” हो सकता है। पानी या आग को स्तम्भ करना एक कार्य है जो मन्त्रों के जाप से ही होता है। जैसे योगशास्त्र में लिखा है।

पीतं स्तम्भे ऽरुणं वश्ये क्षोभणे विद्रुमप्रभम् ।

कृष्णं विद्वेषणं ध्यायेत् कर्मघाते शशिप्रभम् ॥योगशास्त्र ८/३१॥

इस स्तोत्र के अन्त में जो अष्टदल कमल आता है वह **प्रश्नगर्भ-पंचपरमेष्ठि-स्तव** के दोनों अर्थों को स्पष्ट करता है। अष्टदल कमल प्रश्नोत्तर का एक प्रकार है और साथ ही वह ध्यान का यन्त्र या मण्डल का साधारण रूप भी है। योगशास्त्र ८/३३-३४ के अनुसार पंचपरमेष्ठियों के नमस्कारमन्त्र को वही रूप देना चाहिए७।

### हस्तप्रत

ऐसा लगता है कि **प्रश्नगर्भ-पंचपरमेष्ठि-स्तव** के हस्तप्रत कम हैं और इसीलिए ग्रन्थ का प्रसारण भी सीमित रहा है। *New Catalogus Catalogorum* में इसकी केवल दो प्रतियों का उल्लेख है। मैं ने इन दोनों उपलब्ध हस्तप्रतों का प्रयोग किया है।

**पू** - यह हस्तप्रत Bhandarkar Oriental Research Institute पूणे का है। क्रमसंख्या ७४३ (अ)/१८९२-१८९५; पंचपाठ; पत्रसंख्या १; परिमाण २५ x १०'५; पंक्तियाँ १४, अक्षर ५५। रचनासमय और लेखनसमय नहीं दिये हैं। लिपि स्पष्ट है। **प्रश्नगर्भ-पंचपरमेष्ठि-स्तव** पृष्ठ की सीधी तरफ पर है। इसके मध्य में अष्टदल कमल का रेखाचित्र है। परिसरों में वृत्ति लिखी

श्वेताम्बर मन्दिर भूपतवाला, हरिद्वार, पृ. ११५); Acharya Sushil Kumar, *Song of the Soul. An Introduction to the Namokar Mantra and the Science of Sound*. New Jersey: Siddhachalam Publishers, 1987, p. 44

७. यह भी देखिए : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, **मंगलमन्त्र णामोकार एक अनुचिन्तन**, दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, २००४ (१४ संस्करण) पृ. ६३ और पू. मुनिराज श्रीकुन्दकुन्दविजयजी महाराज सा., **नमस्कार चिन्तामणि**, श्रीजिनदत्तसूरि मण्डल, दादावाड़ी, अजमेर, १९८०, पृ. १४४ (श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मन्दिर भूपतवाला, हरिद्वार, १९९९, पृ. ११५)।

हुई है। हस्तप्रत-वर्णन के लिए देखिए H. R. Kapadia, *Descriptive Catalogue of the Government Collections deposited at the Bhandarkar Oriental Research Institute, Volume XIX, Part I, Poona, 1957* पृ. ३५४-३५६।

ल० - यह हस्तप्रत लन्दन में India Office Library (British Library) का है। क्रमसंख्या I. O. San. 25727(E); पंचपाठ; पत्रसंख्या १; परिमाण २५ x १०; पंक्तियाँ १४। रचनासमय और लेखनसमय नहीं दिये हैं। लिपि स्पष्ट है। सीधी तरफ के मध्य में अष्टदल कमल का रेखाचित्र है जिसमें पांचवे श्लोक की पहेलियों के उत्तर लिखे हैं। परिसरों में वृत्ति लिखी है परन्तु वह थोड़ी-बहुत नष्ट हो गई है इसीलिए अपूर्ण है। हस्तप्रत-वर्णन के लिए देखिए Nalini Balbir, Kanubhai V. Sheth, Kalpana K. Sheth, C. B. Tripathi, *Catalogue of the Jaina Manuscripts of the British Library, London : British Library & Institute of Jainology, 2006*, नं. ९२०।

**प्रश्नगर्भ-पंचपरमेष्ठि-स्तव** के बाद इन दोनों हस्तप्रतों में एक दूसरा ग्रन्थ है। इन दोनों में ही इस ग्रन्थ का नाम **वर्धमान-स्तोत्रम् समस्यामयम्** दिया गया है। प्राकृत में लिखे इस ग्रन्थ में १२ श्लोक हैं और उसकी व्याख्या संस्कृत में है। प्रश्नोत्तर के स्थान पर यह स्तोत्र समस्यापूरण के रूप में आता है।<sup>८</sup> दोनों हस्तप्रतों में इस दूसरे ग्रन्थकार एक **जयचन्द्रसूरि** है।

### जयचन्द्रसूरिकृतम् (पू०)

#### भङ्गरक-प्रभु-श्रीजयचन्द्रसूरिपाद-प्रणीतम् इदं (ल०)

इसके विपरीत **प्रश्नगर्भ-पंचपरमेष्ठि-स्तव** की प्रशस्तियाँ कम स्पष्ट हैं। जयचन्द्रसूरि का नाम केवल पू० हस्तप्रत की वृत्ति के अन्त में आता है। यह सम्भव है कि जयचन्द्रसूरि इन दोनों स्तोत्रों के ग्रन्थकार हैं। पर यह जयचन्द्रसूरि कौन से हैं और उनका समय क्या है इस विषय पर कोई सूचना नहीं मिली है।

८. देखिए साराभाई नवाब, **जैनस्तोत्रसंदोहस्य द्वितीयभागः**।

### संस्कृत-वृत्ति-सहित प्राकृत मूल

१रेहाहि को तर्हि ? २को विणयरस-जुओ ? ३सम्मओ बेइ चक्कं ।  
 ४किरूवं ? ५मंतबीअं किमिह सिवकए ? ६निक्कवो को ? ७सुहं किं ?।  
 ८पूयत्थं वा पयं किं ? ९भणह पडकए केरिसं किं निमित्तं ?।  
 १०किं सिद्धन्तस्स आई ? ११सयलसुहकरं किं पयं ? झायए तं ॥१॥

- णमो अरिहंताणं । - शृङ्खलाजाति त्रिर्गतश्च ।

वृत्ति - १रेखाभिस्तिसुभिर् ण्ण इति प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपः ।  
 २नमतीति नमोऽच् [= हेमचन्द्र व्याकरण ४/१४९] इत्यनेनाऽच् विनातो नमो नन्ता  
 भवति । ३सम्मदो हर्षो ब्रूते तस्य सम्बोधनं हे मोद ! अरा अस्य सन्तीति अरि  
 चक्रं । ४मन्त्रबीजं अर्हं । अकारं विनापि हँ इत्यपि भवति । ५निष्कृतो हन्ता ।  
 ६सुखं त्राणं ७पूजार्थं नमः पदं । ८पटस्य कारणं अर्हं योग्यं वदन्ति ।  
 ९आगमस्याऽऽदिर् णमो अरिहंताणं इति ॥१॥

१किरूवं अङ्गविन्दं हवइ ? २दुहयरी का हरो आह सत्ता ? ।

३सेवित्ता कं व सिद्धा ? ४किमु भणिअ जिणो संपवज्जेइ दिक्खं ॥

५अत्थीणं बेइ खुहो किमु ? ६भणइ ससी केरिसं कामिचित्तं ? ।

७अंतद्धाणं अणंतं किम् ? ८इह विजयए मंगलं किं वा( व ) बीअं ?॥२॥

- नमो सिद्धाणं ॥ - पंचकृत्वो गतिः ।

१भणिय पू० । २अत् ल० । ३च वा के स्थान पर पू० ।

वृत्ति - १आढ्यवृन्दं न मुष्णातीत्येवं शीलं न मोषि ध्राणं च तृप्तं  
 भवति । २दुक्खकरी न मा अलक्ष्मी । नञ्समानार्थो नशब्दोऽस्ति तेन समासः ।  
 उः शिवस्तस्य सम्बोधनं हे उ ! प्राक्संधौ नमो इति । ३सिद्धानामाज्ञां पालयित्वा  
 सिद्धा भवन्ति । ४नमो सिद्धाणं इति भणित्वा जिनो दीक्षां प्रतिपद्यते । ५क्षुद्रः  
 कृपणो नेति भणति । ६माश्चन्द्रः प्राकृते सम्बोधने मो इति सह इना कामेन वर्तते  
 यत् तत् सि क्लीबत्वाद्भ्रस्वः । ७अंतद्धानमिति पदम् अन्तं विना द्धाणमिति ।  
 ८द्वितीयं मंगलं नमो सिद्धाणमिति विजयते ॥२॥

१ घ्राणं च तृप्तं भवति ल० [हेमचन्द्र अभिधानचिन्तामणि ३/९० तृप्तिः सौहित्यम् आघ्राणम्;  
 पाठान्तर आघ्राणः] । २. अलक्ष्मीः पू० । ५ निति ल० ।

‘पावाणं के ? १जिणाणं किमु करिअ सुही कं मुणी ? २माणमोहा ।  
किंरूवाणाइ ‘णंता ? ३विउलधणभरो वड्डए केरिसाणं ? ॥

‘विज्जा विन्नाणभागी हवइ सुनिउणो केरिसो केसि ? किं वा  
थम्भेई नीरमाई पयमणहमणं ? झायए तं मणेणं ॥३॥

- नमो आयरिआणं ॥ -चतुःकृत्वो गतिः ।

वृत्ति - पावा ॥ १पापाः पापवन्तस् तेषां न मोदा अहर्षा भवन्तीति  
योगः । २जिनानामाज्ञामाचर्य पालयित्वा मुनिः सुखी भवति । ३समानदीर्घत्वेऽकारस्य  
पुनर्ग्रहणं मानमोहावनाद्यनन्तौ आद्यन्ताक्षरवर्जितौ किंरूपौ णमो इति । ४विपुलधनभरो  
वद्धते । आयकृतानां लाभप्राप्तानां । रिं पित् गतौ [=हेमचन्द्र धातुपाठ ५/१४-१५]  
रि इति धातौ आयरितानां वा स एवार्थः । ५विद्यादिभागी भवति । नमो नन्ता  
आचार्याणामिति । ६स्तभ्नाति नीराद्युपसर्गान् “जलजलणाई सोलस पयत्थं थम्भन्तु  
आयरिया” इति वचनात् ॥३॥

ग्रहण ल० । अनाद्यानंतौ पू० । १रिं पिग् गतौ पू० । २पयत्तं पू० किंतु पय ल० ।

१किं वक्कालंकिइम्मी ? २किमु विहुरवयं ? ३कं करित्ताण विन्नु ? ।

४आयाणं किं अउव्वं विवरीअम् ? ५इह को किं व पाढ(ढे)इ पुव्विं ? ॥

६कोऽभावं बेइ ? ७को वा हवइ अहभरा केरिसाणं जणाणं ? ।

८झाइज्जन्तं पयं कि हणइ दुहभरं नीलवणणं तिसंझं ? ॥४॥

- णमो उवज्झायाणं । -गतागतं द्विगतिश्च ।

१वाक्का ल० । २विन्नु पू० परन्तु वन्नु ल० । ३पोढेइ पू० । द्विगतिश्च पू० ।

वृत्ति - १किं व० णम् इति वाक्यालंकृतौ [ देखिए हेमचन्द्र व्याकरण ४/  
२८३ ] । २विधुरजनस्य भयभीतजनस्य वच उ इति । ३उपाध्यायाज्ञां कृत्वा विज्ञो  
भवति । ४आयाणं अपूर्वं न विद्यते पूर्वः प्रथमो वर्णो यत्र तदपूर्वं याणम् इति  
विपरीतं च तत् “णंया” इति भवति । ५अज्झावउ अध्यापकः उम् इति पूर्वमादौ  
छात्रान् पाठयति । ६अभाववाची न इति । (वृत्ति का पाठ अब से केवल पू०  
के आधार पर दिया गया है । ल० के बाएँ परिसर पर यह आगे चलता है  
पर पृष्ठ बिगडा हुआ है ।) ७मोचनं मोको भावाकर्त्रोर् घञ् [= हेमचन्द्र व्याकरण  
५/३/१८ ] इति घञ् न मोको मुक्तिरित्यर्थः, वज्झायाणं हत्यानां हत्याकारीणां

जनानां 'पापसमूहाजनारगयभा (?) उवज्झायाणम् इति पदं ॥४॥

'यणां पू० ।

'किं सुखं ? 'किं गुणं ? 'किमिह रसयरं ? 'कं हणंतीह वाहा ? ।

'धन्नं किं बिंति लोआ किमवि ? 'पभणए वंजणं सीअलं किं ? ॥

'निंदत्थं बेइ जीवं कमह जणगणो ? 'कं व देसं जिणंदा ॥

भासन्ते ? 'किं पयं जं अणवरयमहाझाणजुगं मुणीणं ॥५॥

- नमो लोए सव्वसाहूणं । -अष्टदलकमलं ।

'सुखं पू०, सुखं ल० । 'व द० जिणंदा के स्थान पर ब द० जिणिंदा पू० । 'महोझाण पू० । जुगं ल० ।

वृत्ति-किं सु० ॥ 'न ऋणं ऋकारस्याऽकारे तल्लोपे च सति न ऽणम् इति ऋणाभावः सौख्यं । 'मुनीनां नावौ (?) मौनं मुनित्वं श्रामण्यं गुणाढ्यं मौनं सर्वार्थसाधनम् । इति वचनान् ... '... नानावो वा लोणं लवणं रसतरं । 'हरिणं घ्नन्ति व्याधास् । 'सणं धान्यविशेषः [ देखिए हेमचन्द्र अभिधानचिन्तामणि ४/२४५ ] । 'व्यंजनं... शीतं ...वणं जलकाननं (?) वा । 'साणं श्वा इति निन्दार्थं जनो ब्रूते एष श्वा इति । 'कं वा देश ... जनगणो ब्रूते हूणां 'किं पदमुपदिशन्ति (?) यदनवरतं निरन्तरं ध्यानं योग्यं मुनीनां नमो लोए सव्वसाहूणमिति पदं ॥५॥

एवं जे परमेष्ठिपंचगपयप्पन्हेसु ताइं जणा ।

जाणित्ता पइवासरं निअमणे धारंति झायंति य ।

तेसिं दुडुत्तमडुकम्मविगमा तेलुक्ककप्पहुमो ।

एसो सो परमिड्ढिमंतपवरो दिज्जा सुहं सासयं ॥६॥

इति प्रश्नगर्भं पंचपरमेष्ठिस्तवः ( एसे ही पू०, ल० )

वृत्ति - एवं जे० सुगमं । नवरं परमेष्ठिपंचकपदप्रश्नेषु तानि परमेष्ठिपदानि पंच ज्ञात्वा निजमनसि धारन्ति ध्यन्ति च । तेषामेव श्रीपंचपरमेष्ठिमन्त्र[त्रै]लोक्य-कल्पद्रुमः शाश्वतं सुखं करोत्विति ॥

इति प्रश्नगर्भं श्रीपंचपरमेष्ठिस्तवनं भट्टारकप्रभुश्रीजयचन्द्रसूरिविरचितमिति ।

( एसे ही पू० )

## हिन्दी अनुवाद

- (१) १तीन रेखाओं से युक्त क्या है ? - णकार (ण)  
 २विनय रसवाला कौन है ? - जो नमस्कार करता है (णमो)  
 ३हर्ष पूछता है कि एक चक्र कैसा है ? - ए हर्ष ! अरावाला (मोअ अरि)  
 ४सुख के लिए इस संसार में मन्त्र का बीज क्या है ? - अरिहं (अरिहं)  
 ५करुणाहीन कौन है ? - घातक (हन्ता)  
 ६सुख क्या है ? - सुरक्षा (ताणं)  
 ७सम्मान के अर्थ में कौन सा शब्द है ? - नमस्कार (णमो)  
 ८कहो कपड़े का कारण क्या और कैसे है ? - यथोचित सूत (अरिहं ताणं)  
 ९सिद्धान्त का आरम्भ क्या है ? - अरहन्तों का नमस्कार (णमो अरिहंताणं)  
 १०कौन सा ऐसा शब्द है जो सारे सुख प्रदान करता है ? उस पर ध्यान करो । - अरहंतों का नमस्कार (णमो अरिहंताणं)
- (२) १समृद्ध व्यक्तियों का समूह कैसा है ? - चोरी करनेवाला नहीं अर्थात् संतुष्ट (न मोसि द्धाणं)  
 २शिव कहते हैं कौनसी स्त्रीवाची जीव दुःख करनेवाली है ?- ए शिव ! लक्ष्मी का अभाव (नमो = न मा उ)  
 ३किसकी सेवा करके लोग सिद्ध होते हैं ? - सिद्धों की आज्ञा की (सिद्धाणं)  
 ४क्या कहकर जिन ने दीक्षा का प्रतिपादन किया ? - सिद्धों को नमस्कार (नमो सिद्धाणं)  
 ५कृपण व्यक्ति प्रार्थनार्थियों से क्या कहता है ? - नहीं (ण)  
 ६चन्द्रमा कहता है अनुरागियों का हृदय कैसा होता है ? - हे चन्द्रमा ! अनुरागपूर्ण (मो सि)  
 ७बिना “अन्त” के “अन्तद्धानं” कैसे ? - द्धाणं (द्धानं)  
 ८इस लोक में किस दूसरे मङ्गलमन्त्र की विजय होती है ? - सिद्धों को नमस्कार (नमो सिद्धाणं)



- (३) <sup>१</sup>दुर्जनों के भाव कैसे होते हैं ? - उनको आनन्द नहीं मिलता (न मोआ)  
<sup>२</sup>जिनों का क्या करके मुनि सुखी होता है ? - उनके आदेश का पालन करके (आयरियाणं)  
<sup>३</sup>आदि और अन्त के बिना "माण" और "मोह" कैसे होते हैं ? - णमो (णमो)  
<sup>४</sup>विपुल धन का भार किन व्यक्तियों पर बढ़ता है ? - जिनकी आय में वृद्धि होती है (आयरियाणं)  
<sup>५</sup>किस प्रकार का व्यक्ति विद्या और विज्ञान का भागी है और किन व्यक्तियों के लिए ? - जो आचार्यों को नमस्कार करता है (नमो आयरियाणं)  
<sup>६</sup>ऐसा कौन सा अनवद्य महामन्त्र है जो पानी और अन्य विघ्नों को रोक देता है ? अपने मनमें उस पर ध्यान करना चाहिए । - आचार्यों को नमस्कार (नमो आयरियाणं)
- (४) <sup>१</sup>वाक्य के अलंकार के उपयोग में क्या है ? - णं निपात (णम्)  
<sup>२</sup>संत्रस्त व्यक्ति किस शब्द का प्रयोग करता है ? - ओ (ओ)  
<sup>३</sup>किसकी सेवा करके व्यक्ति विवेकी होता है ? - उपाध्यायों की आज्ञा की (उवज्झायाणं)  
<sup>४</sup>आरम्भ के बिना और विलोम के "आयाणं" का क्या होता है ? - णंया (णंया)  
<sup>५</sup>इस संसार में सबसे पहले कौन क्या पढ़ाता है ? - अध्यापक, ओं (उज्झावउ ओं)  
<sup>६</sup>अभाव का द्योतक क्या है ? - नकार (ण)  
<sup>७</sup>किस प्रकार के लोगों के लिए पाप के भार का क्या परिणाम होता है ?  
 - हत्याकारियों के लिए मुक्ति नहीं (ण मोउ वज्झायाणं)  
<sup>८</sup>नीले रंग के किस शब्द पर दिन में तीन बार ध्यान करने से दुःख का भार नष्ट हो जाता है ? - उपाध्यायों को नमस्कार (णमो उवज्झायाणं)
- (५) <sup>१</sup>सुख क्या है ? - ऋण का अभाव (न 'णं)  
<sup>२</sup>धुणों से समृद्ध क्या है ? - मौन (मोणं)

इस संसार में अधिक से अधिक क्या स्वादिष्ट है ? - नमक (लोणं)

इस लोक में व्याध किस को मारते हैं ? - मृग को (एणं)

एक प्रकार के धान्य को लोग क्या कहते हैं ? - गांजा (सणं)

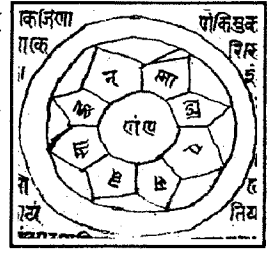
शीत... को क्या कहते हैं ? - घाव / अरण्य (व्वणं)

निन्दा करने के लिए लोग किस जीव का निर्देश करते हैं ? - कुत्ते का (साणं)

और निन्दा करने के लिए जैन लोग किस देश का निर्देश करते हैं ? - हूणो के देश का (हूणं)

निर्बाध और गहन ध्यान के योग्य मुनियों के लिए कौन सा मन्त्र है ? - इस विश्व के सभी साधुओं को नमस्कार (नमो लोए सव्वसाहूणं)

(६) पंचपरमेष्ठियों के प्रश्नसम्बन्धी इन श्लोकों से अवगत होने पर जो लोग इन को अपने मन में धारण करते हैं और प्रतिदिन ध्यान करते हैं उनको यह पंचपरमेष्ठि उत्कृष्ट मन्त्र जो तीनों लोकों का कल्पवृक्ष है उनके आठ कर्मों के अन्धकार के लुप्त होने पर शाश्वत सुख देगा ।



C/o. सोर्बेन नूवेल विश्वविद्यालय  
पेरिस, फ्रांस  
nalini.balbir@wanadoo.fr

# अर्धमागधी भाषा का उद्भव एवं विकास

प्रो. सागरमल जैन

भारतीय साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत एवं पालि भाषा में पाये जाते हैं। वैदिक परम्परा का साहित्य विशेष रूप से वेद, उपनिषद आदि संस्कृत भाषा में निबद्ध है, किन्तु वेदों की संस्कृत आर्ष संस्कृत है, जिसकी प्राकृत एवं पालि से अधिक निकटता देखी जाती है। मूलतः संस्कृत एक संस्कारित भाषा है। उस युग में प्रचलित विविध बोलियों (डायलेक्ट्स) का संस्कार करके सभ्यजनों के पारस्परिक संवाद के लिए एक आदर्श साहित्यिक भाषा की रचना की गई, जो संस्कृत कहलायी। संस्कृत सभ्य वर्ग की भाषा बनी। भिन्न-भिन्न बोलियों को बोलने वाले सभ्य वर्ग के मध्य अपने विचारों के आदान-प्रदान का यही माध्यम थी। इस प्रकार संस्कृत भाषा की संरचना विभिन्न बोलियों के मध्य एक सामान्य आदर्श भाषा (Common Language) के रूप में हुई। उदाहरण के लिए आज भी उत्तर भारत के हिन्दीभाषी विविध क्षेत्रों में अपनी-अपनी बोलियों का अस्तित्व होते हुए भी उनके मध्य एक सामान्य भाषा के रूप में हिन्दी प्रचलित है, यही स्थिति प्राचीन काल में विभिन्न प्राकृत बोलियों के मध्य संस्कृत भाषा की थी। जैसे आज हिन्दीभाषी क्षेत्र में साहित्यिक हिन्दी और विभिन्न क्षेत्रीय बोलियाँ साथ-साथ अस्तित्व में हैं, उसी प्रकार उस युग में संस्कृत एवं विभिन्न प्राकृतों साथ-साथ अस्तित्व में रही हैं। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मूलतः प्राकृतें बोलियाँ हैं और संस्कृत उनके संस्कार से निर्मित साहित्यिक भाषा है। भारत में बोलियों की अपेक्षा प्राकृतें और संयोजक संस्कारित साहित्यिक भाषा के रूप में संस्कृत प्राचीन है, इसमें किसी का वैमत्य नहीं है। प्राकृतें संस्कृत को अपभ्रष्ट करके बनी, यह एक भ्रान्त अवधारणा है।

पुनः कालक्रम में इन क्षेत्रीय बोलियों या प्राकृतों ने भी साहित्यिक भाषा का स्वरूप ग्रहण किया। इसमें सर्वप्रथम अभिलेखीय प्राकृत अस्तित्व में आई। चूँकि अभी तक पठित अभिलेखों में अशोक के अभिलेख ही प्राचीनतम माने जाते हैं, - इनकी जो भाषा है वही अभिलेखीय प्राकृत है।

इनकी भाषा मुख्यतः मागधी प्राकृत के निकट है, किन्तु अशोक के अभिलेखों की प्राकृत मागधी के निकट होते हुए भी, वे अभिलेख जिन-जिन क्षेत्रों में खुदवाये गये, उनमें वहाँ की क्षेत्रीय प्राकृत बोलियों के शब्दरूप भी क्वचित रूप से आ गये हैं, यह मागधी के अर्धमागधी बनने के इतिहास का प्रारम्भिक चरण था। जिन-जिन लोकबोलियों का रूपान्तर साहित्यिक प्राकृत में हुआ उनमें मागधी का स्थान प्रथम है - क्योंकि उसमें न केवल अशोक के अभिलेख लिखे गये अपितु वह बौद्ध त्रिपिटकों की पाली और जैन आगमों की अर्धमागधी का आधार भी रही है।

अभिलेखीय प्राकृत में दूसरा स्थान खारवेल के अभिलेख (ई.पू. प्रथम शती) का और तीसरा स्थान मथुरा के जैन अभिलेखों (ई.की. १-३री शती) का आता है। आश्चर्य यह है कि ईस्वी सन् की तीसरी शती तक का कोई भी अभिलेख संस्कृत भाषा में नहीं लिखा गया। मथुरा के कुछ जैन अभिलेखों में क्वचित संस्कृत शब्द रूप देखे जा सकते हैं, किन्तु कोई भी अभिलेख न तो शुद्ध संस्कृत में है और न मध्यवर्ती 'त' के स्थान पर 'द' को प्रधानता देने वाली शौरसेनी प्राकृत में मिला है। उनमें शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत में प्रचलित 'न' के स्थान पर सर्वत्र 'ण' का भी अभाव परिलक्षित होता है और न महाराष्ट्री प्राकृत की लोप की 'य' श्रुति ही मिलती है। मुख्य बात यह है कि अशोक के काल में राज्यभाषा के रूप में मागधी प्राकृत को ही प्रधानता मिली थी। अतः उसका प्रभाव ईसा की दूसरी तीसरी शती तक बना रहा। इतना सुनिश्चित है कि इसी मागधी को संस्कृत के सन्निकट लाने के प्रयत्न में पाली का विकास हुआ - जिसमें बौद्ध त्रिपिटक साहित्य आज भी उपलब्ध है। उसी मागधी के सरलीकरण के प्रयास में आसपास की क्षेत्रीय बोलियों के शब्द-रूपों के मिश्रण से आचारांग और इसिभासियाई जैसे प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगमों की रचना हुई।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अर्धमागधी आगम साहित्य की पाटलीपुत्र (नन्दवंश की समाप्ति और मौर्ययुग के प्रथम चरण अर्थात् वीरनिर्वाण के लगभग १५० वर्ष पश्चात्) की और खारवेल की कुम्हारी पर्वत (ई.पू. प्रथम शती) की वाचना में उनका अर्धमागधी स्वरूप स्थिर रहा, किन्तु ईसा की तृतीय शती

में आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में सम्पन्न वाचना में वहां की क्षेत्रीय भाषा शौरसेनी का प्रभाव उस पर आया और इसे माथुरी वाचना के नाम से जाना गया। ज्ञातव्य है कि यापनीय और दिगम्बर अचेल परम्परा के ग्रन्थों में जो भी आगमिक अंश पाये जाते हैं, वे जैन शौरसेनी के नाम से ही जाने जाते हैं क्योंकि इनमें एक ओर अर्धमागधी का और दूसरी ओर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव देखा जाता है। अचेल परम्परा के आगम तुल्य ग्रन्थों की भाषा विशुद्ध शौरसेनी न होकर अर्धमागधी और महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी है और इसीलिए इसे जैन शौरसेनी कहा जाता है।

इस प्रकार मगध (मध्य बिहार) एवं समीपवर्ती क्षेत्रों की और शौरसेन प्रदेश (वर्तमान पश्चिमी उत्तरप्रदेश और हरियाणा) की क्षेत्रीय बोलियों से साहित्यिक प्राकृत भाषा के रूप में क्रमशः अर्धमागधी और शौरसेनी प्राकृत का विकास हुआ। अर्धमागधी जब पश्चिमी भारत और सौराष्ट्र में पहुँची, वह शौरसेन प्रदेश से होकर ही वहां तक पहुँची थी। अतः उसमें क्वचित् शब्दरूप शौरसेनी के आ गये। पुनः मथुरा की वाचना के समकालिक वलभी में नागार्जुन की अध्यक्षता में जो वाचना हुई उसमें, और उसके लगभग १५० वर्ष पश्चात् पुनः वलभी में (वीर निर्वाण संवत् ९८०) में जो वाचना होकर आगमों का सम्पादन एवं लेखन कार्य हुआ, उस समय उनमें, वहां की क्षेत्रीय बोली महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आया। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य क्वचित् रूप से शौरसेनी और अधिक रूप में महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुआ। फिर भी ऐसा लगता है कि निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णिकाल तक (ईसा की द्वितीय शती से सातवीं शती तक) उसके अर्धमागधी स्वरूप को सुरक्षित रखने का प्रयत्न भी हुआ है। चूर्णिकाल 'पाठों' में तथा अचेल परम्परा के मूलाचार, भगवती आराधना तथा उसकी अपराजित सूरि की टीका, कषायपाहुड, षट्खण्डागम आदि और उनकी टीकाओं में ये अर्धमागधी रूप आज भी देखे जाते हैं। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का वर्तमान 'रामगुत्ते' पाठ, जो मूल में 'रामपुत्ते' था, चूर्णिकाल में 'रामाउत्ते' के रूप में सुरक्षित है।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि मागधी कैसे अर्धमागधी बनी और फिर उस पर शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव कैसे आया? इन प्राकृत

भाषाओं के कालक्रम की दृष्टि से विचार करें तो मागधी में आसपास की क्षेत्रीय बोलियों के प्रभाव से साहित्यिक प्राकृत के रूप में अर्धमागधी का उद्भव एवं विकास हुआ। इसके पश्चात् शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतें भी साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हुईं। जहां तक मागधी या प्रारम्भिक अर्धमागधी का प्रश्न है, उसके साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक (अभिलेखीय) दोनों प्रमाण उपलब्ध है, जो ई.पू. तीसरी-चौथी शताब्दी तक जाते हैं, किन्तु जहाँ शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का प्रश्न है, उसके मात्र साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध हैं, जो अधिकतम ईसा की द्वितीय शती से पांचवी के मध्य के हैं, उसके पूर्ववर्ती नहीं है। यद्यपि बोली के रूप में प्राकृतें अनेक रही हैं, उनमें संस्कृत के समान एकरूपता नहीं है। संस्कृत के दो ही रूप मिलते हैं, आर्ष और परवर्ती साहित्यिक संस्कृत। जबकि प्राकृतें अपने बोलीगत विभिन्न रूपों के कारण अनेक प्रकार की हैं। विविध प्राकृतों का एक अच्छा संग्रह हमें मृच्छकटिक नामक नाटक में मिलता है। किन्तु प्रस्तुत आलेख में मैंने उन सबका उल्लेख न करके जैन साहित्य के सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए अर्द्धमागधी, जैन शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का ही उल्लेख किया है और साथ ही काल क्रम में उनके विकासक्रम का भी उल्लेख किया है। यद्यपि कुछ अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर उत्तर पश्चिमी पाकिस्तान और अफगानिस्तान की पैशाची प्राकृत भी प्राचीन प्राकृत रही है। किन्तु कुछ अभिलेखों और नाटकों में प्रयुक्त उसके कुछ शब्दरूपों के अतिरिक्त उस सम्बन्ध में अधिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। जहां तक प्राकृत धम्मपद का प्रश्न है वह उससे प्रभावित अवश्य लगता है, किन्तु वह विशुद्ध पैशाची का ग्रन्थ है, यह नहीं कहा जा सकता है।

सामान्य रूप से प्राकृत भाषा के क्षेत्र की चर्चा करनी हो तो समस्त योरोपीय क्षेत्र एक समय में प्राकृतभाषी क्षेत्र रहा है। आज भी अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इतालवी आदि वर्तमान यूरोपीय भाषाओं तथा प्राचीन ग्रीक, लेटिन आदि में अपने उच्चारणगत शैलीभेद को छोड़कर अनेक शब्दरूप समान पाये जाते हैं। मैंने कुछ अर्धमागधी प्राकृत शब्दरूपों को वर्तमान अंग्रेजी में भी खोजा है, जैसे - बोंदी = बाडी, आउट्टे = आउट, नो = नो, दार = डोअर, भातर = ब्रदर आदि - जो दोनों में समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

प्रो. भायाणी और अन्य अनेक भाषावैज्ञानिकों ने इण्डो-आर्यन भाषाओं को तीन भागों में बांटा है। Old Indo-Aryan Languages, Middle Indo-Aryan Languages और Later Indo-Aryan Languages। उनके अनुसार प्राचीन भारोपीय आर्य भाषाओं में मुख्यतः ऋग्वेद एवं अवेस्ता की भाषाएं आती हैं। मध्यकालीन भारोपीय भाषाओं में विभिन्न प्राकृतों और लेटिन, ग्रीक आदि भाषाएं समाहित हैं। भाषा-वैज्ञानिकों ने मध्यकालीन इन भाषाओं को पुनः तीन भागों में वर्गीकृत किया है - १. प्राचीन मध्यकालीन भाषाएं, २. मध्य मध्यकालीन भाषाएं और ३. परवर्ती मध्यकालीन भाषाएं। इनमें प्राचीन मध्यकालीन भाषाओं में अशोक एवं खारवेल के अभिलेख की भाषाएं, पालि (परिष्कृत मागधी), अर्धमागधी, गान्धारी (प्राचीन पैशाची) एवं मथुरा के प्राचीन अभिलेखों की भाषाएं समाविष्ट होती हैं। जहां तक मध्य मध्यकालीन भाषाओं का प्रश्न है, उस वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें यथा मागधी, शौरसेनी, प्राचीन महाराष्ट्री, परवर्ती साहित्यिक महाराष्ट्री तथा पैशाची आती हैं। ज्ञातव्य है कि नाटकों की शौरसेनी और महाराष्ट्री की अपेक्षा जैन ग्रन्थों की शौरसेनी एवं महाराष्ट्री परस्पर एक दूसरे से और किसी सीमा तक परवर्ती अर्द्धमागधी से प्रभावित है। जब मैं यहाँ परवर्ती अर्धमागधी की बात करता हूँ तो मेरा तात्पर्य क्वचित् शौरसेनी एवं अधिकांशतः महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित अर्धमागधी से है, जो कुछ प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों यथा आचारांग, इसिभासियाइं आदि के प्राचीन पाठों को छोड़कर वर्तमान में उपलब्ध अधिकांश अर्धमागधी आगमों एवं उनकी प्राकृत व्याख्याओं तथा पउमचरियं आदि में उपलब्ध है। यद्यपि अर्धमागधी के कुछ प्राचीन पाठ ११वीं-१२वीं शती तक की हस्तप्रतों तथा भाष्य या चूर्णि के मूल पाठों में सुरक्षित है। संस्कृत मिश्रित प्राकृत में रचित चूर्णियों (७वीं शती) की भाषा में भी कुछ प्राचीन अर्धमागधी का रूप सुरक्षित है। प्रो. के.आर.चन्द्रा ने प्राचीन हस्तप्रतों, चूर्णिपाठों तथा अशोक और खारवेल के अभिलेखों के शब्दरूपों के आधार पर आचारांग के प्रथम अध्ययन का प्राचीन अर्धमागधी स्वरूप स्पष्ट किया है। जहां तक मध्यकालीन परवर्ती भारतीय आर्यभाषाओं का प्रश्न है, वे विभिन्न अपभ्रंशों के रूप में उपलब्ध हैं। इसके पश्चात् आधुनिक युग की भाषाएं आती हैं, यथा-हिन्दी, गुजराती, मराठी, पंजाबी, बंगला, मैथिल आदि।

इनका जन्म विभिन्न प्राकृतों से विकसित विभिन्न अपभ्रंशों से ही हुआ है ।

अब जहां तक प्राचीन अर्धमागधी के स्वरूप का प्रश्न है, उसके अधिकांश शब्दरूप अशोक एवं खारवेल के शिलालेखों तथा पालि त्रिपिटक के समकालिक हैं । डॉ. शोभना शाह ने आचारांगसूत्र की अर्धमागधी के शब्द-रूपों की खारवेल के अभिलेख से तुलना की है । उन्होंने बताया है कि - मध्यवर्ती 'त' का अस्तित्व आचारांग में ९९.५ प्रतिशत है और खारवेल के अभिलेख में १०० प्रतिशत है । मध्यवर्ती 'त' का 'य' (महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण) आचारांग में मात्र ०.५ प्रतिशत है । खारवेल के अभिलेख में उसका प्रायः अभाव है । मध्यवर्ती 'त' का 'द' जो कि शौरसेनी प्राकृत का प्रमुख लक्षण है - उसका आचारांग और खारवेल के अभिलेख में प्रायः अभाव है, जबकि कुन्दकुन्द के प्रवचनसार जैसे ग्रन्थ में वह ९५ प्रतिशत है । मध्यवर्ती 'ध' का 'घ' रूप आचारांग और खारवेल के अभिलेख में प्रायः शतप्रतिशत है । जबकि प्रवचनसार में मात्र ५० प्रतिशत है । ये और इस प्रकार के भाषिक परिवर्तनों से यह सिद्ध होता है कि अर्धमागधी के प्राचीन शब्दरूप प्रायः अशोक एवं खारवेल के अभिलेखों में मिल जाते हैं, जबकि शौरसेनी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत के शब्दरूपों का उनमें अभाव है । अतः यह ई.पू. की अभिलेखीय प्राकृत और अर्धमागधी में अधिक समरूपता है । अर्धमागधी का विकास मागधी और मगध के समीपवर्ती क्षेत्रीय बोलियों के शब्दरूप के मिश्रण से हुआ है । शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतों का विकास भी उन क्षेत्रों की क्षेत्रीय बोलियों से हुआ होगा, इसमें तो सन्देह नहीं है, किन्तु इन्हें साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता लगभग ईसा की ३री या चौथी शती में मिल पायी है । क्योंकि ई.पू. प्रथम शती से लेकर ईसा की २री शती तक के मथुरा से उपलब्ध अभिलेखों में शौरसेनी या महाराष्ट्री के लक्षणों का प्रायः अभाव है, जबकि उन पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । यदि शौरसेनी साहित्यिक प्राकृत के रूप में उस काल में प्रतिष्ठित होती तो उसके मुख्य लक्षण मध्यवर्ती 'त' का 'द' तथा इसी प्रकार शौरसेनी और महाराष्ट्री दोनों का विशेष लक्षण 'न' का सर्वत्र 'ण' कहीं तो मिलना था । जबकि अशोक, खारवेल और मथुरा के अभिलेखों में 'न' ही मिलता है, 'ण' नहीं । इससे यह प्रमाणित होता है कि जैन शौरसेनी प्राकृत अभिलेखीय प्राकृत से परवर्ती मागधी (पालि) और



अर्द्धमागधी के पश्चात् ही अस्तित्व में आई है ।

मेरी दृष्टि में क्षेत्रीय बोलियों की दृष्टि से प्राकृतें संस्कृत भाषा से प्राचीन हैं, किन्तु साहित्यिक भाषा के रूप में वे उससे परवर्ती हैं । संस्कृत भाषा चाहे वह आर्षग्रन्थों की भाषा रही हो या परवर्ती साहित्यिक ग्रन्थों की भाषा रही हो, वे व्याकरण के नियमों से बद्ध है और उनमें किसी सीमा तक एकरूपता है, जबकि प्राकृतें क्षेत्रीय बोलियों से उद्भूत होने के कारण बहुविध है । चाहे संस्कृत व्याकरण को आदर्श या मॉडल मानकर उनके व्याकरणों की संरचना हुई हो, फिर भी बहुविधता को बनाये रखा गया है, अतः विभिन्न प्राकृतों के शब्दरूपों में आंशिक समरूपता और आंशिक भिन्नता मिलती है । यहां यह ज्ञातव्य है - साहित्यिक प्राकृत ग्रन्थों की रचना पहले हुई और उनके शब्द-रूपों को समझाने के लिये व्याकरण ग्रन्थ बाद में बने । कोई भी प्राकृत व्याकरण ५वीं-६ठी शती से पूर्व का नहीं है । प्राकृतों के व्याकरण प्राकृत ग्रन्थों से परवर्ती काल के ही हैं ।

दूसरी बात यह है कि प्राकृत के शब्दरूपों को समझाने के लिए उनमें जो नियम बनाये गये वे संस्कृत के शब्दरूपों को आदर्श या मॉडल मानकर ही बनाये गये । अतः प्राकृत व्याकरणों में 'प्रकृतिः संस्कृतम्' - इस सूत्र का अर्थ केवल इतना ही है कि इस प्राकृत के शब्दरूपों को समझाने का आधार संस्कृत है । जो लोग इस सूत्र के आधार पर यह अर्थ लगाते हैं कि संस्कृत से विकृत होकर या उससे प्राकृत का जन्म हुआ, वे भ्रान्ति में हैं । संस्कृत और प्राकृत शब्द ही इस बात के प्रमाण है कि कौन पूर्ववर्ती है । प्राकृतें पुराकालीन क्षेत्रीय बोलियाँ हैं और उनका संस्कार करके ही संस्कृत भाषा का विकास, मानवसभ्यता के विकास के साथ हुआ है । वैज्ञानिक दृष्टि से मानवसभ्यता कालक्रम में विकसित हुई है । अतः उसकी भाषा भी विकसित हुई है । ऐसा नहीं है कि आदिम मानव शुद्ध संस्कृत बोलता था और फिर उसके शब्दरूपों या उच्चारण में विकृति आकर प्राकृतें उत्पन्न हो गईं । अतः प्राकृत व्याकरणों में जहां भी सामान्य प्राकृत के लिए 'प्रकृतिः संस्कृतम्' शब्द आया है - वह यही सूचित करता है कि संस्कृत को अथवा अन्य किसी प्राकृत को आदर्श या मॉडल मानकर उस व्याकरण की संरचना की गई है । इसी प्रकार विभिन्न

प्राकृतों के पारस्परिक सम्बन्ध समझाने के लिए जब 'शेषं शौरसेनीवत्' आदि सूत्र आते हैं तो उनका तात्पर्य भी मात्र यही है कि उसके विशिष्ट नियम समझाये जा चुके हैं, शेष नियम शौरसेनी आदि किसी भी आदर्श प्राकृत के समान ही है। उदाहरण के रूप में हेमचन्द्राचार्य जब मागधी या आर्षप्राकृत के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि - 'शेषं प्राकृतवत्' तो उसका तात्पर्य यह नहीं है कि मागधी प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत या सामान्य प्राकृत से विकसित हुई। क्षेत्रीय बोलियों में चाहे कालक्रम में परिवर्तन आये भी हों और अपनी समीपवर्ती बोलियों से प्रभावित हुई हो, किन्तु कोई भी किसी से उत्पन्न या विकसित नहीं हुई है। सभी प्राकृतें अपनी क्षेत्रीय बोलियों से विकसित हुई हैं। यद्यपि क्षेत्रीय बोलियों के रूप में प्राकृतों का कालक्रम निश्चित करना कठिन है। किन्तु अभिलेखों एवं ग्रन्थों के आधार पर इन विभिन्न प्राकृतों के कालक्रम के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है :-

१. अशोक के अभिलेखों की प्राचीन मागधी उपलब्ध प्राकृतों में सबसे प्राचीन है। उससे कुछ परवर्ती खारवेल के अभिलेख की भाषा है। जिसमें मागधी के साथ-साथ उड़ीसा की तत्कालीन क्षेत्रीय बोली का प्रभाव है। ई.पू. तीसरी शताब्दी से प्रथम शती तक इनका काल है।
२. इन अभिलेखों के लगभग समकालीन या कुछ परवर्ती पाली त्रिपिटक एवं अर्धमागधी के प्राचीन ग्रन्थ आचारांग, इसिभासियाइं आदि के पूर्ववर्ती संस्करणों की भाषा है। इसके प्रमाण कुछ प्राचीनतम हस्तप्रतों में आज भी अधिकांशतः सुरक्षित हैं। इनका काल भी प्रायः पूर्ववत् ई.पू. ही है।
३. तीसरे क्रम पर प्रज्ञापना आदि परवर्ती अर्धमागधी आगमों की तथा आगमतुल्य शौरसेनी के ग्रन्थों की एवं मथुरा के प्राचीन अभिलेखों की भाषा है। पैशाची प्राकृत भी इन्हीं की प्रायः समकालिक है। इसके अतिरिक्त कुछ प्राचीन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें भी इसी काल की हैं। इस काल का प्राचीन आदर्श ग्रन्थ 'पउमचरियं' है। इनका काल ईसा की प्रथम शती से पांचवीं शती के मध्य माना जाता है।

कालक्रम का यह निर्धारण अनुमानित ही है। इसको एक-दो शती आगे-पीछे किया जा सकता है।

मागधी एवं अर्धमागधी क्यों प्राचीन हैं? क्योंकि भगवान महावीर और भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश इसी भाषा में दिये थे। इस सम्बन्ध में 'अर्धमागधी आगम' साहित्य से कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। यथा :-

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खई । - समवायांग, समवाय ३४, सूत्र २२
२. तए णं समणे भगवं महावीरे कुणिअस्स भंभसारपुत्तस्स अद्धमागहाए भासाए भासिता अरिहा धम्मं परिकहेई । - औपपातिक सूत्र १
३. गोयमा ! देवा णं अद्धमागहीए भासाए भासंति स वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसज्जति । - भगवई, लाडनूँ, शतक ५, उद्देशक ४, सूत्र ९३
४. तए णं समणे भगवं महावीरे उसभदत्तमाहणस्स देवाणंदामाहणीए तीसे य महति महलियाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए ... सव्वभाषाणु-गमिणिय सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए भासए धम्मं परिकहेई । - भगवई, लाडनूँ, शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १४९
५. तए णं समणे भगवं महावीरे जामालिस्स खत्तियकुमारस्स ... अद्धमागहाए भासाए भासइ धम्मं परिकहेइ । - भगवई, लाडनूँ, शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १६३
६. सव्वसत्तसमदरिसीहिं अद्धमागहाए भासाए सुत्तं उवदिट्ठं । - आचारांगचूर्णि, जिनदासगणि, पृ. २५५

न केवल श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों में अपितु दिगम्बर परम्परा के शौरसनी ग्रन्थों में भी यह उल्लेख मिलते हैं कि भगवान महावीर के उपदेश की भाषा अर्धमागधी ही थी। आचार्य कुन्दकुन्द की कृति के रूप में मान्य बोधपाहुड की ३२ वीं गाथा में तीर्थकरों के अतिशयों की चर्चा है। उसकी टीका में श्रीश्रुतसागरजी लिखते हैं कि - 'सर्वाऽर्धमागधीया भाषा भवति' अर्थात् उनकी सम्पूर्ण वाणी अर्धमागधी भाषा रूप होती है। पूज्य जिनेन्द्रवर्णी जिनेन्द्र

सिद्धान्तकोश भाग २ पृ. ४३१ पर भगवान के दिव्यध्वनि की चर्चा करते हुए दर्शन-प्राभृत एवं चन्द्रप्रभचरित (१८/१) के सन्दर्भ देकर लिखते हैं कि - 'तीर्थंकर की दिव्यध्वनि आधी मगधदेश की भाषारूप और आधी सर्वभाषारूप होती है' । आचार्य प्रभाचन्द्र नन्दीश्वर भक्ति के अर्थ में लिखते हैं कि- 'उस दिव्यध्वनि का विस्तार मागध जाति के देव करते हैं, अतः अर्धमागधी देवकृत अतिशय है' । श्रीविद्यासागरजी के शिष्य श्रीप्रमाणसागरजी अपनी पुस्तक जैनधर्म-दर्शन (प्रथम संस्करण) पृ. ५० पर लिखते हैं कि - 'भगवान महावीर का उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी भाषा में हुआ' आदि । इस प्रकार जैन परम्परा समग्र रूप से यह स्वीकार करती है कि भगवान महावीर के उपदेशों की भाषा अर्धमागधी थी । क्योंकि उनका विचरण क्षेत्र प्रमुखतया मगध और उसका समीपवर्ती क्षेत्र था । यही कारण था कि उनकी उपदेश की भाषा आसपास के क्षेत्रीय शब्दरूपों से युक्त मागधी अर्थात् अर्धमागधी थी । वक्ता उसी भाषा में बोलता है जो उसकी मातृभाषा हो या श्रोता जिस भाषा को जानते हैं । अतः भगवान महावीर के उपदेशों की भाषा अर्धमागधी ही रही होगी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्धमागधी भाषा का उद्भव ई.पू. पांचवीं-छठी शती में भगवान महावीर के उपदेशों की भाषा के रूप में हुआ, जो कालान्तर में अर्धमागधी आगम साहित्य की भाषा बन गई । जब हम अर्धमागधी भाषा के विकास की बात करते हैं तो उस भाषा के स्वरूप में क्रमिक परिवर्तन कैसे हुआ और उसमें निर्मित साहित्य कौन सा है, यह जानना आवश्यक है । मेरी दृष्टि में यह एक निर्विवाद तथ्य है कि व्याकरण के नियमों से पूर्णतः जकड़ी हुई संस्कृत भाषा को छोड़कर कोई भी भाषा दीर्घकाल तक एकरूप नहीं रह पाई । स्वयं संस्कृत भी दीर्घकाल तक एकरूप नहीं रह पाई । उसके भी आर्ष संस्कृत और परवर्ती साहित्यिक संस्कृत ऐसे दो रूप मिलते ही हैं । वे सभी भाषाएं जो लोक बोलियों से विकसित होती हैं । सौ-दो सौ वर्ष तक भी एकरूप नहीं रह पाती हैं । वर्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के साहित्यिक रूपों में कैसा परिवर्तन हुआ, यह हम सामान्य रूप से जानते ही हैं । अतः अर्धमागधी भी चिरकाल तक एकरूप नहीं रह पायी । जैसे-जैसे जैन धर्म का विस्तार उत्तर-पश्चिमी भारत में हुआ, उस पर शौरसेनी

एवं महाराष्ट्री के शब्दरूपों का प्रभाव आया तथा उच्चारण में शैलीगत कुछ परिवर्तन भी हुए। अर्धमागधी के साथ सबसे दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य यह रहा कि वह भगवान महावीर के काल से वलभी की अन्तिम वाचना के काल (वीरनिर्वाण ९८० वर्ष / ९९३ वर्ष) अर्थात् एक हजार वर्ष तक मौखिक रूप में ही प्रचलित रही। इसके कारण उसके स्वरूप में अनेक परिवर्तन आये और अन्ततोगत्वा वह शौरसेनी से गुजरकर महाराष्ट्री प्राकृत की गोदी में बैठ गई।

विभिन्न प्राकृतों के सहसम्बन्ध को लेकर विगत कुछ वर्षों से यह भ्रान्तधारणा फैलाई जा रही है कि अमुक प्राकृत का जन्म अमुक प्राकृत से हुआ। वस्तुतः प्रत्येक प्राकृत का जन्म अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों से हुआ है। समीपवर्ती क्षेत्रों की बोलियों में सदैव आंशिक समानता और आंशिक असमानता स्वाभाविक रूप से होती है। यही कारण था कि अचेल परम्परा के शौरसेनी ग्रन्थों में भी कुछ लक्षण अर्धमागधी के और कुछ लक्षण महाराष्ट्री प्राकृत के पाए जाते हैं, क्योंकि यह मध्यदेशीय भाषा रही है। उसका सम्बन्ध पूर्व और पश्चिम दोनों से है, अतः उस पर दोनों की भाषाओं का प्रभाव आया है। प्राकृतें आपस में बहनें हैं - उनमें ऐसा नहीं है कि एक माता है और दूसरी पुत्री है। जिस प्रकार विभिन्न बहनें उम्र में छोटी-बड़ी होती हैं, वैसे ही साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर उनमें कालक्रम हो सकता है। अतः हमें यह दुराग्रह छोड़ना होगा कि सभी प्राकृतें मागधी या शौरसेनी से उद्भूत हैं। प्राकृतें मूलतः क्षेत्रीय बोलियाँ हैं और उन्हीं क्षेत्रीय बोलियों को संस्कारित कर जब उनमें ग्रन्थ लिखे गये तो वे भाषाएँ बन गईं। अर्धमागधी के उद्भव और विकास की यही कहानी है।

C/o. प्राच्य विद्यापीठ  
शाजापुर (म.प्र.)

## क्या 'आर्यावती' जैन सरस्वती है ?

प्रो. सागरमल जैन

मैंने अपने पूर्व के दो आलेखों - १. अर्धमागधी जैन आगम साहित्य में सरस्वती और २. जैनधर्म में सरस्वती उपासना - में जैनधर्म में सरस्वती की अवधारणा और उपासना का विकास किस रूप में हुआ, यह देखने का प्रयास किया था। प्रस्तुत आलेख में मेरे विमर्श का विषय है - क्या मथुरा के जैन शिल्प में उपलब्ध आर्यावती के दो शिल्पांकन वस्तुतः जैन सरस्वती या जैन श्रुतदेवी (श्रुतदेवता) के शिल्पांकन हैं ?

ज्ञातव्य है कि मथुरा के कंकालीटीला के जैन स्तूप से जो पुरासामग्री उपलब्ध हुई है, उसमें जैन सरस्वती की प्रतिमा के साथ-साथ दो आयागपट्ट ऐसे उपलब्ध हुए हैं जिनपर 'आर्यावती' नामक किसी देवी प्रतिमा का शिल्पांकन है। यह देवीप्रतिमा क्या श्रुतदेवी या जैन सरस्वती है ? यही प्रस्तुत आलेख का समीक्ष्य विषय है, क्योंकि आज तक अनेक भारतीय और पाश्चात्य पुराविद् यह निर्णय नहीं कर पाये हैं कि यह 'आर्यावती' की देवीप्रतिमा वस्तुतः कौन सी देवी की प्रतिमा (शिल्पांकन) है ? क्योंकि प्राचीन जैन आगम साहित्य एवं आगमिक व्याख्या साहित्य में कहीं भी हमें आर्यावती का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। जैनैतर बौद्ध एवं ब्राह्मण साहित्य में भी मुझे आर्यावती का कोई उल्लेख देखने को नहीं मिला। इसी समस्या को लेकर प्रस्तुत आलेख लिखा गया है और विद्वानों एवं पुराविदों से यह आग्रह है कि वे इस सम्बन्ध में अपनी समीक्षा प्रस्तुत करें।

यह सुस्पष्ट है कि प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगम साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भगवतीसूत्र में सुयदेवता (श्रुतदेवता) और सरस्वती का स्पष्ट उल्लेख है, किन्तु उन सन्दर्भों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि उसमें श्रुतदेवी या सरस्वती जिनवाणी का ही एक विशेषण या जिनवाणी का ही रूप है। वह कोई देवी है ऐसी अवधारणा वहाँ नहीं है। आगमों में तो अहिंसा या सत्य की अवधारणाओं को भी 'भगवती' या भगवान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किसी देव या देवी के रूप में नहीं। प्रश्नव्याकरण सूत्र में 'सा अहिंसा

भगवई' या 'सच्चं खु भगवं' - ऐसे वाक्यांश उपलब्ध हैं। श्रुतदेवता भी 'श्रुत' ही है। भगवई, भगवं या देवता, ये मात्र आदर सूचक विशेषण हैं। किसी देव-देवी के सूचक नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में सरस्वती जिनवाणी की और श्रुतदेवता श्रुत (जिनवाणी) के ही प्रतीक थे। किसी विशेष देवसत्ता के सूचक नहीं थे। किन्तु कालान्तर में सुयदेवता या सरस्वती को एक देवीविशेष मानकर उसकी उपासना भी प्रारम्भ हो गई।

मथुरा से ईसा की द्वितीय शती के लगभग की जो जैन सरस्वती की प्रतिमा तथा ईसा पूर्व या ईसा की प्रथम शती के जो दो आयागपट्ट उपलब्ध हुए हैं वे यही सूचित करते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शती से जिनवाणी - श्रुतदेवी (आर्यावती) और सरस्वती के रूप में मान्य होकर एक उपासना का विषय बन गई थी। पहले आयागपट्ट में उसका शिल्पांकन हुआ और फिर सरस्वती की प्रतिमा बनी।

मथुरा से हमें ईसा की प्रथम-द्वितीय शती की सरस्वती की एक लेखयुक्त प्रतिमा उपलब्ध होती है। इस प्रतिमा की विशेषता यह है कि यह दो भुजा वाली सरस्वती की प्रतिमा है। उसके एक हाथ में पुस्तक होने से तथा अभिलेख में सरस्वती शब्द का स्पष्ट उल्लेख होने से, साथ ही इसकी प्रतिष्ठा वाचक आर्यदेव के शिष्य गणी माघहस्ति के शिष्य आर्य हस्तहस्ती (नागहस्ति) द्वारा होने से यह सुस्पष्ट है कि यह जैन सरस्वती की प्रतिमा है। ज्ञातव्य है कि आचार्य माघहस्ति और नागहस्ति ईसा की प्रथम शती के प्रमुख जैन आचार्य थे। उन्होंने वर्ष ५४ (सम्भवतः शक संवत्) की शीतऋतु (हेमन्त) के चतुर्थमास (अर्थात् फाल्गुन मास) के दसवें दिन स्वर्णकार गोव के पुत्र सिंह के द्वारा यह सरस्वती की प्रतिमा दान में प्राप्त कर प्रतिष्ठित की। इस लेख का प्रारम्भ 'सिद्ध' से होता है तथा इसमें आचार्य माघहस्ति के शिष्य हस्तहस्ति (नागहस्ति) को कोट्टियगण, स्थानिक कुल, वैयरी शाखा तथा श्रीगृह सम्भोग का बताया गया है। इस प्रकार प्राप्तिस्थल, अभिलेखीय साक्ष्य आदि से यह सिद्ध होता है कि यह विश्व की प्राचीनतम सरस्वती प्रतिमा है और जैन धर्म से सम्बन्धित है। प्रतिमा की गर्दन के उपर का भाग खण्डित है। प्रतिमा बैठी

हुई है। उसके एक हाथ में पुस्तक, दूसरे हाथ का अग्रभाग खण्डित है, फिर भी ऐसा लगता है कि वह हाथ वरद मुद्रा में रहा होगा। प्रतिमा के ओर एक जैन श्रमण है, जो नग्न है किन्तु उसके हाथ में ऊनी कम्बल तथा दूसरे हाथ में पात्र है। दूसरी ओर हाथ जोड़े हुए एक गृहस्थ का अंकन है जो वर्तमान के श्वेताम्बर श्रमणों के समान अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किये हुए है तथा पादपीठ पर अभिलेख है।



इस सरस्वती के अतिरिक्त कंकाली टीला जैन स्तूप मथुरा के परिसर से हमें दो आयागपट्ट ऐसे मिले हैं, जिन पर आर्यावती का शिल्पांकन उपलब्ध होता है। दोनों ही आयागपट्ट अभिलेखों से युक्त हैं। इनमें एक अभिलेख का प्रारम्भ 'नमो अरहतो वर्धमानस्' से होता है और दूसरे अभिलेख का प्रारम्भ 'सिद्धम्' से होता है। अतः यह दोनों पट्ट भी जैनधर्म से ही सम्बन्धित है। किन्तु इनमें 'आर्यावती' नामक जिस देवी का

उल्लेख एवं शिल्पांकन है, वह आर्यावती कौन है? उसका जैनधर्म से सम्बन्ध किस रूप में रहा हुआ है? यह प्रश्न आज तक अनिर्णीत ही रहा है। कुछ विद्वानों ने इसे तीर्थंकर माता के रूप में पहचानने का प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु पहली सुलझी नहीं। इस पहली को सुलझाने का ही एक प्रयत्न इस लेख में भी किया जा रहा है, किन्तु इस चर्चा के पूर्व हमें उन दोनों फलकों के चित्रों और उनके अभिलेखों को सम्यक् प्रकार से समझ लेना होगा। एक फलक पर 'आर्यावती' नाम का स्पष्ट निर्देश है, दूसरे फलक पर आर्यावती नाम का स्पष्ट निर्देश तो नहीं है, किन्तु दोनों शिल्पांकन एक समान होने से यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि ये दोनों फलक आर्यावती से सम्बन्धित है। हम क्रमशः उनके चित्र एवं विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं :-



### प्रथम फलक



प्रस्तुत चित्र में 'आर्यावती' मध्य भाग में खड़ी हुई, उसका एक हाथ वरद मुद्रा में है और दूसरा हाथ कमर पर है। उसके एक ओर एक चँवरधारिणी स्त्री खड़ी हुई है, और दूसरी ओर दो स्त्रियां खड़ी हुई हैं। उनमें प्रथम के हाथ में छत्रदण्ड है और दूसरी के हाथों में माला है। आर्यावती के कमर के नीचे के भाग में एक बालक या पुरुष खड़ा हुआ दिखाया गया है, जो दोनों हाथ जोड़े हुए नमस्कार की मुद्रा में स्थित है।

इस फलक के उपर जो अभिलेख ब्राह्मी लिपि में है, उसे निम्न रूप में पढ़ा गया है -

अर्हत् वर्धमान को नमस्कार हो ।

स्वामी महाक्षत्रप सोडास संवत्सर बयालीस के हेमन्त ऋतु के द्वितीय मास की नवमी तिथि को हारित के पुत्र पाल की भार्या कोत्सीय अमोहनीय के द्वारा अपने पुत्रों पालघोष, पोठगघोष और धनघोष के साथ आर्यावती की प्रतिष्ठा की गई ।

आर्यावती अर्हत् की पूजा के लिए ।

इस अभिलेख के प्रारम्भ में अर्हत् वर्धमान को नमस्कार से तथा 'आर्यावती अर्हत् की पूजा के लिए' इस उल्लेख से इतना तो निश्चित हो जाता है कि यह अभिलेख जैन परम्परा से सम्बन्धित है। मेरी दृष्टि में अर्हत् के स्थान पर आर्हत् पाठ अधिक समीचीन लगता है, क्योंकि प्राचीन काल में जैनधर्म के अनुयायी 'आर्हत्' (अर्हत् के उपासक) कहे जाते थे।

फिर भी 'आर्यावती' आर्हत्ओं अर्थात् जैनों के लिए किस रूप में उपास्य

थी, यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है ।

### द्वितीय फलक



यह फलक एक कोने से खण्डित है । इसके उपर के भाग में मध्य में स्तूप और दोनों ओर दो-दो तीर्थंकर प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं । इस भाग के उपर की ओर और नीचे की ओर अभिलेख अंकित हैं । उसके नीचे दायी ओर 'आर्यावती' का शिल्पांकन है जो प्रायः प्रथम फलक के समान ही है; आर्यावती के समीप एक जैन मुनि (आर्यकण्ह) खड़े हुए हैं । उनके एक हाथ में पिच्छिका है, यह हाथ उपर उठा हुआ है, दूसरे हाथ

में कम्बल और मुखवस्त्रिका है, जिससे वे अपनी नग्नता छिपाए हुए हैं । उनके समीप छोटे आकार के तीन व्यक्तियों का अंकन है । उनमें उपर की ओर जो व्यक्ति खड़ा है वह हाथ जोड़े हुए है, किन्तु उसके सिर पर फनावली अंकित है । नीचे, मेरी दृष्टि में, कोई साध्वी अंकित है, जिसके एक हाथ में पिच्छिका और दूसरे हाथ में मुखवस्त्रिका अस्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं । उसके पास कोई स्त्री खड़ी है और वह अपने हाथ से आर्यिका का स्पर्श करते हुए या हाथ जोड़े हुए है । चूँकि इस फलक का सम्बन्ध स्पष्टतः आर्यकण्ह के साथ है, मेरी दृष्टि में यही कारण है कि गृहस्थ उपासक के रूप में सर्पफनावली के साथ बलराम को अंकित किया गया हो ।<sup>१</sup> क्योंकि हिन्दू परम्परा में कृष्ण

१. यहां आर्यकण्ह यानी आर्य कृष्ण एक जैन आचार्य का नाम है । उसको 'कृष्ण' वासुदेव मान लेना, व हिन्दू परम्परा का सन्दर्भ देकर सर्वफनावलीवाली आकृति को बलराम कह देना नितान्त क्लिष्ट है व भ्रान्तिजनक प्रतिपादन है । फिर बलराम के सिर पर सर्पफनावली हो, यह हिन्दू (एवं जैन) परम्परा को मान्य भी कहां ? अतः यह आकृति को बलराम के साथ जोड़ना कतई उचित नहि लगता । -श्री.

के साथ बलराम को इसी रूप में अंकित किया जाता है। आर्यकण्ह का उल्लेख कल्पसूत्र पट्टावली के साथ-साथ आवश्यकभाष्य में विस्तार से मिलता है। वस्त्र के प्रश्न को लेकर उनका शिवभूति से जो विवाद हुआ था, वह भी सर्वज्ञात हैं। यहां मैं उस चर्चा में नहीं जाऊंगा। यहाँ हमारा विवेच्य तो 'आर्यावती' की पहचान ही है।

सरस्वती प्रतिमा और इन दोनों फलकों में एक बात विशेष रूप से चिन्तनीय है कि इन दोनों फलकों और सरस्वती की प्रतिमा में गृहस्थ को ही हाथ जोड़े हुए मुद्रा में दिखाए गए हैं, मुनि को नहीं। मुनि मात्र अपनी उपधि (सामग्री) के साथ स्थित है।

फलक दो का जो अभिलेख है, उसका वाचन इस रूप में हुआ है:-

सिद्धम् । सं. १५ के ग्रीष्म ऋतु के द्वितीय मास के १८ वे दिन (सम्भवतः शक संवत् १५ के वैशाख शुक्ल तृतीया या अक्षयतृतीया को) कोट्टियगण, स्थानिककुल, वैरा शाखा की आर्य अर्हत् (दिन) की शिष्या, गृहदत्त की पुत्री एवं धनहस्तिश्रेष्ठी की पत्नी द्वारा (विद्या) दान ।

इस फलक में देवी और श्रमण के बीच बड़े अक्षरों में 'कण्ह' शब्द यही सूचित करता है कि यह अंकन आर्यकण्ह का है। किन्तु देवी अंकन के समीप 'विद्या' का अंकन कहीं यह तो नहीं बताता है - यह 'विद्या' का अंकन है।

इस प्रकार आर्यावती, विद्या एवं सरस्वती - ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं या किसी एक के सूचक पर्यायवाची नाम हैं, यह विचारणीय है। कहीं आर्यावती, विद्या और सरस्वती एक तो नहीं है ?

इस सम्बन्ध में प्रारम्भ में तो मैं स्वयं भी अस्पष्ट ही था, किन्तु संयोग से मुझे प्रभाशंकर-सोमपुरा की कृति भारतीय शिल्प संहिता के कुछ जिराक्स पृष्ठ प्राप्त हुए, जिसके पृष्ठ १४० पर सरस्वती के (१२) बारह पर्यायवाची नामों का उल्लेख मिला। इसमें सरस्वती के निम्न १२ पर्यायवाची नामों का उल्लेख किया गया है - १. महाविद्या, २. महावाणी, ३. महाभारती, ४. आर्या, ५.

सरस्वती, ६. ब्राह्मी, ७. महाधेनु, ८. वेदगर्भा, ९. ईश्वरी, १०. महालक्ष्मी, ११. महाकाली, १२. महासरस्वती । इससे मुझे ऐसा आभास हुआ कि प्राचीनकाल में सरस्वती को ही विद्या, आर्या (वती), सरस्वती आदि नामों से जाना जाता था । जैन परम्परा में भी भाषाओं में आर्यभाषा और अनार्यभाषा का उल्लेख मिलता है; इससे यह फलित होता है कि प्राचीन काल में सरस्वती का अन्य नाम आर्यावती, विद्या या महाविद्या भी रहे होंगे । पुनः प्राचीन जैन प्राकृत ग्रन्थ भी प्रमुख रूप से आर्या छन्द में लिखे गये हैं इससे यह फलित होता है कि आर्या (आर्यावती) का सम्बन्ध सम्यक् ज्ञान से अर्थात् जिनवाणी से है और यह सरस्वती का ही एक उपनाम है । इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वस्तुतः मथुरा में उपलब्ध विद्या एवं आर्यावती भी सरस्वती ही है ।

उस ग्रन्थ में सरस्वती के बारह नाम और लक्षण इस प्रकार दिए गए हैं :-

### अथ द्वादश सरस्वती स्वरूपाणि (देवतामूर्ति प्रकरणम्)

एकवक्त्राः चतुर्भुजा मुकुटेन विराजिताः ।

प्रभामंडलसंयुक्ताः कुंडलान्वितशेखराः ॥१॥ इति सरस्वती लक्षणानि ।

अक्ष-पद्म-वीणा-पुस्तकैर्महाविद्या प्रकीर्तिता । इति महाविद्या १

अक्ष-पुस्तक-वीणा-पद्मैः महावाणी च नामतः ॥२॥ इति महावाणी २

वराक्षं पद्मपुस्तके शुभावहा च भारती । इति भारती ३

वराक्षपद्मपुस्तकैः सरस्वती प्रकीर्तिता ॥३॥ इति सरस्वती ४

वराक्षं पुस्तकं पद्मं आर्या नाम प्रकीर्तिता ॥ इत्यार्या ५

वरपुस्तकपद्माक्ष(क्षा) ब्राह्मी नाम सुखावहा ॥४॥ इति ब्राह्मी ६

वर-पद्म-वीणा-पुस्तकैः महाधेनुश्च नामतः । इति महाधेनुः ७

वरं च पुस्तकं वीणा वेदगर्भा तथाम्बुजम् ॥५॥ इति वेदगर्भा ८

अक्षं तथाऽभयं पद्मपुस्तकैरीश्वरी भवेत् । इति ईश्वरी ९

अक्षं पद्मं वरग्रन्थौ महालक्ष्मीस्तु धारिणी ॥६॥ इति महालक्ष्मी १०

अक्षं पद्मं पुस्तकं च महाकाल्या वरं तथा । इति महाकाली ११

अक्षपुस्तकवीणाश्च पद्मं महासरस्वती ॥७॥ इति महासरस्वती १२

इति द्वादश सरस्वतीस्वरूपाणि (जयमते)

		दक्ष		वाम	
		नीचे	उपर	उपर	नीचे
१.	महाविद्या	माला	कमल	वीणा	पुस्तक
२.	महावाणी	माला	पुस्तक	वीणा	कमल
३.	भारती	वरद	माला	कमल	पुस्तक
४.	सरस्वती	वरद	कमल	माला	पुस्तक
५.	आर्या	वरद	माला	पुस्तक	कमल
६.	ब्राह्मी	वरद	पुस्तक	माला	पद्म
७.	कामधेनु	वरद	पद्म	वीणा	पुस्तक
८.	वेदगर्भा	वरद	पुस्तक	वीणा	कमल
९.	ईश्वरी	माला	अभय	कमल	पुस्तक
१०.	महालक्ष्मी	माला	पद्म	वीणा	पुस्तक
११.	महाकाली	माला	कमल	पुस्तक	अभय
१२.	महासरस्वती	माला	पुस्तक	वीणा	पद्म



आर्या

# हिन्दु और जैन व्रत : एक क्रियाप्रतिक्रियात्मक लेखाजोखा

डॉ. अनीता बोथरा

## शीर्षक का स्पष्टीकरण :

वेद से प्रारम्भित होकर पुराण तथा विविध भक्तिसम्प्रदायों में विचार की जो धारा बहती चली आयी है उसे हम वैदिक, वेदोत्तरकालीन, ब्राह्मण या हिन्दु परम्परा कह सकते हैं। व्रतों के सन्दर्भ में पौराणिक काल में जो विचार अन्तर्भूत हुए हैं उनको इस शोधनिबन्ध में केन्द्रीभूत स्थान देकर हमने 'हिन्दु परम्परा' शब्द का उपयोग शीर्षक में किया है। यद्यपि हिन्दु तथा हिन्दुत्व इन दोनों शब्दों के बारे में अभ्यासकों में बहुत मतभेद है तथापि वेद से आरम्भ होकर उत्तरकालीन महाकाव्य, दर्शन तथा पुराण में जो विचारप्रवाह बहता चला आया है उसे हम एक दृष्टि से हिन्दु कह सकते हैं।

## शोधनिबन्ध का प्रयोजन :

ब्राह्मण परम्परा से समान्तर बहती चली आयी दूसरी भारतीय विचारधारा श्रमण परम्परा के नाम से जानी जाती है। जैन और बौद्ध परम्परा में यह श्रामणिक विचारधारा साहित्य रूप में प्रवाहित हुई है। जैन विचारधारा श्रमण परम्परा में प्राचीनतम है। जैन साहित्य में प्रतिबिम्बित व्रतों का स्वरूप अपना एक अलग स्थान रखता है। हिन्दु और जैन दोनों धारा इसी भारतभूमि में उद्भूत तथा प्रवाहित होने के कारण उनमें हमेशा आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ निरन्तर चलती आयी हैं। व्रत-विचार के बारे में इन दोनों में जो क्रियाप्रतिक्रियाएँ हुईं उनका तर्कसंगत लेखाजोखा इस शोधनिबन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

हिन्दु अथवा ब्राह्मण परम्परा में प्रारम्भ के बहुतांश व्रत-विधान, विविध यज्ञीय क्रियाओं से सम्बन्धित थे। परिस्थितिजन्य कारणों से वे व्रत-विधान उपवास, पूजा तथा विविध ऐहिक, पारलौकिक व्रतों में परिणत हुए।

नेशनल संस्कृत कॉन्फरन्स, नागपुर, १, २, ३ मार्च २००९ में प्रस्तुत शोधपत्र

जैन परम्परा में भी आगमिक काल में, व्रतविधान, साधु द्वारा आचरित पंचमहाव्रत तथा श्रावक द्वारा स्वीकृत बारह व्रतों तथा तपों के स्वरूप में विद्यमान थे। इन महाव्रत, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत तथा तपों को सुरक्षित रखते हुए अनेकानेक उपवास, पूजा, तप आदि रूप में जैनियों में व्रताचरण की प्रवृत्ति हुई। हिन्दु तथा जैन दोनों परम्पराओं के अन्तर्गत परिवर्तनों का लेखाजोखा भी इस शोधनिबन्ध में सारांश रूप से प्रस्तुत किया है।

### वैदिक तथा वेदोत्तरकालीन व्रत

#### (१) 'व्रत'शब्द की व्युत्पत्ति :

व्रतशब्द के व्युत्पत्त्यर्थ में विद्वानों में बहुत सारे मतभेद दिखाई देते हैं।

डॉ. पा.वा.काणेजी ने व्रतशब्द 'वृ' तथा 'वृत्' इन दोनों धातुओं से व्युत्पन्न किया है। विविध मत देकर यह स्पष्ट किया है कि 'वृ-वरण करना' इस धातु को 'त' प्रत्यय लगाकर 'संकल्पित कृत्य', 'संकल्प' तथा 'इच्छा' इन अर्थों से 'व्रत'शब्द निकटता से जुड़ा हुआ है।

#### (२) 'व्रत'शब्द का अर्थ :

ऋग्वेद में 'ऋत', 'व्रत' और 'धर्मन्' ये शब्द बार-बार दिखाई देते हैं। उनके अर्थों में भी अनेक बार निकटता दिखाई देती है। 'ऋत' का सामान्य अर्थ है - देवों के द्वारा आरोपित निर्बन्ध अथवा नियम। 'धर्मन्' का अर्थ है - धार्मिक विधि अथवा यज्ञ। डॉ. काणेजी कहते हैं कि क्रमक्रमसे 'ऋत'-संकल्पना प्रचलन से चली गयी। उसकी जगह 'सत्य'शब्द का प्रयोग होने लगा। 'धर्म'शब्द सर्वसंग्राहक बना और 'व्रत'शब्द 'धार्मिक एवं पवित्र प्रतिज्ञा' तथा 'मनुष्य द्वारा आचरित निर्बन्धात्मक व्यवहार', इस सन्दर्भ में अर्थपूर्ण बना।<sup>१</sup>

#### (३) 'व्रत'शब्द के समास तथा 'व्रत' के विविध अर्थ :

डेक्कन कॉलेज के संस्कृत-महाशब्द-कोश के स्क्रिप्टोरियम में अन्तर्भूत सन्दर्भों के कार्ड्स पर नजर डालने पर यह पता चलता है कि ऋग्वेद में 'सत्यव्रत', 'प्रियव्रत', 'दृढव्रत' इ. समास हैं लेकिन 'अणुव्रत' समास नहीं है।

‘महाव्रत’ शब्द यद्यपि अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण, महाभारत और पुराणों में है, तथापि सत्य, अहिंसा आदि जैन महाव्रतों के पारिभाषिक अर्थ में न होकर केवल great vow, great penance अथवा great ceremony आदि अर्थ में आया है।<sup>३</sup>

ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषदों में व्रतशब्द का अर्थ है - ‘धार्मिक विधि’, ‘धर्मसम्बन्धी प्रतिज्ञा’ अथवा ‘अन्न-पान ग्रहण के नियम’। ‘श्रौत’, ‘गृह्य’ तथा ‘धर्मसूत्र’ में ‘व्यक्ति का विशिष्ट वर्तनक्रम अथवा उपवास’ इन दोनों अर्थ में व्रत शब्द पाया जाता है।<sup>३</sup>

‘मनु’ तथा ‘याज्ञवल्कीय स्मृति’ में ‘प्रायश्चित्तों’ को व्रत कहा है क्योंकि प्रायश्चित्तों में अनेकविध नियमों का पालन निश्चयपूर्वक किया जाता है।<sup>४</sup>

‘महाभारत’ से ज्ञात होता है कि वहाँ व्रत, ‘एक अंगीकृत धर्मकृत्य’ अथवा ‘अन्न तथा आचरण सम्बन्धी प्रतिज्ञा’ है।<sup>५</sup>

‘पातंजलयोग’ में अहिंसा, सत्य इ. व्रतों को प्रमुखता से ‘यम’ कहा है। उनके सार्वभौम और सम्पूर्ण आचरण के लिए ‘महाव्रतम्’ संज्ञा है।<sup>६</sup> जैन परम्परा में भी अहिंसा, सत्य आदि पाचों को ‘महाव्रत’ कहा जाता है, तथापि एकवचनी निर्देश न होकर प्रत्येक को स्वतन्त्र रूप से महाव्रत कहा गया है।<sup>७</sup> पातंजलयोगसूत्र में जैन परम्परा के प्रभाव के कारण महाव्रत संज्ञा अन्तर्भूत करने की आशंका हम रख सकते हैं। क्योंकि पातंजलयोग से प्रभावित उत्तरकालीन ग्रन्थों में यम-नियम-आसन आदि शब्दावली रूढ़ हुई है। ‘महाव्रत’ शब्द का प्रयोग क्वचित् ही पाया जाता है।

ब्राह्मण परम्परा में ईस्वी की २-३री शताब्दी से लेकर १०वीं शताब्दी तक ‘पुराण’ ग्रन्थों की संख्या वृद्धिगत होती चली। व्रतों की संख्या भी बढ़ती गयी। प्रायः सभी पुराणों में विविध प्रकार के व्रत विपुल मात्रा में पाये जाते हैं। उसके अनन्तर व्रतकथा और कोशों की निर्मिति हुई (इ.स. की १५ से १९वीं शताब्दी तक)। सब पुराणों में मिलकर लगभग २५,००० श्लोक व्रतसम्बन्धी है। व्रतों की संख्या लगभग १,००० है।<sup>८</sup>

ऋग्वेदकाल में धार्मिक अथवा पवित्र प्रतिज्ञा एवं आचरणसम्बन्धी निर्बन्ध इस अर्थ में व्रत शब्द का प्रयोग होता था। धीरे धीरे उसमें परिवर्तन



होते गये। पूजा, व्रत-विधान, उपवास, दान तथा महिना-वार-तिथि-पर्व आदि मुद्दों का समावेश होते हुए व्रतों की संख्या बढ़ती गयी और स्वरूप में भी परिवर्तन आये। इसकी कारणमीमांसा निम्नलिखित प्रकार से दी जा सकती है।

(४) हिन्दु परम्परा में 'व्रतपरिवर्तन' तथा 'व्रतवृद्धि' की कारणमीमांसा :

- ◆ वेद और ब्राह्मण काल में प्रचलित यज्ञ धीरे-धीरे आडम्बरयुक्त, पुरोहितप्रधान, खर्चीले और व्यामिश्र बनते चले गये। सर्वसामान्य व्यक्ति के लिए यज्ञविधि रचना नामुमकीनसा होता चला गया। आरम्भ में प्रायः सभी व्रत यज्ञविधि से सम्बन्धित ही थे। यद्यपि यज्ञ का प्रचलन कम होने लगा तथापि उससे सम्बन्धित व्रत परिवर्तित स्वरूप में रूढ होते चले।<sup>१०</sup>
- ◆ जैन और बौद्धों ने यज्ञ संस्था का जमकर विरोध किया। खासकर पशुहिंसात्मक यज्ञों की स्पष्ट और कठोर शब्दों में निन्दा की।<sup>१०</sup> परिणामस्वरूप यज्ञों की जगह धीरे-धीरे प्रासंगिक व्रतों ने ली होगी।
- ◆ केवल जैन और बौद्धों ने ही नहीं तो वैदिक या ब्राह्मण परम्परा के कुछ विचारवन्तों ने भी यज्ञ में निहित हिंसा को गर्हणीय मानी थी और अहिंसा तथा भक्तिप्रधान धर्माचरण के प्रति आस्था रखी थी। महाभारत तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार ब्राह्मण परम्परा में रहकर नारद ने पशुहिंसा का जो विरोध किया और नामसंकीर्तन का महिमा बताया, इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दु परम्परा के ही अन्तर्गत होनेवाले विरोधात्मक विचारप्रवाह से विविध व्रत-विधान, पूजा आदि का प्रचलन हुआ होगा।<sup>११</sup> नारद की अहिंसाप्रधान दृष्टि का गौरव इसी वजह से जैन परम्परा ने उसको ऋषिभाषित में स्थान देकर किया होगा।<sup>१२</sup>
- ◆ यज्ञप्रधान धर्म में स्त्रियाँ और शूद्रों को किसी भी प्रकार के धार्मिक विधि के अधिकार नहीं थे।<sup>१३</sup> समाज का इतना बड़ा हिस्सा धर्म से वंचित नहीं रह सकता था। व्रतों की विशेषता यही है कि व्रत

के अधिकारी चारों जातियों के गृहस्थ या गृहिणी हो सकते थे।<sup>१४</sup> व्रतों के विस्तृत वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि वहाँ जाति, लिंग आदि के निर्बन्ध बहुत कम है। हिन्दुधर्म के अन्तर्गत ही जाति-लिंग-निरपेक्ष धर्माचरण की आवश्यकता उत्पन्न हुई। जैन और बौद्धों ने जातिव्यवस्था पर भी कठोर आघात किये।<sup>१५</sup> परिणामवश व्रतों के विवेचन में कहीं भी 'अमुक जाति द्वारा किये गये व्रत', इस तरह के उल्लेख नहीं पाये जाते। व्रत कराने के लिए ब्राह्मण पुरोहित की आवश्यकता के संकेत बहुत ही कम मिलते हैं।

- ◆ जैनधर्म में श्रावक और श्राविकाओं के लिए बारह व्रतों के रूप में एक सुघट श्रावकाचार का प्रावधान था।<sup>१६</sup> बौद्धों ने भी पंचशील के रूप में उपासकाचार बताया था।<sup>१७</sup> हिन्दु धर्मशास्त्रियों ने परिवर्तित व्रतों के रूप में सभी जातियों के गृहस्थ तथा विशेषतः गृहिणियों के लिए आचार बनाया।<sup>१८</sup>
- ◆ आम समाज में प्रचलित धार्मिक तथा देवतालक्षी विधियों का वर्णन यद्यपि ग्रान्थिक कर्मकाण्डात्मक स्वरूप में स्मृतियों में अंकित नहीं किया गया है, तथापि 'लोकवेद' संज्ञा से सम्बोधित अथर्ववेद में आम समाज में प्रचलित रूढ़ी, परम्परा, कुलाचार, प्रघात, अन्धविश्वास, मन्त आदि के रूप में इसका दिग्दर्शन होता है। पुराणों में अंकित व्रतों पर इस लोकप्रचलित रूढ़ी, विधि आदि का भी जरूर प्रभाव रहा होगा।

### **आगम तथा आगमोत्तरकालीन व्रत**

(१) जैन परिप्रेक्ष्य में 'व्रत' का अर्थ :

'वृ' क्रियापद के जो विविध अर्थ संस्कृतकोश में दिये हैं, उसमें से 'मर्यादा करना', 'नियन्त्रण करना' तथा 'रोकना' यह अर्थ आगमकाल की व्रतसंकल्पना से सर्वाधिक मिलता जुलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैन और हिन्दु दोनों का व्रतों का व्युत्पत्त्यर्थ ही अलग अलग है। हिन्दुव्रत में 'संकल्प', 'इच्छा', 'प्रतिज्ञा' आदि को प्राधान्य है<sup>१९</sup> तो जैनव्रतों में 'विरति'

‘विरमण’, ‘संयम’, ‘मर्यादा’ आदि को प्राधान्य है। हिन्दु धर्म के प्रवृत्तिपरकतापर तथा जैन धर्म के निवृत्तिपरकतापर इस व्युत्पत्त्यर्थ के द्वारा ही यथार्थ प्रकाश पडता है। ‘उंछ’, ‘पिण्ड’ आदि अनेक शब्द जैन परम्परा ने ब्राह्मण परम्परा से लेकर अपने ढांचे में डाले हैं। तथापि व्रत शब्द की बात अलग है। जैन परम्परा में व्रत शब्द का अपना एक अलग खास अर्थ था। ‘हिंसा, अनृत, अस्तेय आदि से विरमण तथा विरति’ जैनियों ने व्रतस्वरूप मानी।<sup>११</sup> पूर्णरूप से विरति को ‘महाव्रत’ कहा तथा आंशिक विरति को ‘अणुव्रत’ कहा।<sup>१२</sup> जैन आचार पद्धति में महाव्रतों पर आधारित साधुआचार तथा बारह आंशिक व्रतों पर आधारित श्रावकाचार की परम्परा प्राचीन काल से लेकर आजतक बहती चली आयी।<sup>१३</sup> ये व्रत प्रासंगिक नहीं थे। एक बार ग्रहण किये तो आजन्म परिपालन की जिम्मेदारी थी। जैन परिप्रेक्ष्य में जिसे हिंसाविरति, अनृतविरति इ. कहा है, इस प्रकार के व्रतों का आचरण करनेवाले यतियों का उल्लेख हमें ऋग्वेद में मिलता है।<sup>१४</sup> ‘व्रात्यस्तोम’ शब्द से यही सूचित होता है। ऋग्वेद में उल्लिखित ये व्रात्य, श्रमण परम्परा के ही रहे होंगे। क्योंकि विरतिरूप व्रत धारण करने की संकल्पना वैदिक परम्परा के आरम्भ काल में प्रचलित ही नहीं थी। इससे स्पष्ट होता है कि जैनियों की व्रत संकल्पना ब्राह्मण परम्परा से अलग ही थी।

## (२) व्रतविषयक साहित्य की प्रथमावस्था :

आगमों में ‘व्रत’ शब्द साधु तथा श्रावक के आजन्म, नित्य आचार के लिए उपयोजित है। यद्यपि साधु तथा श्रावक के व्रतों का वर्णन पाया जाता है तथापि इन व्रतों के आरोपण की विधि, कर्मकाण्ड या आडम्बर का निर्देश आगमों में नहीं है। साधु और श्रावक, व्रत के आधार पर दोनों को यथाशक्ति आध्यात्मिक प्रगति करना अपेक्षित है। इस प्रगति का प्रमुख साधन है ‘तप’। तप का प्रयोजन है कर्मों की निर्जरा।<sup>१५</sup> किसी भी ऐहिक फलप्राप्ति की आकांक्षा से तप करने को ‘निदानतप’ कहके निम्नदर्जा पर रखा गया है।<sup>१६</sup> यह ‘व्रत’ तथा ‘तप’ संकल्पना की प्रथमावस्था ख्रिस्ताब्द पाँचवी शताब्दी तक के ग्रन्थों में पायी जाती है।<sup>१७</sup> इस प्रथमावस्था में आगमकाल में यद्यपि समाज में विविध प्रकार के मख, उत्सव, मन्त, रूढी, देवतापूजन आदि प्रचलन में थे<sup>१८</sup> तथापि

जैनियों के लिए उनके व्रतस्वरूप आचरण का कोई प्रावधान नहीं बना था ।

### ( ३ ) व्रतविषयक साहित्य की द्वितीयावस्था :

आगमकाल में विविध प्रकार के तपों का निर्देश है । उत्तरकाल में तपों का विस्तार से वर्णन करते करते धीरे धीरे तप के साथ विविध प्रकार की विधियाँ जुड़ गयी । तपोविधि के साथ फल भी अल्पांश मात्रा में निर्दिष्ट होने लगे । यह द्वितीयावस्था ख्रिस्ताब्द छठी शती से दसवीं सदी तक के ग्रन्थों में पायी जाती है ।

जटासिंहनन्दिकृत 'वरांगचरित' यह संस्कृत ग्रन्थ, डॉ. ए.एन्.उपाध्ये के अनुसार सातवी शताब्दी का है । आगमोक्त तपों को उन्होंने 'सत्तप' कहा है ।<sup>२९</sup> उनको 'व्रत' संज्ञा नहीं दी है । व्रत शब्द के अनेक समास ग्रन्थ में दिखायी देते हैं लेकिन वे सब प्रायः साधुव्रत तथा श्रावकव्रत के सन्दर्भ में हैं ।<sup>३०</sup> फलनिष्पत्ति के कथन की प्रवृत्ति दिखायी देती है ।<sup>३१</sup> जिनप्रतिमा, जिनपूजा, प्रतिष्ठा आदि का सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है ।<sup>३२</sup> किसी भी नये सुलभ व्रतों का निर्माण उन्होंने नहीं किया है ।

हरिवंशपुराण (८वी शताब्दी)<sup>३३</sup> तथा आदिपुराण (९वी शताब्दी)<sup>३४</sup> में आगमोक्त तपों का संक्षिप्त वर्णन है । कुछ तपों को 'विधि' कहा है । स्वर्ग तथा मोक्ष इन दोनों फलों का जिक्र किया है । उपवास की प्रधानता है । उद्यापन नहीं है ।

दसवी शताब्दी में तो तपोविधि के लिए व्रत शब्द का आम उपयोग होने लगा ।<sup>३५</sup> यह तथ्य गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' ग्रन्थ के निम्नलिखित श्लोक से उजागर होता है ।

व्रतात्प्रत्ययमायाति निर्व्रतः शङ्क्यते जनैः ।

व्रती सफलवृक्षो वा निर्व्रतो वन्ध्यवृक्षवत् ॥<sup>३६</sup>

इस प्रकार वरांगचरित से लेकर उत्तरपुराण तक के ग्रन्थों में व्रतसाहित्य की द्वितीयावस्था दिखायी देती है ।

### ( ४ ) व्रतविषयक साहित्य की तृतीयावस्था :

व्रतविषयक साहित्य की तृतीयावस्था लगभग ११वी शती से आरम्भ

होती है। इस काल में तपोविधि के साथ-साथ अन्य नये व्रतों की शुरूआत हुई। इन नये व्रतों को 'तप' के बदले 'व्रत' कहने का प्रारम्भ हुआ।

११वीं शताब्दी में महेश्वरसूरिने 'ज्ञानपंचमीकथा' में 'पंचमीवय' (पञ्चमीव्रत) शब्द का प्रयोग किया।<sup>३७</sup> इस एक व्रत के माहात्म्य के लिए दस कथाएँ लिखी। इसमें व्रत का संकल्प, विधि, उद्यापन तथा ऐहिक-पारलौकिक फल का स्पष्टतः निर्देश है।<sup>३८</sup> आश्चर्य की बात यह है कि ज्ञानपंचमी व्रत के फल आदि का कथन मुनियों के मुख से करवाया है।<sup>३९</sup> 'ज्ञानपंचमीकथा' जिस प्रकार एक व्रत पर आधारित है उसी प्रकार 'सुगन्धदशमीकथा' भी एक व्रत का माहात्म्य बताने के लिए रची गयी है।<sup>४०</sup>

१२वीं शताब्दी के जैन शौरसेनी ग्रंथ 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' में रोहिणी, अश्विनी, सौख्यसम्पत्ति, नन्दीश्वरपंक्ति और विमानपंक्ति इन व्रतों का निर्देश है। लेकिन खुद ग्रन्थकार ने इनको व्रत भी नहीं कहा है और तप भी। भाषान्तरकार तथा सम्पादक ने इनको स्पष्टतः 'व्रत' कहा है। इस ग्रन्थ में स्वर्ग तथा मोक्षप्राप्ति रूप फल बताये हैं।<sup>४१</sup> जैन परम्परा में बिलकुल ही मेल न खानेवाली एक बात इस ग्रन्थ में कही है। जैसे कि-

उज्जवणविही ण तरइ काउं जइ को वि अत्थपरिहीणो ।

तो विउणा कायव्वा उववासविही पयत्तेण ॥<sup>४२</sup>

तप और उपवास को दुय्यम स्थान पर रखते हुए दान तथा उद्यापन को इसमें अधोरेखित किया है।

१४वीं शताब्दी के जिनप्रभकृत 'विधिमार्गप्रपा' ग्रन्थ का स्थान जैन विधि-विधानों के इतिहास में विशेष लक्षणीय है। इस संकलनात्मक ग्रन्थ में उन्होंने महाव्रत, अणुव्रत, तप तथा नये व्रत इन सबकी विधि विस्तारपूर्वक दी है। सम्यक्त्व से आरम्भ करके श्रावकव्रत, साधुव्रत तथा समग्र श्रावक तथा साधुआचार को परिलक्षित करके इन्होंने व्रतारोपण की विधियाँ बनायी।<sup>४३</sup> विधिमार्गप्रपा में व्रतों के संकल्प तथा फल का निर्देश नहीं है तथापि उद्यापन का सुविस्तृत वर्णन है। ग्रन्थ में 'व्रत' शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, सभी को 'विधि' ही कहा है।<sup>४४</sup> इनके व्रत वर्णन से लगता है कि ब्राह्मण परम्परा के पौराणिक व्रतों का जैन परम्परा के व्रतों पर प्रभाव पडने लगा है।

सर्वांगसुन्दर, निरुजसिंह, कोकिलाव्रत आदि व्रतों के नामसाम्य से यह दृग्गोचर होता है।<sup>५५</sup> जिनप्रभसूरिद्वारा उपयोजित 'नैवेद्य' शब्द पर भी ब्राह्मण परम्परा की मुहर स्पष्टतः दिखायी देती है।<sup>५६</sup> जैन परम्परा तथा सिद्धान्तों से निगडित नये व्रतों का निर्माण भी इन्होंने किया है। उदाहरण के तौरपर कल्याणतप, इन्द्रियजय, कषायमथन, अष्टकर्मसूदन, समवसरण आदि व्रतों का निर्देश कर सकते हैं।<sup>५७</sup> आगमोक्त तपों की दुष्करता की तथा नये सुलभ व्रतों के निर्माण की जो बात जिनप्रभसूरि ने उठायी है वह जैन व्रतों के परिवर्तन की एक नयी दिशा सूचित करती है -

जे पुण एगावली-कणगावली-रयणावली-मुत्तावली-गुणरयणसंवच्छर-  
खुडुमहल्ल-सिंहनिक्कीलियाइणो तवभेया ते संपयं दुक्कर त्ति न दंसिया।<sup>५८</sup>

जिनप्रभसूरि मुगलसम्राट महम्मद तगलक के समकालीन थे। बादशाह पर उनका अच्छा खास प्रभाव था। इस राजाश्रय के आधारपर उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ कई दशकों तक जारी रही। मन्दिरनिर्माण और मूर्तिप्रतिष्ठापना इनके काल में बहुतायत मात्रा में हुई थी।<sup>५९</sup> इन सबसे यह लगता है कि जिन-प्रभसूरिका जैन समाज पर बड़ा गहरा प्रभाव होगा। परिणामस्वरूप इनके व्रतविधान खाली किताबी न रहकर प्रचलन में भी आये होंगे।

#### (५) व्रतविषयक साहित्य की चतुर्थावस्था :

१५वीं शताब्दी में जैन व्रतों ने एक नया मोड़ लिया। १५वीं सदी का ब्रह्मसाधारणकृत 'वयकहा' यह अपभ्रंश भाषा में लिखित व्रतकथाओं का संग्रह, व्रतविषयक साहित्य की चतुर्थावस्था का द्योतक है। व्रतकथा में मुकुटसप्तमी, क्षीरद्वादशी, रविव्रत, कुसुमांजलि, निर्झरपंचमी आदि नये नये व्रत, संकल्प, विधि, उद्यापन, जिनपूजा, दान तथा केवल ऐहिक फल तथा स्वर्गप्राप्ति का वर्णन है।<sup>६०</sup>

व्रतकथा के बाद १६वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक व्रतकथाओं के संग्रहों की मानों बाढ़ सी आ गयी। जैन परम्परा में व्रतों का प्रचलन इस समय में बहुत ही बढ़ता चला होगा। व्रतकथासंग्रहों की रचना ज्यादातर संस्कृत भाषा में ही हुई है। डॉ. वेलणकर लिखित 'जिनरत्नकोष' में बहुत सारे व्रतकथासंग्रहों का निर्देश है। लेकिन वे इस शोधलेख के लिए

मुझे उपलब्ध नहीं हुए ।

इन चारों अवस्थाओं के निरीक्षण से हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि -

- ◆ साधुव्रत तथा श्रावकव्रत आगमकाल से लेकर आजतक प्रचलन में है ।
- ◆ आगमोक्त तप प्रथम विधि के तौरपर आये और बाद में दुष्करता के कारण सुलभ व्रतों में परिवर्तित हुए ।
- ◆ आरम्भ में व्रत तथा तप का उद्दिष्ट कर्मनिर्जरामात्र था । धीरे-धीरे उसमें ऐहिक और पारलौकिकता आयी और अन्त में मोक्षफलप्राप्ति छोड़कर स्वर्गतक सीमित हुई । जैन परम्परा के अनुसार इस पंचम काल में जब कोई जीव इस भरतक्षेत्र में मोक्षगामी होनेवाला नहीं है तब उनका स्वर्गप्राप्ति तक सीमित रहना ठीक ही लगता है ।
- ◆ व्रत विषयक श्वेताम्बरीय प्राकृत साहित्य में, दिगम्बरीय व्रतविषयक संस्कृत साहित्य की तुलना में 'व्रत' शब्द का आम प्रयोग करने का प्रचलन बाद में आया हुआ दिखायी देता है ।

(६) जैन व्रतों के अवस्थान्तरों की कारणमीमांसा :

- ◆ हिन्दु व्रतों में कालानुसारी जो परिवर्तन आये उसके अनुसार जैन व्रतों में परिवर्तन आना बिलकुल स्वाभाविक था क्योंकि अल्पसंख्य जैन समाज बहुसंख्य हिन्दु समाज के सम्पर्क में हमेशा ही था । इस सामाजिक सहजीवन का असर जैन व्रतों में भी दिखायी देता है ।
- ◆ प्रवृत्तिप्रधान हिन्दुधर्म में पौराणिक व्रत प्रायः उत्सव स्वरूप और क्रियाकाण्डात्मक, विधिविधानों से भरे हुए थे । उनके प्रति आम जैन समाज का आकृष्ट होना स्वाभाविक था । जैन गृहस्थाचार में यद्यपि बारह व्रत शामिल थे तथापि वे निवृत्तिप्रधान और अमूर्त थे । इसी वजह से गृहस्थाचार से सम्बन्धित तप से निगडित तथा जैन तत्त्वज्ञान से सुसंगत इस प्रकार के नये विधिविधानात्मक व्रत जैन आचार्यों ने बनाये । जैसे कि 'सम्यक्त्व' के आरोपण की विधि

बन गयी।<sup>५१</sup> 'अष्टकर्मतप' मूर्त क्रियाप्रधानरूप लेकर सामने आया<sup>५२</sup> तथा 'ज्ञानपंचमी', 'सुगन्धदशमी' आदि नये नये व्रत भी बनने लगे।<sup>५३</sup>

- ◆ यद्यपि जैनधर्म प्रधानता से मोक्षलक्षी था तथापि गृहस्थों के लिए धन, आयुष्य, आरोग्य, समृद्धि आदि प्राप्त करानेवाले व्रतों की आवश्यकता जैन आचार्य महसूस करने लगे। इसलिए केवल पारलौकिक कल्याण के लिए ही नहीं किन्तु ऐहिक सुखों की कामना रखकर भी व्रतों की योजना होने लगी। ऐहिक फलकामनासहित क्रियाओं की या तप की 'निदानतप' शब्द से यद्यपि आगमों में निन्दा की है तथापि सोचविचार कर और व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाकर धर्माचरण के प्रति सामान्यों का मन आकृष्ट करने के लिए व्रतों में परिवर्तन आ गये।
- ◆ प्राचीन काल से ही जैनियों में कुलदेवता, कुलाचार, पूजन आदि के रूप में विविध कथाओं का प्रचलन था। बदलते काल के साथ उनमें से कुछ रीतिरिवाज व्रत स्वरूप में परिवर्तित हुए। आधुनिक काल में भी शुभप्रसंग में विनायकपूजन (गणेशपूजन), मंगळसात, घटस्थापना, शिळासप्तमी, कुलदेवताओं का पूजन आदि परम्पराओं का प्रचलन दिखायी देता है। इन कुलाचारों के ग्रान्थिक आधार सहज उपलब्ध नहीं है। तथापि पीढी दर पीढियों से इनका परिपालन होता चला आया है।
- ◆ व्रतों के प्रत्यक्ष आचरण के समय तप, उपवास, मौन, स्वाध्याय, जप आदि की प्रधानता होती है जो जैन सिद्धान्तों से मिलीजुली है। व्रत के पारणा तथा उद्यापन में उत्सव की प्रधानता रहती है। स्वजाति तथा अन्यजातियों के लोगों को बुलाकर भोजन का प्रबन्ध, प्रभावना स्वरूप भेट वस्तुओं को आदान-प्रदान प्रमुखता से दिखायी देता है। ज्ञानपंचमी व्रत के समापन में वसुनन्दि कहते हैं कि-

सहिरण्ण पंचकलसे पुरओ वित्थारिऊण वत्थमुहे ।

पक्कण्णं बहुभेयं फलाणि विविहाणि तह चेव ॥५४॥



दाणं च जहाजोगं दारुण चउव्विहस्स संघस्स ।  
उज्जवणविही एवं कायव्वा देसविरएण ॥५५॥

उदयचन्द्रविरचित सुगन्धदशमीकथा के उद्यापनविधि में निम्नलिखित वर्णन पाया जाता है। जैसे कि- 'जिनमन्दिर को पुष्पों से सजाना, चंदोवा तानना, ध्वजाएँ फहराना, औषधिदान देना, मुनियों को पवित्र आहार देना, दस श्रावकों को भेटवस्तु तथा खीर-घृत कटोरिया आदि देना, इस प्रकार की विधि करना चाहिए। इससे पुण्य उत्पन्न होता है।' ५६

### उपसंहार :

हिन्दु और जैन व्रतों का क्रियाप्रतिक्रियात्मक लेखाजोखा हमने अभी तक देखा। अब उसके उपसंहार तक पहुँचते हैं। दोनों परम्पराओं ने एक-दूसरे को प्रभावित किया। ज्यादातर हिन्दु प्रभाव से जैन व्रतों में परिवर्तन आये। लेकिन इस सभी प्रक्रिया में जैनों ने परिवर्तन के साथ-साथ अपनी अलग पहचान भी रखने का जरूर प्रयास किया। उसपर आधारित साम्य-भेदात्मक निरीक्षण उपसंहार में प्रस्तुत कर रहे हैं। ५७

- हिन्दु तथा जैन दोनों परम्पराओं के प्राचीन मूल ग्रन्थों में विधि-विधान रूप व्रतों का वर्णन नहीं पाया जाता। हिन्दु परम्परा में प्रारम्भ में यज्ञों की प्रधानता थी। उसके आधार से व्रत निष्पन्न तथा परिवर्धित हुए। जैन आगमों में महाव्रत, अणुव्रत तथा तप प्रधान थे। विधि-विधानात्मक व्रतों का आरम्भ इन्हीं के आधार से हुआ।
- हिन्दुओं के व्रत परिमित काल के लिए हैं। महाव्रत-अणुव्रत आजन्म परिपालन के लिए तथा उसी के आधार से आध्यात्मिक उन्नति के लिए बनाये गए हैं। बाद में जैन परम्परा में प्रारम्भित रविव्रत, निर्दोषसप्तमीकथाव्रत, रोहिणीव्रत इ. परिमित काल के लिए अपेक्षित है।
- हिन्दु परम्परा में व्रत सम्बन्धित उपवास चार प्रकार से होता है -

अनशन, अयाचित, नक्त(प्रदोष) तथा एकभुक्त । जैन व्रतों में भी उपवास ही केन्द्रस्थानी है तथा उनके उपवास के भी एकाशन, आयम्बिल, वियगत्याग, बेला, तेला आदि विविध प्रकार हैं ।

- ब्रह्मचर्यपालन, मधु-मद्य-मांस का त्याग इन बातों की दोनों परम्परा में व्रत पालन के दिन समानता दिखायी देती है । व्रत के उद्यापन के दिन हिन्दु लोग प्रायः ब्राह्मण, पुरोहित को दान देते हैं तथा जैन लोग संघ को दान देते हैं ।
- दोनों परम्पराओं में व्रत ज्यादातर स्त्रियों द्वारा आचरित है तथा चातुर्मास काल में व्रतों की विशेष आराधना की जाती है ।
- हिन्दु परम्परा में चैत्र से लेकर फाल्गुन तक विविध प्रकार के त्यौहार हैं । वे उत्सव के तौरपर और व्रतरूप में परिवर्तित करके मनाये जाते हैं । व्रतों की इतनी विपुलता तथा उत्सवी स्वरूप जैनों में नहीं पाया जाता ।
- व्रतों की संख्या जैसे जैसे बढ़ने लगी वैसे वैसे दोनों परम्पराओं में व्रतकथाओं के संग्रह बनने लगे । कथाएँ भी रची गयी । वे अपनी-अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं से मिलती-जुलती थी । पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म का जिक्र दोनों में भी पाया जाता है । चान्द्रायण, कोकिला, सौभाग्य, आरोग्य, अम्बिका, ऋषिपंचमी, अक्षयतृतीया, मोक्षदा (मौन) एकादशी आदि हिन्दु व्रतों से नामसाम्य रखनेवाले जैनव्रत पाये जाते हैं । तथापि इन व्रतों का अन्तर्गत स्वरूप बिलकुल ही भिन्न है ।
- हिन्दु व्रत, 'धनधान्यसुखसमृद्धयर्थम् अमुकव्रतम् अहं करिष्ये', इस प्रकार से संकल्पपूर्वक किये जाते हैं । जैनव्रत संकल्प के उच्चारणपूर्वक नहीं किये जाते । पूर्वोल्लिखित जैनव्रतों की तीसरी अवस्था में व्रत के फल का जिक्र होने लगा । उसमें एक प्रकार से संकल्प भी निहित है तथापि प्रारम्भ में संकल्प करना प्रायः निदानात्मक और निषिद्ध ही माना गया है ।
- हिन्दु व्रतों में अनिवार्य रूप से स्नान की आवश्यकता बतायी गयी

है। जैनों में यद्यपि मन्दिरमार्गियों में पूजा के पहले स्नान का प्रचलन है तथापि स्नान और बाह्यशुद्धि को अनन्यसाधारण महत्त्व नहीं दिया है। भावशुद्धि की प्रधानता बतायी गयी है क्योंकि सभी जैनआचार का केन्द्र ही भावशुद्धि है।

- हिन्दुओं में देवताप्रीत्यर्थ किये गये व्रतों में विशिष्ट धान्य तथा शाकभाजी से युक्त भोजन नैवेद्य स्वरूप में चढाया जाता है। जैन व्रतों में यह पद्धति प्रचलित नहीं है तथा प्रसाद भी बाटने की प्रथा प्रायः नहीं है।
- दोनों परम्पराओं में यद्यपि प्रतिमाओं का पूजन किया जाता है तथापि गणपति, गौरी, हरतालिका, राम-रावण, दुर्गा आदि प्रासंगिक प्रतिमाओं का निर्माण, विसर्जन तथा दहन हिन्दु परम्परा में बहुत ही प्रचलित है। जैन परम्परा में प्रासङ्गिक प्रतिमानिर्माण तथा विसर्जन को बिलकुल ही स्थान नहीं है क्योंकि जैन दृष्टि से यह सब विराधना, आशातना, प्रमादचर्या तथा अनर्थदण्डरूप है।
- अपत्यप्राप्ति के लिए तथा पति के दीर्घायुष्य के लिए व्रत रखना, प्रायः सभी व्रतों में सुवासिनी स्त्री को महत्त्व देना—ये सब हिन्दुव्रतों की विशेषताएँ हैं। जैनव्रतों में इन्हें खास तौरपर परिलक्षित नहीं किया जाता क्योंकि अपत्य का होना या न होना, पति की आयुर्मर्यादा आदि सब बातें कर्माधीन हैं। व्रत रखकर आयुष्य बढ़ाने में जैन सिद्धान्त विश्वास नहीं रखता।
- हिन्दु स्मृतिग्रन्थों में सभी 'प्रायश्चित्तों' को 'व्रत' कहा है। जैन परम्परा में 'प्रायश्चित्त' याने 'छेद' को 'तप' कहा है। प्रायश्चित्तों को केन्द्रस्थान में रखकर दोनों परम्परा में अलग से ग्रन्थों का निर्माण हुआ है।
- हिन्दुओं में कुछ व्रतों के लिए पुरोहित की आवश्यकता बतायी है। विविध प्रकार के होम किये जाते हैं। कुछ व्रत दूसरों द्वारा करवाने का भी जिक्र किया गया है। जैन व्रतों में व्रत मुनि की आज्ञा से करते हैं। होम का प्रावधान बिलकुल ही नहीं है और व्रत खुद

ही करना पडता है, दूसरों द्वारा नहीं करवाया जा सकता ।

- ◆ हिन्दुओं में व्रत वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनों पाये जाते हैं । जैनों में वैयक्तिक व्रतों की प्रधानता है लेकिन उपधानतप, पौषधोपवास आदि बहुत ही कम व्रत सामूहिक रूप में करने की प्रथा है ।
- ◆ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद न रखके सभी वर्णों के तथा जाति के लोगों को केन्द्रस्थान में रखकर हिन्दु व्रत सामान्यतः बनाये गये हैं । तथापि कुछ ग्रन्थों में पिछले दरवाजे से जातिभेद प्रविष्ट हुआ दिखायी देता है । कहा है कि विशिष्ट व्रत में ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दिन का उपवास रखे और उसी व्रत में वैश्य तथा शूद्र लगातार दो दिनों का उपवास रखे । जैन परम्परा में प्रायः इसतरह के भेदभाव दिखायी नहीं देते तथापि अपवाद स्वरूप उदाहरण पाये जाते हैं । इस भेदभाव का आधार आर्थिक सामर्थ्य है । वसुनन्दिश्रावकाचार में कहा है कि ज्ञानपंचमीव्रत का उद्यापन जो व्यक्ति उक्त प्रकार से करने में असमर्थ हो वह व्रत का कालावधि दुगना करें ।
- ◆ हिन्दु धर्मशास्त्रों में त्रैवर्णिकों के लिए व्रतबन्धसंस्कार का प्रावधान था । इस संस्कार के अनन्तर उनकी शिक्षा का आरम्भ होता था । जैन परम्परा में श्रावकव्रत ग्रहण करने के उल्लेख आगमों में मिलते हैं लेकिन वहाँ विधिपूर्वक व्रतग्रहण का विधान लिखित रूप में नहीं दिखाई देता । चौदहवीं सदी के जिनप्रभसूरि को इसकी आवश्यकता महसूस हुई । परिणामवश उन्होंने सम्यक्त्व-आरोपण-विधि तथा साधु एवं श्रावकव्रतों के ग्रहण की भी विधि बनायी । लेकिन श्रावकदीक्षा की विधि का प्रचलन जैन समाज में नहीं हो सका ।

**निष्कर्ष :**

हिन्दु और जैन व्रतसंकल्पनाओं के आरम्भबिन्दु अलग-अलग हैं । अहिंसा, सत्य आदि उच्च मानवीय मूल्यों को जैनों ने साधु तथा श्रावकाचार में यावज्जीवन स्थान दिया । उन्हें ही आध्यात्मिक उन्नति का आधार माना । वैदिक तथा वेदोत्तर काल में कर्तव्यस्वरूप वर्णाश्रमधर्म दैनन्दिन तथा यावज्जीवन

आचार में पुष्पित-फलित नहीं हुआ। लिङ्गभेद, जातिभेद, पुरोहितप्रधानता आदि कारणों से तथा जैन और बौद्धों द्वारा किये गए तीव्र वैचारिक संघर्षों से सर्वसमावेशक, विधिविधानात्मक पत्र-पुष्प-हिरण्य-सुवर्ण-प्रतिमापूजन-विसर्जन, नैवेद्य, प्रसाद, उद्यापन, दान आदि अतीव आकर्षक रूप में नया सामाजिक पहलू लेकर हिन्दु पुराणों द्वारा व्रतों का प्रचलन हुआ। जैन आचार्यों को उपवास, तप, निवृत्तिप्रधान, नीरस धर्मव्यवहार में परिवर्तन लाने की अत्यधिक आवश्यकता महसूस हुई। इहलौकिक सुखसमृद्धि और स्वर्गप्राप्ति को नजरअंदाज न करते हुए ग्यारहवीं सदी से लेकर पंद्रहवीं सदी तक जैनों में भी विधिविधानात्मक व्रतों का खूब प्रचार हुआ। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय मन्दिर और प्रतिमा निर्माण, पूजा-प्रतिष्ठा, विधिविधान, यन्त्र-मन्त्र में निमग्न हुए। सोलहवीं सदी में गुजरात में लौकशाह नामक धार्मिक श्रावक ने इन सब नये कर्मकाण्डात्मक धर्म के विरुद्ध जैन-जागृति की तथा 'स्थानकवासी' सम्प्रदाय का आरम्भ किया। मन्दिर, पूजा, प्रतिष्ठा तथा नानाविध विधिविधानात्मक व्रतों को हटाकर मूलगामी, सिद्धान्तप्रधान जैन धर्म की ओर कुछ चिन्तनशील व्यक्तियों का झुकाव बढ़ा।

प्रायः इसी समय हिन्दुओं में पौराणिक धर्माचार से ऊबकर एक स्वयम्भू अमूर्त ईश्वर को प्रधानता देनेवाले शीखसम्प्रदाय का उदय और प्रसार होने लगा। राम, कृष्ण, विठ्ठल आदि एक मूर्त ईश्वर का नामसंकीर्तन तथा भक्ति इनपर आधारित सम्प्रदाय उद्भूत हुए।

भारतीय संस्कृति के बहुपेडी आयामों का क्रियाप्रतिक्रियात्मक सिलसिला आरम्भ से लेकर आजतक जारी है। 'व्रतसंकल्पना' को केन्द्रस्थान में रखकर अगर हिन्दु और जैन धार्मिक आचारों का परीक्षण करें तो उपर्युक्त लेखाजोखा सामने उभरकर आता है।

### सन्दर्भ

१. धर्मशास्त्राचा इतिहास (उत्तरार्ध) पृ. १५९-१६१
२. अथर्ववेद ११.७.६; शतपथ ब्राह्मण १०.१.२.४; महाभारत १.६४.४२; २.२०.४; ३.१०.३; १२.२४.१७; वामणपुराण ६२.३८; स्कन्दपुराण १.३.११.६६
३. धर्मशास्त्राचा इतिहास (उत्तरार्ध) पृ. १६२

४. मनुस्मृति अध्याय ११ प्रायश्चित्तविधि पृ. ३८८ से ५१७  
याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रायश्चित्तप्रकरण (५) पृ. ३८८ से ५१७
५. महाभारत २.११.१८ (१२७\*); ५.४३.१२; ६.१०३.७८; १२.३६.१९
६. योग-दर्शन २.३०, ३१
७. आचारांग चूलिका १५.४२, ४३, ४९, ५०; सूत्रकृतांग १.२.५७; स्थानांग ३.५२४;  
५.१; उत्तराध्ययन १९.१०, २८, ८९; २०.३९; २१.१२; आवश्यक ४.३., ८,  
९; ५.२
८. धर्मशास्त्राचा इतिहास (उत्तरार्ध) पृ. १६७, १७१
९. धर्मशास्त्राचा इतिहास (उत्तरार्ध) पृ. १६६
१०. उत्तराध्ययन १२.१७; १४.१२; २५.३०; धम्मपद २६.२३; सुत्तनिपात चूळवग्ग,  
७ वा ब्राह्मणधम्मिकसुत्त
११. महाभारत शांतिपर्व ३४६.१०, ११
१२. ऋषिभाषित-नारद नामक प्रथम अध्ययन
१३. मनुस्मृति ५.१५५; ८.१८; ९.३३४, ३३५; १०.१२१ से १२६; ११.१३
१४. धर्मशास्त्राचा इतिहास (उत्तरार्ध) पृ. १६७, १६९
१५. उत्तराध्ययन अध्ययन १२, अध्ययन १४, अध्ययन २५; धम्मपद अध्ययन २६
१६. उपासकदशा १.२३; औपपातिक पृ. ३५७, ३५८, ४७४-४८३; वसुनन्दिश्रावकाचार  
गा. २०७ से २२०
१७. धम्मपद १८.१२; सुत्तनिपात चूळवग्ग, १४वा धम्मिकसुत्त पृ. ९५ से १०१
१८. धर्मशास्त्राचा इतिहास पृ. १६९
१९. धर्मशास्त्राचा इतिहास पृ. १६०
२०. उत्तराध्ययन १९.२५-३१; तत्त्वार्थ ७.१
२१. तत्त्वार्थ ७.१
२२. तत्त्वार्थ ७.२; आचारांग चूलिका १५.४२, ४३; सूत्रकृतांग १.२.५७; स्थानांग  
५.१.; उत्तराध्ययन २०.३९; २१.१२; आवश्यक ४.८ से १२
२३. आचारांग चूलिका, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, छेदसूत्र, मूलाचार, भगवतीआराधना,  
उपासकदशा, श्रावकप्रज्ञप्ति, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार,  
पुरुषार्थसिद्धयुपाय
२४. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. १८, १९
२५. अन्तगड वर्ग ८; औपपातिक पृ. १६३-१७२
२६. स्थानांग ३.३८५; समवायांग ३.३; भगवती १४.७१; ज्ञाताधर्मकथा १.१६.११३;

- १.१६.३२७(१).
२७. आचारांगचूलिक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, छेदसूत्र, मूलाचार, भगवती आराधना, उपासकदशा, श्रावकप्रज्ञप्ति, वसुनन्दिश्रावकाचार
२८. ज्ञाताधर्मकथा १.१.९६; १.२.१२
२९. वरांगचरित ३०.५२
३०. वरांगचरित ११.४०; १३.३९; १५.१२१; २४.१०६; ३०.४४
३१. वरांगचरित २३.७७ से ८२
३२. वरांगचरित २३.७७, ८३
३३. हरिवंशपुराण पृ. ४२३ से ४४३
३४. आदिपुराण पर्व ७
३५. उत्तरपुराण पर्व ६७.३५८ से ३८४
३६. उत्तरपुराण ६७.३७३
३७. ज्ञानपंचमीकथा १.३६४
३८. ज्ञानपंचमीकथा १.३३९ से ३७८; २.१२५; ४.१२५; ७.४२, ४३, ९३ से ९७
३९. ज्ञानपंचमीकथा १.४९४ से ४९६; २.५० से ५७
४०. सुगन्धदशमीकथा प्रथम सन्धी
४१. वसुनन्दिश्रावकाचार गा. ३५३ से ३८१
४२. वसुनन्दिश्रावकाचार गा. ३५९
४३. विधिमार्गप्रपा
४४. विधिमार्गप्रपा पृ. २५ से २९
४५. विधिमार्गप्रपा पृ. २५ पंक्ति १७, १९
४६. विधिमार्गप्रपा पृ. २७ पंक्ति १
४७. विधिमार्गप्रपा पृ. २५ पंक्ति ३, २९, ३१, ३२, पृ. २६ पंक्ति २, ४
४८. विधिमार्गप्रपा पृ. २९ पंक्ति २५, २६
४९. विधिमार्गप्रपा, संक्षिप्त जीवन चरित्र पृ. १ से २४
५०. व्रतकथा
५१. विधिमार्गप्रपा पृ. १ से ३
५२. विधिमार्गप्रपा पृ. २६ पंक्ति १ से ३
५३. ज्ञानपंचमीकथा; सुगन्धदशमीकथा
५४. वसुनन्दिश्रावकाचार गा. ३५७
५५. वसुनन्दिश्रावकाचार गा. ३५८

५६. सुगन्धदशमीकथा १.१२

५७. हिन्दु व्रतों के वर्णनात्मक स्वरूप के लिए 'व्रतशिरोमणी' किताब का आधार लिया है।

### सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचि

१. अन्तकृद्दशा (अन्तगडदसा) : अनुवादक-घासीलालजी म., जैन प्रिन्टिंग प्रेस, १९८०
२. आचारांग चूलिका : अंगसुत्ताणि १, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) वि.सं. २०३१
३. आदिपुराण : अनुवादक-घासीलालजी म. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९५९
४. आवश्यक (आवस्सय) : मुनि पुण्यविजय, महावीर विद्यालय, मुम्बई, १९७७
५. औपपातिक (उववाई) : अनुवादक-घासीलालजी म. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट १९५९
६. उत्तरपुराण : गुणभद्राचार्य, सं. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४
७. उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयण) : जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, १९९२
८. उपासकदशा (उपासकदसा) : (मिताक्षरासारासह), भाषान्तर-विष्णुशास्त्री बापट, दामोदर त्र्यंबक जोशी, पुणे
९. ऋषिभाषित (इसिभासिय) : सं. विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९८८
१०. ज्ञाताधर्मकथा (नायाधम्मकहा) : अंगसुत्ताणि ३, आ. तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान) वि.सं. २०३१
११. ज्ञानपंचमीकथा (णाणपंचमीकहा) : महेश्वरसूरिकृत, सिंधी जैनशास्त्र विद्यापीठ, मुम्बई, १४९
१२. तत्त्वार्थ : विवेक-पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २००१
१३. दशवैकालिक (दसवेयालिय) : अनुवादक-धेवचंदजी बाँटिया, जैन प्रिन्टिंग प्रेस, सैलाना, १९८३
१४. देवीभागवत : खण्ड १, सं. आ. श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६८
१५. धर्मशास्त्राचा इतिहास : डॉ. काणे, महाराष्ट्र राज्य साहित्य व संस्कृति मण्डल, १९६७
१६. धम्मपद : अनुवादक-डॉ. भ.ग.बापट, धम्म बुक्स प्रकाशन, २००१
१७. नारदपुराण : (खण्ड १, २) सं.पं.श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७१



१८. पातंजलयोगः पतंजलिकृत, गीताप्रेस, गोरखपुर
१९. भगवती ( भगवई ) : अंगसुत्ताणि २, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) वि.सं. २०३१
२०. भविष्यपुराण : (खण्ड २) सं. पं. श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६९
२१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डॉ. हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२
२२. मनुस्मृति : भाषान्तर-विष्णुशास्त्री बापट, श्री गजानन बुक डेपो, पुणे
२३. महाभारत : सं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, १९७९
२४. याज्ञवल्क्यस्मृति : (मिताक्षरासारासह), भाषान्तर-विष्णुशास्त्री बापट, दामोदर त्र्यंबक जोशी, पुणे
२५. वयकहा : ब्रह्मसाधारण, सं. भागचन्द्र जैन भास्कर, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, १९८५
२६. वरांगचरित : जटार्सिंहनन्दिविरचित, सं. ए.एन्.उपाध्ये, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थालय समिति, मुम्बई, १९३८
२७. वसुनन्दिश्रावकाचार : वसुनन्दिकृत, सं. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२
२८. विधिमार्गप्रपा : जिनप्रभसूरिकृत, सं. जिनविजय, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९४१
२९. व्रतशिरोमणी : श्रीनिवास देशिंगकर, प्र. शालिनीबाई देशिंगकर, मिरज, १९७७
३०. सुगन्धदशमीकहा (सुगन्धदसमीकहा) : उदयचन्द्रकृत, सं. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६६
३१. सुत्तनिपात : सं. डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, १९९५
३२. सूत्रकृतांग (सूयगड) : अंगसुत्ताणि १, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) वि.सं. २०३१
३३. स्थानांग (ठाण) : अंगसुत्ताणि १, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान) वि.सं. २०३१
३४. हरिवंशपुराण : जिनसेनकृत, सं. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४
३५. हरिवंशपुराण : (खण्ड १), सं.पं. श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६८

C/o. जैन चेअर

पूणे विश्वविद्यालय, पूणे ( महाराष्ट्र )

## आर्षभी विद्या : परिचय

म. विनयसागर

इस अवसर्पिणी के प्रथम नृपति, प्रथम अनगर, प्रथम केवली और प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव हुए। आवश्यकचूर्ण, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और कल्पसूत्र में इनके लिए 'अरहा कोसलिए उसभे' विशेषण प्राप्त होता है। भागवत पुराण में इन्हें महायोगिराट् कहा गया है।

भगवान् ऋषभ जीवन-व्यवहार की समस्त कलाओं के प्रवर्तक माने गये हैं। वे वंशस्थापन, कृषि, कुम्भकार, पाककला, विवाह, लेखन, युद्ध, शस्त्र, राजनीति से लेकर मुनिवृत्ति और आत्मसाधना के मार्गदर्शक रहे हैं।

प्रभु ऋषभ ने केवली बनने के पश्चात् क्या देशना दी थी? किन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था? समय का दीर्घकालीन व्यवधान होने के कारण उसका कोई स्वरूप प्राप्त नहीं होता है। हाँ, अहिंसादि सार्वभौम सिद्धान्तों का परिष्कृत स्वरूप अन्तिम तीर्थकर महावीर की देशना/सिद्धान्तों में अवश्य लक्षित होता है।

कहा जाता है कि ऋषभपुत्र भरतचक्री षट्खण्ड विजय कर स्वराज्य में लौटे तो चक्ररत्न ने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया। कारण खोजने पर यह अनुमान किया गया कि 'षट्खण्ड विजय के पश्चात् भी स्वयं के ९९ लघुभ्राताओं ने अधीनता स्वीकार नहीं की है, वह अपेक्षित है।' भरत ने समस्त भाइयों के पास अधीनता स्वीकृति हेतु राजदूत भेजे। ९८ भाइयों ने विचार-विमर्श करने के पश्चात् अपने पिता ऋषभ से निर्देश प्राप्त करने हेतु उनकी सेवा में उपस्थित होकर समयानुरूप निर्णय देने का अनुरोध किया। प्रभु ऋषभ ने संसार और राज्यवैभव की नश्वरता का प्रतिपादन करते हुए उन्हें बोधमय देशना दी। इस देशना से प्रतिबुद्ध होकर ९८ भाइयों ने अपने पिता भगवान् के चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रभु ऋषभ की उक्त देशना द्वितीय अंग सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के द्वितीय वैतालीय नामक अध्ययन में भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट है। भाषाविदों की दृष्टि से इस अंग की भाषा चौबीस सौ वर्ष प्राचीन है। इसी परम्परा में आदिनाथ-देशना (प्राकृत) और युगादि-देशना (संस्कृत) प्राप्त है।

## आर्षभी विद्या

विभु आदिनाथ प्ररूपित सिद्धान्तों के सम्बन्ध में एक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त होता है, जिसका नाम है 'आर्षभी विद्या'। ग्रन्थकार ने इसका पूर्ण नाम दिया है 'अथर्वोपनिषत्सु विद्यातत्त्वे भारतीयोपदेशे'। इसके प्रथम अध्ययन सूत्र संख्या ४ में 'आर्षभाऽऽर्हतीं विद्यां' दिया है। आर्षभी अर्थात् ऋषभ की विद्या/देशना होने से यह नाम उपयुक्त भी है। लेखक ने इसे अथर्व का उपनिषत् लिखा है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि अर्वाचीन समस्त उपनिषत् अथर्व के अन्तर्गत ही आते हैं। ऋषभ भागवत परम्परा मान्य आठवें अवतार होने से उनकी तत्त्वमयी विद्या/उपदेश समस्त भारतीयों के लिए ग्राह्य/उपादेय हो इस दृष्टि से उपयुक्त ही है। किसी परम्परा का नाम न लेकर केवल 'भारतीय' शब्द का प्रयोग भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

## ग्रन्थकार

इसके प्रणेता कौन हैं ? इसका इस ग्रन्थ में कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु इसके पंचमाध्याय के सूत्रांक एक में 'अथातो निगमस्थिति-सिद्धान्त-सिद्धोपमानां धर्मपथसार्थवाहानां युगप्रधानानां चरित्रकौशल्यं वर्णयामः' कहा है। इसमें उल्लिखित 'निगम' शब्द से कतिपय विद्वानों का अभिमत है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में तपागच्छ में आचार्य इन्द्रनन्दिसूरि हुए हैं। विचारभेद के कारण इनसे निगम सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। इसलिए इन्हें 'निगमाविर्भावक' विशेषण से सम्बोधित भी किया गया है। इन्द्रनन्दिसूरि श्रीलक्ष्मीसागरसूरि के शिष्य थे। लक्ष्मीसागरसूरि का जन्म १४६४, दीक्षा १४७७, आचार्यपद १५०८ और गच्छनायक १५१७ में बने थे। अतः इन्द्रनन्दि का समय भी १६वीं शती के दो चरण अर्थात् १५०१ से १५५० के लगभग मान सकते हैं। यदि यह ग्रन्थ इन्हीं का माना जाय तो इस ग्रन्थ का रचना-काल भी १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध ही है। इनके इस प्रकार के कई ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं :-

- |                  |                        |
|------------------|------------------------|
| १. भव्यजनभयापहार | २. पंचज्ञानवेदनोपनिषद् |
| ३. भारतीयोपदेश   | ४. विद्यातत्त्व        |
| ५. निगम-स्तव     | ६. वेदान्त-स्तव        |
| ७. निगमागम       |                        |

## ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

**प्रथम अध्याय** - इस अध्याय में २६ गद्य सूत्र हैं । (१-२) प्रारम्भ में वृष शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए कहा है कि, वृषभदर्शन का अध्येता एवं आचारक चौदह गुणस्थानों का आरोहण करते हुए शाश्वत सिद्ध सुख को प्राप्त करता है, अतः 'आर्षभी आर्हती विद्या' की उपासना करो, जिससे दुरन्त मृत्यु पथ को पार कर जाओगे ।

(३-५) सर्वप्रथम आत्मतत्त्व को पहचानो । कर्म निर्जरा के लिए तीन तत्त्व प्रधान हैं :- गुरुतत्त्व, देवतत्त्व, धर्मतत्त्व । इनमें प्रथम गुरुतत्त्व है । गुरुतत्त्व का वर्णन करते हुए लिखा है :- अपरिग्रही, निर्मम, आत्मतत्त्वविद्, छत्तीस गुणों से युक्त गुरु ही आराधनीय होता है ।

(६) वह आर्षभायण रागादिनिवृत्त, गुणवान, गुरुनिर्देशपालक और द्वादशांगी विद्या का पारंगत होता है । ऐसे ही आराध्य गुरुतत्त्व की देशव्रतियों को उपासना करनी चाहिए । (७-८) श्रमणोपासक के लिए विविध विज्ञान, अतिशय श्रुत-अवधि, काल-ज्ञान वेत्ता युगप्रधान ही सेव्य है । (९) जो ईषत् द्वादशांगीवेत्ता हैं, क्षेत्र-कालोचित व्रतचर्या का पालन करते हैं, स्वधर्म सत्ता रूप सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, उन श्रमणों का उपदेश ही देशिकों को श्रवण करना चाहिए और आज्ञानुसार ही आचरण करना चाहिए । (१०-११) स्वात्मज्ञानविद् कोविद देशवृत्ति-परायण गुरुप्रासाद से ही संसार सागर से पार होते हैं, अतः आद्य गुरुतत्त्व ही कर्मनिर्जरा का कारण है । (११) इसीलिए भगवान् आदिदेव ने कैवल्यप्राप्ति के पश्चात् वाचंयमों की मनःशुद्धि, जनोपकार और विश्वहित के लिए गुरुतत्त्व का प्रतिपादन किया है ।

(१२) दुर्दमनीय मोह को जानकर देशवृत्ति-धारक कठोरतापूर्वक सर्वदा आचाम्ल तप करते हुए द्वादशांगी विद्या का श्रवण करे । (१३) संयतात्मा मुमुक्षु आवश्यक कर्म के पश्चात् पंचमुष्टि लुंचन कर, परिग्रह त्यागकर, गुरुकुल-निवासी होकर, आज्ञापालक होकर, निरवद्य भिक्षाग्रहण करते हुए अन्तेवासी बनकर द्वादशांगी का अध्ययन करे ।

(१४) ३६ गुणधारक होते हुए भी अपकृत योगी मान्य नहीं होता है । पति की आज्ञा बिना मुमुक्षिणी को भी दीक्षा न दे । पति की आज्ञा से साध्वी बनाये ।

(१५) कालचक्र की गति से महनीयतम संयमभार वहन करने में अक्षम होकर इस मार्ग का त्याग करेंगे । मृषोपदेश-कुशल आसुरायण द्विज वेदवाक्यों का विपरीत अर्थ कर गुरु बनेंगे । इससे श्रेष्ठ धर्म का नाश होगा ।

(१६) तीर्थकरों के अभाव में भी महादेव क्षेत्र (महाविदेह क्षेत्र) में यह द्वादशांगी अस्खलित रूप से दुरन्त कालग्लानि की निर्नाशिका बनी रहेगी । (१७) इस क्षेत्र में अन्तिम तीर्थकर महावीर के पश्चात् २१ हजार वर्ष तक यह द्वादशांगी शनैःशनैः क्षीण होती जाएगी । अन्तिम केवली जंबू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् कालवेग के कारण मुक्तिद्वार बन्द हो जाएगा । (१८) आगामी चौबीसी के समय पुनः शुद्धमार्ग के प्ररूपक गुरु होंगे । अतः देशवृत्तियों को ऐसे गुरु की ही उपासना करनी चाहिए ।

(१९) द्वादशांगीधारक शुद्ध-चारित्रिक गुरुओं के अभाव में पिप्पलाद आदि ऋषि श्रुतिवाक्यों के विपरीत अर्थ की प्रतिपादना करेंगे । (२०) चारित्र-परायणों के अभाव में शासन की दुर्दशा हो जाएगी ।

(२२-२३) दैशिक एकादश प्रतिमा वहन करते हुए तपोयोग में प्रवृत्त हो और अर्हत् प्रतिमाओं की अर्चना करें ।

(२४) साधुजन वर्षा के अभाव में भी एक स्थान पर चातुर्मास करें । सांवत्सरिक प्रतिक्रमण हेतु पांच दिन तक पर्युषणा की आराधना करें । शुद्ध धर्म की आराधना करने वाले ही अर्हत् धर्म के अधिकारी होते हैं और वह ही विरजस्क होते हैं ।

**द्वितीय अध्याय** - इसमें देव तत्त्व का वर्णन ३८ गद्य सूत्रों में है । श्रमणोपासक प्रातः सामायिक करें, दोषों के परिहार निमित्त प्रतिक्रमण करें । नित्य नैमित्तिक कार्य के पश्चात् चैत्यवन्दन करें ।

जिनपूजन की पद्धति बतलाते हुए कहा है :- चन्दनचूर्ण से पूजन कर पंच परमेष्ठियों के गुणों का चिंतन करते हुए भावस्तवना कर नमन करें । शाश्वत

चैत्यों को नमन करें। अष्टापद तीर्थस्थित ऋषभादि वर्धमान चौबीस तीर्थकरों को साष्टांग नमस्कार करें। (१४) अतीत, वर्तमान और अनागत अर्हतों, केवलियों, सिद्धों और भरत, ऐरवत, महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान साधुओं को नमस्कार करें।

देवार्चन हेतु स्नानादि कर शुद्ध धोती पहनकर, शुद्ध उत्तरीय वस्त्र धारण कर गृहचैत्य में दक्षिण चरण से प्रवेश करें। (२०) मन्दिर में प्रवेश कर धरणेन्द्र आदि सेवित पार्श्व प्रतिमा का, एकाग्र मन से निरीक्षण करें। (२१) प्रतिमा का मोरपिच्छी से सम्मार्जन करें। परिकर युक्त प्रतिमा को चंदन मिश्रित जल से स्नपित करें। घृत दीप जलाकर चन्दन का विलेपन करें। अलंकारादि से विभूषित करें। पुष्प पूजा करें। गीत गान करें। सुगंधित धूप करने के पश्चात् आरती उतारें। तदनंतर घण्टा बजायें और विविध वादित्रों के साथ संगीतमय प्रभु की स्तुति करें और प्रभु के समक्ष नृत्य करें। मन्दिर से निकलते समय द्वार पर याचकों को दान देकर घर आयें और स्वधर्मी बन्धुओं के साथ अतिथि संविभाग का पालन करते हुए निरवद्य आहार करें।

(३०) मंगल चैत्य पर्युपासना रूप धर्म के समान अन्य कोई सुकृत नहीं है। नवम पूर्व में भी इसे ही सुधर्म बतलाया है।

(३१) केवली भगवंत सिद्धान्तों में चार महामंगल कहते हैं - अरहंत, सिद्ध, साधु और अर्हत धर्म का शरण स्वीकार करे। इन चारों महामंगलों का छठे पूर्व में वर्णन प्राप्त है।

(३३) देशविरति द्रव्य तथा भाव पूजा करे और संयमी केवल भाव पूजा करें।

बादरायण, ऋषि कूप, अर्बुदगिरि और अष्टापदादि स्थानों में ध्यान-साधना करने पर साधक विरज और तमरहित होता है। (३७) शुद्ध सम्यक्त्वधारी इस देवतत्त्व की आराधना कर धार्मिक होकर वीतराग बनता है।

**तृतीय अध्याय** - तृतीय अध्याय में १६ गद्य सूत्र हैं जिनमें देशव्रतधारियों के व्रतों का विवेचन है। सम्यक्त्व धारण करने वाला उपासक बारह व्रतों को ग्रहण करता है। निरतिचारपूर्वक व्रतों का पालन करते हुए अन्तिमावस्था में निर्जरा हेतु उपासक की ११ प्रतिमाओं को वहन करता है।

इन एकादश प्रतिमाओं का विवेचन उपासकदशा सूत्र में वर्णित का ही इसमें विस्तार से निदर्शन है। अन्त में लिखा है कि ११वीं प्रतिमाधारक गृही भी मुक्ति पद को प्राप्त करता है। १२वीं प्रतिमा तो युगप्रधान योगी पुरुष ही वहन करते हैं।

**चतुर्थ अध्याय** - इस अध्याय में जीव के बन्ध-मोक्ष का विवेचन करते हुए ग्रन्थिभेद के पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर सयोगी केवली एवं अयोगी केवली पर्यन्त का विस्तृत वर्णन है। यह सारा वर्णन पूर्वाचार्यों द्वारा रचित साहित्य में प्राप्त होता ही है। इसमें सयोगी केवली को जीवनमुक्त चारित्र्ययोगी शब्द से भी अभिहित किया है।

**पाँचवां अध्याय** - यह नव गद्य सूत्रों में है। इसमें कहा गया है कि तीर्थकरों एवं केवलियों के अभाव में सर्वज्ञकल्प श्रुतकेवली युगप्रधान ही धर्मपथ का संचालन करता है। महावीर के २१ हजार वर्ष के शासन में सुधर्म-स्वामीजी से लेकर दुष्पसह पर्यन्त दो हजार चार युगप्रधानाचार्य होंगे। तत्पश्चात् धर्म की महती हानि होगी और इसी बीच अविद्या और असत्य का बोल-बाला होगा। तत्पश्चात् आगामी उत्सर्पिणी में पद्मनाभ तीर्थकर होंगे। उनके समय में पुनः सुसाधु होंगे जो शास्त्र-सम्मत साध्वाचार का पालन करेंगे। ३६ गुण युक्त होंगे। ४७ दोष रहित आहार ग्रहण करेंगे और युगप्रधान पद को धारण करने वाले सर्वज्ञ तुल्य होंगे। (४)

भगवान् महावीर के कुछ समय पश्चात् केवलियों का अभाव होने से परिहार-विशुद्धि आदि चारित्र्यों का अभाव हो जाएगा। श्रुत ज्ञान की क्रमशः क्षीणता को देखकर आर्य धर्म की रक्षा हेतु युगप्रधान आर्यरक्षित चारों अनुयोगों को पृथक्-पृथक् करेंगे। कई महामुनि सिन्धु-गंगा के मध्य भाग को छोड़कर अन्य दिशा-विदिशाओं में चले जायेंगे और पुनः इधर नहीं आयेंगे। सिन्धु-गंगा के मध्य में रहने वाले श्रुतधर आचार्य महान् तपश्चर्या करेंगे और धर्मोद्योत करेंगे। कषायवैरि मुनिगणों से चान्द्रकुल का आविर्भाव होगा। श्रमणोपासकों को ऐसे ही युगप्रधान, श्रुत, कोविद आचार्यों की उपासना करनी चाहिए। द्वादशांगी आदि विद्याओं को जानकर जो इसके अनुसार आचरण करते हैं वे विद्वान् विरक्ततम होकर सुधासागर को प्राप्त करते हैं।

**भाषा और शैली** - इसकी भाषा संस्कृत ही है। यत्र तत्र वैदिक संस्कृत के भी शब्दों के दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ की प्राचीनता प्रमाणित करने हेतु रचनाकार ने इसकी शैली उपनिषद् की शैली रखी है, जैसे- “अथातः संप्रपद्येम, पूर्वं ह वा तैः, इति श्रुतेः, ये च ह वा, स शिखा सूत्रवता, न तस्मिन् धर्मे स्वाधिकारिणो धर्मद्रुहः, न द्वेषकद्विट्, सकलं भद्रमश्नुते जायेव पत्युः’ आदि।

### निष्कर्ष-

१. इस ऋषभ वाणी में सर्वत्र यही उल्लेख प्राप्त होता है कि भगवान् ऋषभ ने ऐसा कहा है। यहाँ इस ऋषभवाणी में कोई नया दार्शनिक चिन्तन या कोई विशिष्ट बात का अंकन नहीं है, जो है सो वह भगवान् महावीर की परम्परा में प्रतिपादित और पूर्वाचार्यों द्वारा प्ररूपित देव-गुरु-धर्म तत्त्व का ही विवेचन है। हाँ, यहाँ यह वैशिष्ट्य अवश्य प्राप्त होता है कि तत्त्वों में देव के स्थान पर प्रथम गुरुतत्त्व का विवेचन है। गुरुतत्त्व में सद्गुरु लक्षण, देवतत्त्व में वीतराग देव का लक्षण और प्रतिमा पूजन एवं धर्म तत्त्व में नवतत्त्व, अणुव्रत, महाव्रत और गुणस्थान का विवेचन है। श्रावक की ११ प्रतिमाओं का वर्णन उपासकदशा सूत्र और गुणस्थानों का वर्णन कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों से विवेचित है। पंचम अध्याय में जो भगवान् के श्रीमुख से भविष्यवाणी ही करवा दी है, जिसमें अन्तिम तीर्थंकर महावीर, पंचम आरक और उसका स्वरूप, आगामी उत्सर्पिणी में पद्मनाभ तीर्थंकर, जम्बू के पश्चात् मोक्षद्वार बन्द, २००४ युगप्रधान, अन्तिम आचार्य दुप्पसह, चान्द्रकुल और आर्यरक्षित द्वारा अनुयोगों का पृथक्करण आदि का उल्लेख भी हो गया है। यह समग्र वर्णन तीर्थोद्गालिकप्रकीर्णक एवं व्यवच्छेदगण्डिका में प्राप्त होता है।
२. इस ग्रन्थ में लेखक के नाम का कहीं भी उल्लेख न होने पर भी ‘निगम’ शब्द से हमने लेखक का नाम इन्द्रनन्दिसूरि की सम्भावना की है। लेखक ने नामोल्लेख न कर, इसे अथर्व का उपनिषद् कहकर, उपनिषद् शैली के अनुकरण पर रचना की है। स्थान-स्थान पर श्रुति का उल्लेख कर और महावीर शासन के सुधर्मस्वामी, जम्बूस्वामी और आर्यरक्षितसूरि को छोड़कर किसी भी प्रभावक युगप्रधान आचार्य का नामोल्लेख न कर इसे प्राचीनतम -



- ७, ८वीं सदी की रचना प्रमाणित करने का प्रयत्न अवश्य किया है। किन्तु, द्वितीय अध्याय में प्रतिमार्चन में वस्त्राभूषणों का उल्लेख कर स्वतः ही सिद्ध कर दिया है कि यह रचना प्राचीन न होकर १५वीं, १६वीं सदी की है।
३. ग्रन्थ का अवलोकन करने पर यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि इसका लेखक पारंगत विद्वान् ब्राह्मण होगा। बाद में जैन मुनि/आचार्य बनकर जैन दर्शन का भी प्रौढ़ विद्वान् बना। आगम-निगम, द्वादशांगी को श्रुति, देवतत्त्व की अपेक्षा गुरुतत्त्व का प्रथम प्रतिपादन, पिप्पलाद-आसुरायण आदि ऋषियों का उल्लेख, ध्यान केन्द्रों के लिए बादरायण, ऋषि कूप, भार्गव कूप, अर्बुद आदि का उल्लेख, गुरुकुल निवासी, आर्यधर्म, सयोगी केवली को जीवनमुक्त-चारित्र योगी, महाविदेह क्षेत्र को महादेव क्षेत्र और औपनिषदिक विज्ञानघन, विरजस्क, वितमस्क, साष्टांग आदि शताधिक शब्दों के प्रयोग इसके प्रमाण में रखे जा सकते हैं।
४. अध्याय एक में सांवत्सरिक प्रतिक्रमण हेतु पंच दिवसीय पर्युषण पर्व आराधना करने का उल्लेख है। जबकि पर्युषणा पर्व आठ दिवस का माना गया है। सम्भव है इस आचार्य की निगम परम्परा में पर्युषण पांच दिन का ही होता होगा।
५. मौलिक चिन्तन न होते हुए भी उपनिषद् शैली में ग्रथित 'आर्षभी विद्या' मौलिक ग्रन्थ है। अद्यावधि इसकी एक मात्र प्रति ही उपलब्ध है जो खण्डित और अशुद्ध भी है। अतः इसके खण्डित पाठों की पूर्ति कर एवं संशोधन कर इसका प्रकाशन अवश्य किया जाना चाहिए।

### प्रति परिचय :

यह ग्रन्थ अद्यावधि अमुद्रित है। इसकी एक मात्र दुर्लभ हस्तलिखित प्रति राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के क्षेत्रीय कार्यालय, जयपुर के श्रीपूज्य श्रीजिनधरणेन्द्रसूरि संग्रह में परिग्रहणांक ७९७२ पर सुरक्षित है। साईज ३१.७ x १२.७ से.मी. है। पत्र सं० १०, पंक्ति १७, अक्षर ६० है। लेखन अशुद्ध है। किनारे खण्डित होने से पाठ खण्डित हो गये हैं। प्रान्त पुष्पिका में लेखन संवत् इस प्रकार दिया है :- 'श्रीपत्तने सं० १५५४ वर्षे ॥ शुभमस्तु ॥'

— C/o. प्राकृत भारती, जयपुर

# Models of Conflict - resolution and Peace in Jain Tradition\*

Dr. Nalini Joshi

## INTRODUCTION :

In spite of using the word 'Jainism', the title of the paper contends the word 'Jain Tradition' which is very significant. If we try to search the models of Conflict-resolution and Peace in Jain environment, we see that these models are pervaded in the Jain way of conduct, in Jain society, in their pattern of observing religious practices, festivals and celebrations, in their history, in their Socio-political reactions, in Jain Art and Sculpture and in Jain Literature. All these aspects put together suggest that Jainism is not a mere philosophical system but a full-fledged tradition flourished in India, long back before the advent of Buddhism.

## THREE INHERITED MODELS IN REPRESENTING JAINISM :

In the first model, Jainism is re-presented as a negligible sister-system of Buddhism, as an essentially marginal unimportant heterodox group. This model is best seen in the countless references to the Jainas in the compound, "Buddhists and Jainas" and so on. The assumption is that by understanding something of the Buddhists, one know all one needs to know about their 'darker reflection' - the phrase used by Louis Renou.<sup>1</sup>

In the second model, Jainism is represented as a minority ascetic tradition; it is incapable of influencing political institutions or developing a mass popular following. The Jain tradition is characterized as boringly ascetic, austere, unimaginative and so forth.

In the third model, 'pure' Jainism is defined as

---

\* Research paper presented in the National Seminar jointly organised by Centre for studies in Buddhism and Department of Buddhist studies, University, PUNE.

conservative and unchanging and all innovations are portrayed as degenerations. Original Jainism is the essence and historical Jainism consists in falling away from that essence. In this model, all innovation is ascribed to Hinduism, which is a dynamic and changing tradition. According to this model, influence moves in only one direction, from active Hinduism to passive Jainas.

Thorough study of 'Pure Jainism' and 'Historical Jainism' reveals a different picture. Jainism is one of the most ancient of India's indigenous traditions and the oldest of the surviving non-Vedic schools. It is quite evident that though Jainas are in minority from the ancient period till today, still they have not lost their identity. They stick to their fundamental tenets, doctrines and ethics but they are not 'fundamentalists' in the modern sense of this word.

In this paper, an attempt is made to enumerate the models of conflict-resolution and peace which have helped the Jainas in surviving without losing their identity.

### **THE COMPREHENSIVE MODEL OF ANEKĀNTAVĀDA :**

When we start thinking in the direction of model creation in Jaina Tradition, we easily come to know that Jainas never exerted or strive for creating these models externally or superficially because the theory of non-absolutism is the very base, essence or crux in Jain thought. The chief, guiding model is already present which is gradually developed in the course of time. Whatever remains is the method of application of this comprehensive model in the various fields of human endeavor. The various models which we are going to discuss have sprung from the very core of crux of Jainism. Anekāntavāda, the Jain theory of multiple facets of reality and truth is so fundamental and central to Jain Metaphysics, Epistemology and Logic that the entire Jain system is known as Anekānta-darśana.

Though we find the particular name 'Anekāntavāda' from 6<sup>th</sup> or 7<sup>th</sup> century A.D. and onwards, we can trace back the starting

points from Bhagavati Sūtra<sup>2</sup>, a canonical text in Ardhamāgadhī. The gradual progress of Nayavāda, Syādvāda and Anekāntavāda is seen chronologically with the help of the treatises written by Kundakunda, Umāsvāti, Mallavādi, Siddhasena Divākara, Samantabhadra, Akalaṅka, Haribhadra, Hemacandra, Vādideva and so on up to Yaśovijaya, of 18th century.

The Ontological, Epistemological, Logical, Ethical and Spiritual implications of Anekāntavāda are elaborately explored by many eminent scholars of Jainism. Jaina thinkers assert that reality is many-sided; it has manifold aspects and infinite characters. It is both existent and non-existent, permanent and transient, one and many etc. The conflict among the contradictory characters is resolved by creating the model of fourfold Nyāsa or Nikṣepa.<sup>3</sup> A thing is existent from the standpoint of its own substance (dravya), place (kṣetra), time (kāla) and quality, state or form (bhāva). The thing is non-existing from the fourfold standpoints of another thing.

Thus we can conclude that the non-violent, peace-loving attitude in Jain Tradition containing reconciliation, adjustment and adoption is the natural outcome of the doctrine of non-absolution. When we go through the long history of Jain Tradition, with its religio-social ups and downs, we come to know that earnest attempts are made to reconcile by changing the outer expressions (viz. modes) and protecting the soul of non-violence and peace intact in spite of the charges of cowardice and surrender. The canonical literature of Jainas is almost free from the sarcastic, satirical and hostile remarks against their opponents. On the other hand Lord Buddha uses these weapons freely towards Niggaṇṭha Nātaputta. In one of the Jataka tale Buddha depicts himself as a peacock and Mahāvira as a crow.<sup>4</sup>

Now, we will discuss the further sub-models which are in congruence with the chief model of non-absolutism.

### A : The Model of Suitable Languages.

The capacity of Jainas to adopt various languages is unparalleled. This multilingual attitude is handed down to them by Lord Mahāvira and further prominent Jain Ācāryas. Mahāvira delivered his preaching in Ardhamāgadhī.<sup>5</sup> Further Jain Ācāryas used Śaurasenī and Mahāraṣṭrī. Nearly ten centuries after Mahāvira, Jain Ācāryas stuck to the regional languages viz. Prakrits. From the fifth century A.D. and onwards we see that Jain authors were interacting with others as intellectuals in terms of pan. Indian scholarly genre of Śāstra. Jainas transformed their tradition into a school of learning by presenting their writings in the pan. Indian scholarly language of Sanskrit.<sup>6</sup> But Jaina authors re-defined Sanskrit treating it not as a sacred institution but a natural phenomenon. Jainas, such as Hemcandra wrote their own Sanskrit grammars to replace Brahmanical system canonized by Pāṇini and Patañjali. Side by side, the Jain authors continued their writings in Mahāraṣṭrī and various Apabhraṅśas, up till 15th and 16<sup>th</sup> Century A.D. Even today, the Sādhus and Sādhvis can address people in three or four languages very comfortably. This inherited model of acquiring suitable languages is proved to be beneficial even to the laity, which mostly owe to merchant class.

### B : The Model of Choosing Less Harmful.

Though Jainism gives utmost importance to non-violence, Jain thinkers are aware of the fact that for a normal person, it is impossible to avoid violence completely in his daily routine activities. The whole animate world is divided into five groups according to the possession of sense organs.<sup>7</sup> When Jainas choose vegetarian diet and avoid meat, the model of accepting less harmful is exercised. Vegetable-bodied and water-bodied beings possess only one sense-organ. All other animates like shells, worms, insect, fish, serpents and four-legged animals possess two to five sense-organs. Among vegetables also the roots like potato, sweet potato etc. having Sādhāraṇa Śarira<sup>8</sup> are avoided. It is advised that as far as possible the fruits containing

many seeds like custard apple should be avoided. Vigilance in selecting the food inculcates them to accept food that causes the least possible violence.

While choosing clothes, cotton-clothes are preferable than silk. Leather-articles are avoided. A guideline is provided to a businessman by giving a list of fifteen prohibited businesses (Karmādānās) so that one can choose a business which incurs less harm.

In Jain mythologies, it is depicted that when Bharata and Bāhubali, the sons of first Tirthamkara, enter into a war, they decided to engage a duel (dvandva-yuddha) in order to avoid a huge warfare causing death of thousands of warriors.<sup>9</sup> For kings, Virodhi Hirhsa is somehow permitted but Saṃkalpi Himsā is highly condemned. Lord Mahāvira preached the kings who were his lay disciples that they should avoid aggressive wars and showing off their military strength. While defending oneself, one's neighbour, one's country and one's belongings, violence is inevitable.<sup>10</sup> These sinful acts create Karmic bondage and one has to observe penance for lessening the bad effects. The proclamation of Lord Kṛṣṇa in Gitā, i.e. 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' has no scope in Jaina ideology of Himsā and Ahimsā.

In the freedom movement of India against British rule, the Jaina freedom fighters naturally preferred the non-violent way of Gāndhijī than the way of Krāntikārins. In fact, it is evident from Gāndhijī's biography that he was actually influenced by the Jaina way of life.

### **C : The Model of Peaceful Interaction with Rulers.**

When we examine the Jaina History from this point of view, we come to know that in the Ancient, Medieval and Modern period, Jainas are successful in keeping peaceful and creative interaction with the Rulers. There are few kings who themselves belong to Jaina faith. It is mentioned in the prakrit inscriptions

of Hāthigumphā (Kalinga, Mod. Orissa) that this Jaina king Kharavela (200 B.C.) belongs to Cedi dynasty. Though Vanarāja Cāvaḍā who was a Śaiva king of Gujrat in the eighth century, it is evident that he was a Jainized King. He was assisted by important Jaina laymen in ruling the kingdom. He was a devotee of a Jaina mendicant and received spiritual guidance to rule his kingdom. Kumārāpāla (12<sup>th</sup> Cen. A.D.) was one king in the Coulukya dynasty who personally became a Jaina. Hemacandra, the most renowned Jaina Ācārya was his Guru. Animal slaughter, meat, liquor, hunting and dice were strictly prohibited in his kingdom. The dynasties like Kadamba, Gaṅga, Rāṣṭrakūṭa, Cālukya and Hoyasala were quite co-operative towards the Jaina monks and laymen. It is of course the outcome of keeping good relations with the rulers.

On the advent of Mughal kings, mendicants of both the Tapā and Kharatara Gaccha attempted successfully to establish peaceful relations with them. Muni Jinaprabhasūri was a contemporary of Mahammad Taghlak (14th Cen.). He influenced the Mughal Emperor with his occult yogic powers. Due to this relationship, Jinaprabha became successful in keeping the Jaina Saṃgha and Jaina temples intact. With the royal support, Jinaprabha produced remarkable literary works.<sup>11</sup> In the 16th Century, Ācārya Hiravijayasūri was honoured in the court of Emperor Akbar. As a result it is said that the Emperor enforced non-harm in his kingdom on certain holy days and had taken a vow to forego hunting. Jaina narratives portray Jahāngir in a similar fashion.

In the early twentieth century Tapāgaccha Ācārya Buddhisāgarasūri had influenced Sayājirao Gaikwad of Baroda.

The interaction between the Jainas and Europeans is very complex and even less studied than between the Jainas and Muslims.<sup>12</sup> This has been an interaction at the socio-economic level, as Jainas were among the Indian merchants with whom Europeans had their earliest dealings. The British were the

colonial overlords, the relationship in which the social position of Jainas as bankers, traders, merchants etc. brought them into close association with the economic side of the British Rāj.

A later wave of Jaina migration begins in the second half of the 19<sup>th</sup> century. With economic opportunities becoming available in British colonial territories, many Jaina families moved abroad, mainly in Africa. In the 20<sup>th</sup> century Jainas migrated to the 'West'. Jainas are seeking to widen their activities through the creation of 'Inter-faith-links' such as Jaina-Christian Association, the Jaina-Jewish Association and the Leicestershire Ahimsā Society for the care of Nature. In U.S.A. and Canada Jainas have established many Jaina Societies and Jaina Centers. Some include temples, religio- social activities involving lectures and discussions for the spread of vegetarianism, non-violence and peace.<sup>13</sup>

This brief account of Jaina history suggests that Jainas are very adaptive in the changing circumstances. 'The Model of peaceful interactions with non-Jainas' is observed for the last two millenniums by Jainas but one cannot overlook the fact that the divide between Śvetāmbaras and Digambaras and the number of lawsuits and public quarrels in recent years, shows that this is a powerful generator of a sense of otherness between Jaina Communities. During last two hundred years, there are many further divisions created, sometimes sharp and sometimes soft.

#### **D : The Model of Categorization.**

When the Jaina thinkers select any aspect or important point for further elaboration, they divide it into various kinds, varieties and sub-varieties until they reach the logical end of the thought. They adjust and accommodate the non-Jaina views, objects or personalities among these categories. For instance, (i) Jainas present the ladder of spiritual progress with the help of 14 Guṇasthānas. They place persons having wrong world view (Mithyātvins) on the first step of the ladder and name it as



Mithyātva-guṇsthāna. (ii) While explaining Siddhahood, Uttarādhyayana mentions, 'स्त्रीर्लिंगसिद्ध --- स्त्रीर्लिंगसिद्ध --- अन्वर्लिंगसिद्ध'.<sup>14</sup> The gender and sectarian bias is thus overcome by this categorization, (iii) In the early centuries of Christian era, Jainas develop a format or model of 54 Mahāpuruṣas or 63 Śalākāpuruṣas. They categorized the influential or illustrious personalities into Tirthaṅkaras, Vāsudevas, Baladevas, Cakravartins etc.<sup>15</sup> The famous Hindu Purāṇic personalities like Rāma, Lakṣmaṇa, Kṛṣṇa, Balarama, Jarāsaṁdha, Bharata Cakravarti etc. got their 'space' in Jaina environment. This all-inclusive tendency must have created a harmony with the Hindu brethren.

### **E : The Model to Remove Social Injustice.**

This model emerges rightly from the philosophical concept of 'Jiva' in Jainism. Jivas or individual souls are infinite<sup>16</sup>, each separate from the other. The transmigratory souls go through the cycle of births and deaths according to their own Karmans. The Jainas do not believe in any creator God, so the classes and castes are created by human beings and not by God. Basically all Jivas possess same status and are equally eligible for one's spiritual progress. On this philosophical ground Jainas tried to remove the class-barriers and caste-conflicts. The views on Āśramas and Jātis are reflected in many texts like Uttarādhyayana.<sup>17</sup> In Jaina tradition, Śvetāmbaras have conferred the same religious and spiritual status to woman folk. In Jaina Saṁgha, right from Rṣabhanātha, Sādhus, Sadhvis, Śravakas and Śrāvikas are enjoying equal rights.<sup>18</sup> Jainas give equal status to women but in practice, even today, Sādhis enjoy inferior status than Sādhus. A reform is taking place, but the pace of the reform is very slow.

One more observation is very noteworthy under this model that the literacy rate in Jain women is comparatively very high.

### F : The Model of Gupti (Guarding or Protective actions).

In Jaina History, there is a very little scope for rebels, reforms, attacks or eccentric actions. The attitude of guarding and protective actions is directly connected to the ethical tenets of Āśrava and Śaṁvara.<sup>19</sup> Gupti and Samiti means guarding and careful movements. Due to this mild attitude, Buddhism has oppressed Jainism for some time quite strongly to such an extent that it had to bear the retreat before Buddhism in many areas. Around tenth century the might of Buddhism in India declined completely. It could not resist the Jaina faith in the west and in the south. The activities of Kumāri and Śāṅkara, the revival of Vaiṣṇavite and Śaivaite sects proved to be the dangerous opponents and they did severe damage to Jainism particularly in the Deccan and South. The Śaivite sect of Liṅgāyatas proceeded against Jainas extremely fanatically. It is said that the Hoysala King Bittiḍeva ordered that Jainas, compatriots in his early religion be thrown in an oil-mill and crushed, if they did not want to get converted.<sup>20</sup>

The Jaina responses to all these kind of oppressions was surprisingly humble and retreating. The growing might of Hinduism was not revealed to Jainism only in its losing followers. In spite of adopting some revengeful and fanatic steps against Bhakti cults, as far as possible Jainas adopt their language, deities and Pūjā rituals.

This attitude of adoption is clearly reflected in Jain Art and Sculpture. Jainas have enriched the country's art-treasure with numerous and diverse specimens of art and architecture. In the representation of the many lesser deities of the Jaina pantheon, such as Indra and Indrāṇi, Yakṣa and Yakṣi as attendants of the Tirthaṅkaras, the goddess Sarasvati, the Kṣetrapālas in the depiction of scenes from the life-stories of the Tirthaṅkaras, it seems that the artist was not restrained by any rigidly prescribed formulae and had greater freedom. He could also give play to his genius in carving and painting natural

objects and secular scenes from contemporary life. In their temple-architecture, the Jainas while adopting the styles prevalent in the places and times where and when they built their temples also introduced certain characteristic features in keeping with their own culture and ideology.

Thus the model of Golden Middle is found in Jaina expression of Art and Sculpture.

### CONCLUSIVE REMARKS :

The Jainas possess a distinct religion, a separate philosophy, a different ethical code, a set of particular beliefs, practices, customs and manners and a vast literature of their own. The Jainas form a small minority at present and also in the past. Due to this fact, Jainas struggled a lot for identity crisis. Fortunately their sound monitory position and inclination towards charity and donation helped them a lot. They have adopted and still adopting various models of conflict-resolution and peace.

As we have seen above, the chief model of non-absolutism was already available for them as a central doctrine. The above mentioned six models are just some examples of the application of the theory of non-absolutism and Ahimsā. There is a vast scope for formulating more models on the same line. Due to various reasons the attention is not attracted towards the Jaina theories in spite of its tremendous capacity to give solutions on many problems in future.

Aidan Rankin quotes Albert Einstein in his book titled 'The Jain Path : Ancient Wisdom for an Age of Anxiety'. The father of the theory of relativity says, "I do not know if there is rebirth or not or life after death. But if it is true, then I would like to be born in India as a Jain".

It is very noteworthy that a scientist like Einstein has reflected a lot on the Jaina theory of multiples facets of Reality and Truth.

### List of References

1. Open Boundaries, J.E.Cort, Introduction, p.3
2. Bhagavati Sūtra. 7.58-60, 93,94 ; 9-231
3. Dravya, Kṣetra, Kāla, Bhāva, Jñātādharma-kathā 1.5.36; Sthānāṅga 5.170-174
4. Jātaka-kathā, Durgā Bhāgavata Vol. 3 p. 105
5. Samavāyāṅga 34
6. The first Jaina Sūtragrantha is Umāsvāti's Tattvārthasūtra (4th - 5th Cen. A.D.)
7. Tattvārtha. 2.23-24
8. Varieties of vegetables - Sādhāraṇa and Pratyeka , Jivābhigama 1.68,69,72,73; Paṇṇavaṇa 23.38,121
9. Bharata-Bāhubali Dvandvayuddha , Ādipurāna , Vol. 2, p. 200-220
10. Upāsakadaśā, p. 488-491; Kālakācāryakathānaka , Norman Brown , p. 34,35
11. Introduction of Vividhatirthakalpa
12. Open Boundaries, J.E.Cort, Introduction, p.7
13. Jainism , Natubhai Shah , p. 82
14. Uttarādhyayana. 36.50
15. The division of Śalākapuruṣas in Tirthaṅkara etc., Kummāputtacariya, Verse 49
16. Jivas are infinite and separate, आलुए मूलए ---जाव अणंतजीवा विविहसत्ता, Bhagavati. 7.66
17. Criticism on Class and Caste, Uttarādhyana, chapters : 9 ; 14 ; 15
18. Fourfold Saṅgha of Rṣabhadeva, Ādipurāna, Vol. 1, p. 591-592
19. Tattvārthā. 9.1-2
20. Jainism, Glassenapp, p.65
21. Aidan Rankin, The Jain Path, p.1

### List of Reference-Books

1. आदिपुराण, भाग १, आ. जिनसेन, सं. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, १९९३
2. आदिपुराण, भाग २, आ. जिनसेन, सं. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, १९९३
3. भगवतीसूत्र, अंगसुत्ताणि - २, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राजस्थान), वि.सं. २०३१
4. दर्शन और चिंतन, पं. सुखलालजी संघवी, अहमदाबाद, १९५७
5. The Jain Path, Aiden Rankin, New age Books, Delhi, 2007
6. Jainism, Helmuth Von Glasenapp, Gen.Ed., Satya Ranjan Banerjee, Motilal Banarasidass, Delhi, 1999
7. Jainism (The World of Conquerors), Vol. 1 and II, Natubhai Shah, Ed.S.R.B., Delhi, 2004
8. Jainism (A Pictorial Guide to the Religion of Non-Violence), Kurt Titze, Motilal Banarasidass, Delhi, 2001
9. Jain Theory of Multiple Facets of Reality and Truth, Ed. Nagin J. Shah, BLII, Delhi, 2000
10. जीवाभिगम, उवंगसुत्ताणि ४, खंड १, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राजस्थान), वि.सं. २०४४
11. कुम्मापुत्तचरिअं, जिणमाणिक्यविरचित, सं. पी.एल्.वैद्य, पुणे, १९३०
12. नायाधम्मकहा, अंगसुत्ताणि ३, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राजस्थान), वि.सं. २०३१
13. Open Boundaries, Ed. John E. Cort, Indian Books Centre, Delhi, India, 1999
14. पन्नवणा, उवंगसुत्ताणि ४, खंड २, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राजस्थान), वि.सं. २०४५
15. सिद्धार्थजातक, खंड ३, लेखिका - दुर्गा भागवत, पुणे १९७७
16. स्थानांग, अंगसुत्ताणि - १, आ. तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राजस्थान), वि.सं. २०३१
17. THE STORY OF KALAKA, W. NORMAN BROWN, WASHINGTON, 1933

18. उत्तराध्ययन, सुखबोधा टीका, नेमचन्द्र, वलाद, १९३७
19. उपासकदशांगसूत्र, घासीलालजी म., श्वेतांबर स्थानकवासी जैन संघ, कराची, १९३६
20. विधिमार्गप्रपा; विविधतीर्थकल्प, जिनप्रभसूरि, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, सं. जिनविजय, १९३५

C/o. Professor  
H.N.Jain Chair  
University of Pune,  
PUNE

# On Nouns with Numerical Value in Sanskrit

WILLEM BOLLÉE

There are many studies on so-called lucky or typical numbers in India, as, e.g., 16, 18 or 108 in place of which the latest one known to me, that of Lienhard,<sup>1</sup> may be mentioned here. These deal with numbers expressed by numerals. Apparently, numerals cannot be used as nouns as, e.g. in English “the eleven” for a soccer team; in German “4711” for eau de Cologne, or in French “soixante-neuf” for a particular kind of sexual activity. In India, however, as with the Pythagoreans in Greece,<sup>2</sup> there are many nouns with a numerical value because associated with a certain number as *agni* ‘fire’ which can also pertain to the number three for there are three fires. Others, as *kāya*, *tanu* or *deha* ‘body’, do not stand for 25 though the body is twenty-fivefold<sup>3</sup> nor does *karṇa* ‘ear’ or *kumbha* ‘frontal globe on the forehead of an elephant’ denote the number two. In this paper the former category will be the subject on the basis of the references of the word ‘number’ in Monier-Williams.<sup>4</sup>

The first to draw the attention to this phenomenon was the astrologer Abu-al-Rayḥān al Birūnī (973-1048) who studied Sanskrit in India in 1017 C.E. Writing on the metrical handbooks on astronomy of the Hindus he says: „For each number they have quite a great quantity of words. Hence, if one word does not suit the metre, you may easily exchange it for a synonym which suits. Brahmagupta says: „If you want to write *one*, express it by everything which is unique, as the earth, the moon; *two* by everything which is double, as, e.g., *black* and *white* ...; *twelve* by the names of the sun.”<sup>5</sup>

Both Filliozat and the polymath Kane put up a non-exhaustive list of synonyms up to 49 to be employed to indicate a certain number.<sup>6</sup> The practice is especially used by astronomers such as the author of the *Sūryasiddhānta*<sup>7</sup> and Varāhamihira (first

half of the 6th century C.E.), and to write years, as did Guṇabhadra (9th century) in his Uttarapurāṇa 73,76 *kha-catuṣka-dvi-varṣānte* ‘after twenty-thousand’ (two with a tetrad of zeros) years, or Manoharlāl Śāstri (20st century) in his preface,<sup>8</sup> p. 8 vs 5, to Vādirāja’s *Pārśvanāthacarita* composed in Śaka 947 that is *naga(7)-vārdhi(4)-randhra(9)-gamana-saṃvatsare* ‘in the year that consists of mountain, ocean & opening in the body’ read from right to left.

Below a list of Sanskrit nouns attested in Monier Williams as used instead of numbers is given. Items omitted in MW have been incorporated from Filliozat’s list with a superior plus sign (+), from Kane’s list with an asterisk (\*). As a rule, there seems to be no relationship between non-synonyms associated with the same number, as, e.g., the earth, the hook and the *kali* die which all denote the number one.

*akṣa* (die) 5

*akṣi* (eye) 2

*anika* (hook) 1 or 9

*aga* () 7

*agni* (fire) 2

*atidhṛti\** (metre of 4x19 syllables) 19

*atyāṣṭi* (metre of 4x17 syllables) 17

*Atridṛg-ja*, *Atri-netra-prabhava*, *Atri-netra-(pra)sūta* (moon) 1

*adri* (mountain) 7

*an-anta+* (heaven, space) 0

*an-antā* (earth) 1

*anala* (fire) 3

*anila* (wind) 49

*anuṣṭubh* (metre of 4x8 syllables) 8

*antarikṣa+* (heaven, space) 0

*antya* (‘last’) 1.000 billions

*abja+* (moon) 1



- abdhi*\*+ (ocean) 4  
*abhra*\*+ (heaven, space) 0  
*amara* (deity) 33  
*amṛta* ('nectar; water') 4  
*ambara*\*+ (heaven, space) 0  
*ambu*(dhi) (ocean) 4  
*ambu-vāha* (cloud) 17  
*ambhas* (water) 4  
*aya, āya* (die of good fortune) 4  
*arāti* (inner enemy) 6  
*ari* 6 (of the 6th astrological mansion)  
*arka* (ray > sun) 12  
*aṛṇava* (sea) 4  
*artha* (five things of the Pāśupatas) 5. - See also s.v. sense object  
*avatāra*\* ('descent, incarnation of a deity') 10  
*aśva* (horse of the sun) 7  
*Aśvin* 2  
*aṣṭi* (metre of 4 x16 syllables) 16  
*ahar*+ (day) 15  
*ahi* (snake) 8  
*ākāśa*\*+ (space) 0  
*ākṛti* (metre of 4x22 syllables) 22  
*ādi*\* (beginning) 1  
*āya* (die) 4  
*āśā*\* (direction, quarter) 10  
*indu* (moon) 1  
*Indra* 14  
*indriya* (sense) 5  
*ibha* (elephant ?) 8  
*iṣu* (arrow) 5  
*Īsu, Īsvara* (Rudra) 11

- utkṛti* (metre of 4x26 syllables) 26  
*urvarā+* (earth) 1  
*ūrmi* (wave) 6 (waves of existence: cold, heat, etc.)  
*ṛtu* (season) 6  
*ṛṣi* (seer) 7  
*kara* (hand) 2  
*karāṇyā+* (with Jains: major observance) 5  
*karman+*, see: action  
*kalā* (moon digit) 16  
*kali* (losing die) 1  
*ku* (earth) 1  
*kuñjara* (elephant) 8 (cf. *kumbhin*)  
*ku-dhara* (mountain) 7  
*kunda* (treasure of Kubera) 9  
*ku-bhṛt* (mountain) 7  
*Kumāra-vadana* (six faces of Kumara/ Skanda) 6  
*kumbhin* (with prominences on its forehead: elephant) 8  
 (elephants of the quarters and intermediate quarters)  
*kṛta* (winning die with four dots) 4  
*kṛti* (metre of 4x20 syllables) 20  
*kona* (corner) 4  
*krama\** (step) 3 (steps of Viṣṇu)  
*kṣamā* (earth) 1  
*kṣamā-dhara* (mountain) 7  
*kṣiti* (earth) 1  
*kha\*+* (sky) 0  
*khe-cara* (planet) 9  
*gagana\*+* (sky) 0  
*gaja* (elephant) 8 (cf. *kumbhin*)  
*gāyatrī+* (metre of 3 pādas of 8 syllables) 24<sup>9</sup>  
*giri, girindra* (mountain) 8  
*guṇa* (quality) 3

- gulpha* (ankle) 2  
*guhaka, guha-vaktra* (Skandha's heads) 6  
*guhayaka* 11 (class of divinities)  
*go* (planet earth) 9  
*graha* (planet) 9  
*grāma\** (scale, gamut) 3  
*cakra* (sign of zodiac) 6  
*candra* (moon) 1  
*chidra* (opening of the body) 9  
*jagat* 48  
*jagati+* (metre of 4x12 syllables) 48<sup>10</sup>  
*jala+* (water) 4 and 7  
*jala-dhara-patha+* (sky, space) 0  
*jāti\*+* (metre of 4x22 syllables) 22  
*Jina* 24  
*jvalana* (fire) 3  
*tattva* (true principle in Sāṃkhya philosophy) 24 or 25  
*tanū+* (body) 1  
*tarka* (logical category : *dravya, samaya*, etc.) 6  
*tāna\*+* (note in music) 49  
*tigma-kara* (sun) 12 (cf. *arka*)  
*tīthi* (lunar days) 15  
*tura(n)ga* (horse) 7 (horses of the sun)  
*Trinetra* (Śiva with three eyes) 3  
*danta* (tooth) 32  
*darśana* (system of philosophy) 6  
*Dasra* (Aśvin) 2  
*Dānava*  
*diś* (quarter and intermediate quarter) 8  
*diśā\** (direction) 10  
*deva* (deity) 33  
*deva-suṣi* ('divine tube or vital air') 5

- dos\**, *doṣan\** (arm) 2  
*dvīpa* (elephant) 8  
*dharā\**+ (earth) 1  
*dhātu\** (element of the body such as skin and blood) 7  
*dhṛti\**+ (metre of 4x18 syllables) 18  
*nakṣatra\** (lunar mansion) 27  
*nakha\** (nail) 20  
*naga* (mountain) 7  
*Nanda* (ancient dynasty) 9  
*nabhaś-cara\** (planet) 9  
*nayana* (eye) 2  
*nāga* 7 or 8 (Nāgas), cf. snake  
*Nāsatya\** (Aśvin) 2  
*nidāna* (with Buddhists: cause of existence) 12  
*nidhi\** (treasure) 9  
*nṛpa\** (king) 16  
*netra+* (eye) 2  
*pakṣa(ka)* (side) 2  
*pañkti* (row) 5  
*pañkti* (metre of 4 x 10 syllables) 10  
*payo-rāśi* (milk ocean) 4  
*para* (top, maximum) ten billions  
*parvata* (mountain) 7  
*pavana* (vital air) 5  
*Pāṇḍava\** 5  
*Pāṇḍu-suta\** 5  
*pāvaka* (fire) 3  
*pitā-maha+* (grandfather) 1  
*Pināka-nayana* (Śiva) 3  
*pura\** (city burnt by śiva) 3  
*pūrṇa* (zero) 0  
*pṛthivi +* (earth) 1

- phaṇa-bhṛt* ('snake') 8 or 9  
*prakṛti\** ('natural condition?') 21  
*bāṇa* (arrow) 5 (*Kāma* has five arrows)  
*bāhu+* (arm) 2  
*bindu* (dot) 0  
*bha-samūha* (aggregate of lunar asterism) 27  
*bhaya+* (fear) 27  
*bhujā\** (arm) 2  
*bhujaga(ma)* (snake) 8  
*bhuvana+* (earth, world) 3 and 14  
*bhū* (earth) 1  
*bhūta* (element) 5  
*bhū-dhara* (mountain) 7  
*bhū-pa* (king) 16 (cf. *nṛpa*; *rājan*)  
*bhūmi\** (earth) 1  
*bhūmi-dhara* (mountain) 7  
*bṛhati* (metre of 8 + 8 + 12 + 8 syllables) 36  
*makarālaya* (sea) 4  
*maṅgala+* (good omen) 8  
*Madana-dahana* (Śiva-Rudra) 11  
*Manu+* 14  
*mahi* (earth) 1  
*mahi-dhra* (mountain) 7  
*Mahêśa(-netra)* (Śiva's three eyes) 3  
*Mahêśvara* (Rudra) 11  
*mandākrānta* 17 (metre with 4 x 17 syllables as, e.g. of Meghadūta)  
*mārgaṇa* (arrow) 5 (cf. *bāṇa*)  
*Mārtaṇḍa* (Āditya) 12  
*māsa* (month) 12  
*muni* (seven celestial *munis*: 7 stars of Ursa Maior) 7; —  
 cf. *ṛṣi*, seer)

- mūrchanā\** (melody) 21  
*mrgāṅka+* (moon) 1  
*yama(la)* (twin) 2  
*yuga* (age of the world) 4 or (as a moon position ?) 12  
*yuj* (couple, pair) 2  
*ratna* (jewel) 3+, 5+, 9 or 12  
*rada* (tooth) 32  
*randhra* (hole+; opening) 0 or 9  
*ravi* (sun) 12  
*rasa* (taste, flavour) 6  
*rāga+* ('colour, melody') 6  
*rājan\** (king) 16 (cf. *nṛpa*, *bhūpa*)  
*Rāma* 3; — (there are three Ramas)  
*Rāvāṇa-śiras\*+* (ten heads of R.) 10  
*rāśi+* (sign of zodiac) 12  
*Rudra* (*Bharga*, *Madana-dahana*) 11 (there are eleven R.)  
*rūpa* (single specimen) 1  
*liṅga* (twelve Śiva-liṅgas) 12  
*loka\*+* (world) 3 and 7  
*locana\** (eye) 2  
*varṇa\** (social class) 4  
*Vasu* (deva) 8  
*vahni* (fire) 3 (cf. *agni*)  
*vājin* (horse) 7 (cf. *aśva*)  
*vāri-dhi* (ocean) 4  
*vikṛti+* (metre of 23 syllables in a quarter) 23  
*viyant+* (sky) 0 *virāj* (metre of 4x10) 10  
*virāj* (metre of 4x10) 10  
*vivara* (aperture of the body) 9  
*viśva* (for: *Viśvedevāḥ*) 13  
*Viṣve(-devāḥ)* 13  
*viśaya* (sense object) 5

- Viṣṇu\* 1  
 Viṣṇu-pada+ (sky) 0  
 veda 4  
 vyāla (elephant or snake) 8  
 vyoman+ (sky) 0  
 śakti of Śiva (*mahā-vidyā*) 10  
 Śakra (Indra) 14  
 śaśāṅka, śaśin (moon) 1  
 śāstra+ (manual, treatise) 6  
 śikhin (fire) 3 (cf. *agni*)  
 śūnya\* (emptiness, vacuum) 0  
 śaila (mountain) 7  
 samkhyā\* (number) 1 to 9  
 samīraṇa (body wind) 5  
 samudra (ocean) 4  
 sarit (stream) 4  
 sarpa\* (snake) 8  
 sāyaka (arrow) 5 (cf. ???)  
 Siddha (Jina) 24  
 siddhī\* (supernatural faculty in yoga) 8  
 sindhu (ocean) 4  
 sindhura (elephant) 8  
 sura (deity) 33  
 sūrya (sun) 12 (sun in 12 signs of zodiac)  
 soma+ (moon) 1  
 smṛti (sacred tradition) 18 (after the 18 law-givers)  
 svāra (musical note) 7  
 svarga+ (prakṛti metre of 4 x 21 syllables) 21  
 haya (horse) 7 (cf. a.va)  
 Hara-netra (Śiva's third eye) 3  
 hutāśa (fire) 3 (cf. *agni*)

## FOOT-NOTES

1. Lienhard 1996: 523-36.
2. For one they say Apollo; for two: strife; for three: Athena, justice, etc. (Plutarch, De Iside et Osiride 381F).
3. ŚpBr IX 1,1,44 and 3,3,19, cf. XII 3,2,2.
4. I sincerely thank Dr Thomas Malten, of Cologne, who was kind enough to have his computer collect the material for this paper for me.
5. Sachau 1910: I 177. For this purpose Filliozat's Appendix I in Renou & Filliozat 1953, p. 708f. and Kane's list 1974: 701ff. can be used as they were drawn up after numbers.
6. Kane, loc. cit. His statement "Any number of synonyms may be employed to indicate the same number" (p. 701) is not (always) covered by MW, e.g. 9 or 14 for ratna is not mentioned as such for maṇi.
7. Lāṭa mentioned as such by Alberuni probably was actually its commentator (Winternitz III,2 1967: 683). On the practice see Gangooly 1935: Introductory note, p. lv, and Renou & Filliozat 1953, § 1722.
8. Translated from Nāthurām Premṭ's Marathi.
9. Shouldn't this be 8?
10. Shouldn't this be 12?

## BIBLIOGRAPHY

- |                       |  |
|-----------------------|--|
| Balbir & Pinault 1996 | Balbir, Nalini & Pinault, Georges, <i>Langue, style et structure dans le monde indien</i> . Paris: PUF.  |
| Burgess 1860          | Burgess, Ebenezer, see Gangooly.   |
| Gangooly 1935         | Gangooly, Phanindralal (ed.), <i>Translation of the Sūrya-siddhānta by Ebenezer Burgess</i> . Calcutta: University of Calcutta (repr. from JAOS 1860). |
| Glazenapp 1999        | Glazenapp, Helmuth von, <i>Jainism. An Indian Religion of Salvation</i> . Delhi: Motilal Banarsidass.  |



- Ifrah 1994 Ifrah, Georges, *Histoire universelle des chiffres*. Paris: Laffont.
- Kane 1974 Kane, Pandurang V., *History of Dharmasāstra* V,1. Poona: BORI (Government Oriental Series Class B, No 6).
- Lienhard 1996 Lienhard, Siegfried, Lucky numbers in ancient Indian literature, in: Balbir & Pinault 1996: 523-36.
- Renou & Filiozat 1953 Renou, Louis & Filiozat, Jean, *L'Inde classique*. Manuel des Etudes Indiennes II. Paris: Imprimerie nationale.
- Sachau 1910 Sachau, Edward C., *Alberuni's India*. London : Routledge & Kegan Paul.
- Winternitz 1963-67 Winternitz, Maurice, *History of Indian Literature* III, 1 and 2. Delhi: Motilal Banarsidass.

Don-Bosco-str-2  
D-96047, Bamberg  
Germany

# Lexicographical Notes on the Taraṅgalolā

Thomas Oberlies

Right at the start of the Taraṅgalolā, its author Nemicandra states he had decided to re-write an older work bearing the name of Taraṅgavaī because “it was composed by Pālittaya using a lot of Deśi words. It had an entertaining [but] also very detailed story. [So] nobody heard<sup>1</sup> of it<sup>2</sup> nor did anybody ask for it nor did anybody narrate it. It was fit only for the educated ones. What should other people do with it? Having ... divested the stanzas composed by Pālittaya of the Deśi words, this abridgement was made for the pleasure of other people so that [the Taraṅgavaī] may not pass into oblivion ....”.

*Pālittaṅṇa raiyā vittharao taha ya deśi-vayaṅṇehiṃ nāmeṅṇa  
Taraṅgavaī kahā vicittā ya viulā ya (5)*

*katthai kulayāi maṅoramāi aṅṅattha guvila-juyalāiṃ aṅṅattha  
[ca]kkaḷāiṃ duppariallāi iyarāṅṇaṃ (6)*

*na ya sā koī suṅṇei no puṅṇa puṅṇchei neva ya kahei, viusāṅṇa  
navara joggā, iyara-jaṅṇo tie kiṅ kuṅṇau (7)*

*tā ucceṅṇaṃ gāhāo Pālittaṅṇa raiyāo deśi-payāiṃ mottuṃ  
saṃkhiṅṅayari kayā eṣā (8)*

*iyarāṅṇa hiyaṅṅhāe mā hohī savvahā vi vuccheo evaṃ  
vicintiṅṇaṃ khāmeṅṇaṃ tayaṃ sūriṃ (9)*

Judged by the amount of Deśi words Nemicandra still uses in his Taraṅgalolā despite this announcement, we can imagine how rich the original work must have been with such words. No wonder Pādalīpta is credited with the composition of a Deśikośa.<sup>3</sup> Over the next couple of pages quite a number of these, as well as words previously unattested in the literature, are listed, which suffice to give an impression, however faint, of how much our Prakrit dictionary would be enriched by a

systematic evaluation of the Taraṅgalolā.<sup>4</sup> What could not be done here was compare the words with the corresponding ones in the Taraṅgavaī section of Bhadreśvara's *Kahāvali* and of Ajitasāgara's *Taraṅgavatī Kathā*. This task falls now to the new edition of this unique text. Back in 1999, when I paid a visit to Professor H. C. Bhayani in Ahmedabad, we decided to bring out a new edition with explanatory notes and a detailed glossary; this would replace his edition of the Taraṅgalolā, with which he himself was rather unhappy – to put it mildly. Prior to 1999, I had prepared a digital version which was based on one by Ernst Leumann. The next step would have been to compare this edition with the manuscripts Professor Bhayani had at his disposal. The death of the great scholar only one year later brought this common enterprise to an end. It was only this year that I began working on the edition again. This was made possible by the kindness of the director of the L.D. Institute, Professor Jitendra Shah, from whom I obtained copies of the manuscript – actually a hand-written copy of a manuscript<sup>5</sup> – that is kept there. Despite this help, the task is still a very difficult one. And it can only be completed in a trully satisfactory manner if another manuscript (preferably more than only one) can be used. So I would be more than grateful if I could be informed as to whether any such manuscripts are extant in Jain Bhaṅḍārs.<sup>6</sup>

*uppehaḍa-* (cf. Deś I 116 *uppehaḍa-ulhasiā ... ubbhaḍae*, Pāiyalacchi 55 *uppaheḍam uḍḍāmaram ubbhaḍam āḍambarillaṃ ca*, see also Hc II 174) “excellent, superior”, 33 (*lāvaṇṇ'uppehaḍeṇa vayaṇeṇaṃ*) — Samarāicca Kahā 449,18 (*niurumbathī-uppehaḍa-sihar'uccindhaṃ ca Rayaṇagirīṃ*)

*karamari-* (cf. Deś II 15 *karamari bandī*, Pāialacchi 106 *bandio karamario*) “female slave”, 962, 1017, 1044, 1056 — Mahāpurāṃa 72,21.10, 85,1.16; cf. Pāli *karamara-* “a captive, a prisoner” (see M. Cone, *A Dictionary of Pāli*. Oxford 2001, s.v.)

- kalaṃka-* (cf. Deś II 8 *mālia-vaṃsesu kāmha-kalaṃkā*) “arrow”, 1595 (read to *taṃ vayanakalaṃkaṃ jaṇassa soṭṭha tattha satthāho* [LEUMANN’s text has *kalaṃ(baṃ)*])
- kiṇo* (< *kiṃ nu*<sup>7</sup> [cf. Deś II 31 (ct.) *kiṇo kisa praśne*, Pāialacchī 246 *kisa kiṇo*, He II 216 *kiṇo praśne*]) “why?”, 79, 698 (read with LEUMANN ... *tappara-kaṇṇo tahiṃ baḍḍo // bhaṇai kiṇo taṃ bhodi* ...)
- koyaṇḍa-* (cf. Pāialacchī 37 *koyaṇḍaṃ gaṇḍivaṃ*) “bow”, 337, 338 — *kodaṇḍa-*, MPC 205
- kolamba-* (cf. Deś II 47 *kolambakollarā piṭhare*) “(pan’), plain, platform”, 943 (... *palliṃ / giri-kolamba-niviṭṭhaṃ*) — Nāyā I 18,18 *corapalli ... visamagirikaḍaga-kolamba-saṃniviṭṭhā*, Vivāgasuya I 3,6 *corapalli ... visamagirikandara-kolamba-saṃniviṭṭhā*, Vasudevahiṇḍi Majjhimakhaṇḍa 43,15 (*giri-kolambe*), 124,10 (id.);<sup>8</sup> Tārāyaṇa 25 (*gajjiya-rāvaṇa-payahara-kolambā*)
- In stanza 89 this word seems to mean something like “pride”, as LEUMANN suggested in his papers<sup>9</sup> (*pura-vara-jaṇa-kolambi tattha puri devaloya-velambi / savva-jaṇa-maṇ’ālambi Kosambi nāma nāmeṇa* “Kosambi the pride of the best people of [all] towns ...”)<sup>10</sup>
- khaṇḍa-* “playground”, 251 (*sattivaṇṇa-rukkaṃ ... jaṃ khaṇḍaṃ chappaya-gaṇāṇaṃ* [BHAYANI has put a question mark after the word])
- khaṇḍaya-* (*khadga*[ka]-) “sword”, 1484 (*avakiriya ... nara-ruhira-sonḍayaṃ khaṇḍayaṃ ca tass’ eva pāsammī* [LEUMANN’s text]) — Bhaṇisatta Kaha 222,5 (*suṇḍirahaṃ khaṇḍai vasai Lacchī*), Paramātma Prakāśa Yogasāra I 121 (*ekkaḥiḍ kema samanti vaḍha be khaṇḍā paīyāri*)

- khaṇṇuya-* (cf. Deś II *khaṇṇuo kile*, Hc II 99 *khaṇṇū khāṇū*) “wegde”, 331 (*paehi sama-khaṇṇuya-samāvaḍiya-bagga-visama-nakkhehiṃ*)
- kuṇṭai* (< kuṇṭati) “to mutilate, to pluck off”, 239<sup>11</sup>
- cakkāya-* (< cakravāka- [cf. Hc I 8 *kvacit sandhir eva – ... cakkāo*]) “a kind of bird (most probably the ruddy shelduck)”, 298, 388, 564 — PC 94,51, 94,92
- caṅgoḍa-* “casket, box”, 143, 145 — Bṛhatkalpabhāṣya 5116; cf. Pāli *caṅgoṭa(ka)-*, Ja I 65,9, IV 257,8
- cāemi* (cf. Hc IV 86 *śaknoter ete catvāra ādeśāḥ vā bhavanti – cayaī*) “to be able”, 875
- cikkaṇa-* (< cikkaṇa- [cf. Mbh 14,49.49] “sticky fluid”, 1291 (*ramiyavva-cikkaṇe laggā*) — Dasaveyāliya VI 65, Bṛhatkalpabhāṣya 1825, 6114, 6423
- chaiya-* (< \*chadita- [sthagita- x channa-]; cf. Hc II 17 *kvacit sthagitaśabde ‘pi – chaiyaṃ*)<sup>12</sup> “covered”, 370, 1559 (BHAYANI’s ed. has *thaiya*)
- ṭappara-* (cf. Deś IV 2 *karālakhaṇṇammi ṭapparao*) “large (of ears)”, 698 (read with LEUMANN ... *ṭappara-kaṇṇo tahiṃ baḍuo*) — Karpūramañjarī I 20,40 (*ṭapparakannaṃ*)
- dantaya-* (< dantaka- “something like a tooth” [cf. CDIAL 6153: *dantaka* “projection on a rock”]) “bee-hieve”, 252 (*bhūmiyala-puṇṇacandaṃ bhamarāṇaṃ dantayaṃ pecchaṃ*)
- dara-* (Deś V 33 *daram addhe*, Hc II 215 *dara ity avyayam ardhārthe iṣadarthe ca*) “half, a little bit”, 305 (*dara-vaṭṭula-suhaya-pakkala-sariro* [LEUMANN reads °*muhaya-cakkala-sariro*]) — Bṛhatkalpabhāṣya 5313 = Ohanijjutti 254 (= *ardha*°, ct.s.), Bhavisatta Kaha 7,8, 66,3, 92,3

- dariya-* (cf. Hc I 144 *dr̥ptaśabde ... dario* [see also II 96 *dario-siheṇa*], Pāialacchi 75 *gavviyā dariyā*) “proud”, 1488
- dihara-* (< \*dighara- < dirgha-)<sup>13</sup> “long”, 555 — Sur II 218 (*tā kimpī cintiūṇa khaṇantaraṃ diharaṃ ca nisasiuṃ*)
- dhayarat̥tha-* (< dhṛtarāṣṭra-) “goose”, 259, 299 — cf. Pāli *dhatarat̥tha-*, Ja V 340,14\* (*dhatarat̥the ti haṃse*, ct.)
- dhiullaya-* (< *dhiyā-* [< *duhitā*] + suffix °*ulla[a]*-) “puppet, doll”, 115 (*kaṇayamaya-putta-dhiullaehim*) — *dhiulliyā-*, Sam Kahā 737,3, MPC 180, Sukhabodhā (Ed. of Śri-Ātma-Vallabha-Granthānka 12) 66a.9
- nakkha-* (< *nakha-* [cf. Hc II 99 *nakkhā nahā*]) “nail”, 331
- nāḍaijjā-* (< *nāṭakiya-*) “female dancer”, 1543 — ĀvC 473,2 = ĀvH 356,7 (missing from ĀvM)
- niurumba-* (cf. Pāialacchi 19 *saṃdoho niurambo bharo*) “multitude, great amount”, 270 °*paumiṇi-niurumbanibhaṃ*), 345 (*asoya-pupph’ovayāra-niurumbhaṃ* [LEUMANN reads °*niurambhaṃ*]) — Samarāicca Kahā 437,1, *niuramba-*, Surasundarīcariya III 91
- nimiya-* (cf. Hc IV 199 *nyasyater etāv ādeśau bhavataḥ – ṇimai ṇumai*, IV 258 *nimiyam sthāpitam*) “cast down, laid down”, 768 (*ūru-nirantara-koppara-karayala-palhattha-nimiya-muhayandā*<sup>14</sup> [JHAVERI °*candā*,<sup>15</sup> LEUMANN °*pamhā*])<sup>16</sup> — Samarāicca Kahā 9,16 (*nimiya-dit̥thi*), Sanatkumāracarita 519,5 (*nimiya-nayaṇa*)
- nimmāya-* (< *nirmāta-*) “well informed, skilful”, 96, 197, 1287, 1288 — Aupapātikasūtra (ed. by E. LEUMANN) 53,29 = Kalpasūtra (ed. by H. JACOBI) 49,30, Surasundarīcariya XII 42

- nīsāmaṇṇa-* (< niḥsāmānya- [cf. Hc II 212]) “extraordinary”, 1500 (read with LEUMANN *taiyā nisamaṇṇam so puṇṇam aṇuttaram kāsī*) — Kuvalayamālā I 31,25
- nisuḍhai* (cf. Hc IV 158 *bhārākrānte kartari namater nisudha ity ādeśo bhavati*, Pāialacchī 194 *pāiyam nisuddham ca*) “to press down [by a load]”, 1312 (*kamma-vihecagam nisudhiṇṇa*)
- neḍāli-* (< niḍāla- < \*nilāḍa- < \*nalāṭa- < lalāṭa-)<sup>17</sup> “forehead”, 310 (*royaṇa-neḍālio giri-nadiṇam* “the foreheads [= upper sides] of red lotuses of mountain rivers” [Ed. *rāyaṇa-neḍḍālio*]), 734
- paulei* (cf. Deś VI 29 [ct.] *pulai pacati*, Hc IV 90 *pacater solla*<sup>18</sup> *paula ity ādeśau vā bhavatah*) “to cook”, 368 (*hayāso ... paulehii piyam me*) — Malayagiri’s ct. on Vyavahārabhāṣya III 93a.14 (*pauleum mamsam*)
- paṇṇa-* (< pragaṇa- [cf. Hc I 180])<sup>19</sup> “straight”, 337 (*paṇṇam kuṇai hayāso vaṇahatthi-viṇāsaṇam kaṇḍam*)
- paccala-* (←\*pratyalam [cf. Deś VI 69 *asahaṇa-samatthaesum ca paccalo*, Pāialacchī 36 ... *samatthā ... paccalā*]) “able”, 1112 (*jibbhā ... dehi tti na paccalā vottum*) — Surasundaricariya I 14
- pacchayaṇa-* (< \*pathy-adana- [cf. pathy-aśana-]; cf. Deś VI 24 *paccheṇayam ca pāhejjam*) “provisions for the journey”, 1171, 1533 — *patthayaṇa-* (cf. Pāialacchī 155) Sam Kahā 130,15, Sukhabodhā (Ed. of Śrī-Ātma-Vallabha-Granthāṅka 12) 251,16 (ed. JACOBI, *Ausgew. Erz.* 29,8, has the wrong reading *pacchāyaṇa-* which, however, has been registered by PSM)
- paḍupāraga-* epithet for women’s garments, 1103 (*masiṇa-paḍupāraga-niyaṃsaṇāhi kai-gahiya-ceḍarūvāhiṃ / ... gahavai-ghariṇiṃ ...*)





- mallahaḍi-* (something like a) “drum”, 945 (*mallahaḍi-paḍaha*<sup>9</sup>)
- muṇḍha(n)-* (< mūrḍhan- [cf. Hc I 26 *muṇḍhā... mūrḍhan*, II 41 *muṇḍhā muddhā*]) “head”, 330 (*āraṇṇaya-puppha-muṇḍha-kaya-mālo*)
- ribhiya-* (< ribhita-) “singing”, 242 (*bhamarā ribhiya-maṇohara-mahura-suha-sarāsarā Aṇaṅgassa*), 1488<sup>22</sup>
- royaṇā-* (< rocanā-) “the flower of a red lotus”, 266, 1469 (see also above s.v. *neḍāli-*)
- leṇḍa-* (cf. CDIAL 11057) “dung of an elephant”, 323 (read with LEUMANN *mukka-ghora-leṇḍo ya* — *ĀvC* 400.6 (*muttiyaṃ leṇḍaṃ ca mukkaṃ*), *leṇḍiyā-*, *ĀvH* 417a.5 = *liṇḍiyā-*, *ĀvC* 546.1)
- lhikkai* (cf. Hc IV 55 *lukkai likkai lhikkai*) “to hide”, 1027
- vaṭṭula-* see *dara-*
- vand(r)a-* (< vṛnda-) “crowd”, *vandra-*, 553, *vanda-*, 938
- vammaha-* (< manmatha- [cf. Hc I 242 *manmathe vammaho*]) “the god of love”, 203 (*vammaha-nandi-tūraṃ*), 219 (*vammaha-sara-pahakareṇa*), 542 (*vammaha-kando*) — PC 6,162 (*vammaha-sara-*)
- vallaa-* (< \*vallaha- < vallabha-) “beloved”, 1300 (*jattha ya piya-vallāṇaṃ diṇṇuggaha-rao savva jaṇo / andolesu tuṭṭho baddhesu aṇāvarāhesu* “All people were intent upon helping those of their beloved and dear ones who were down-cast [due to the long winter]. They rejoiced in swings that were [firmly] bound [to trees] and therefore free from [danger of] accident<sup>23</sup>”)
- vallūra-* “dried meat”, 1378, 1379 — *ĀvC* 531,10 = *ĀvH* 399.8 = *ĀvM* 504.9 (ed. *vallareṇaṃ*)
- vasuṇanda-* (cf. Hārāvali 151 *khetako vasunandakaḥ*, Triṣāṣṭiśālākāpuruṣacarita I 4,122 *khadgaś ... vasunandaiś ca*) “shield”, 1476 — Surasundaricariya

II 22, Bhavisatta Kaha 86,10, 87,8

- velamba-* (< *viḍamba-* [cf. Deś VII 75 *viḍambaṇāe a velambo*]) “mockery, derision”, 89 (*puri devaloya-velambī* “the town which [by its beauty] abases [even] the heavenly worlds”)
- vehavva-* (cf. *vaidhavya-* [cf. Hc I 148]) “widowhood”, 355, 650
- vodrahi-* (cf. Deś VII 80 *voraccha-vodrahā taruṇe*, Hc II 80 *vodrahāyas tu taruṇapurusaḍivācakāḥ*) “young woman”, 1095
- saṅḍi-* (< *saṅḍha-* [cf. Hc I 30]) “barren”, 239 (read with LEUMANN *vāṇaṃ paḍiyāo piṅḍio tassa dharāṇi-saṅḍio*<sup>24</sup> “its buds, fallen down due to the wind, lay barren on the earth (i.e. unable to bear fruits)”)
- saṃdāṇiya-* (< *saṃdānita-*) “bound”, 942, 949
- samālāhana-* (< *samālabhāna-* [see R 4,25.25]) “unguent”, 1161 — *samālabhāna-*, Surasundaricariya XVI 14
- sāmiddhi-* (< *samṛddhi-* [Hc I 44 *sāmiddhi samiddhi*]), “wealth”, 917
- siddha-* (verbal adj. of *sāh*) “spoken”, 629, 725, 1264, 1452
- suḍhiya-* (cf. Deś VIII 36 *suḍhio sante*) “tired, exhausted”, 1619 — Surasundaricariya X 218
- sūriya-* (cf. Hc IV 106 *bhañjer ete nava ādeśā vā bhavanti – ... sūrai ...*) “broken”, 596 (read with LEUMANN *dukkheṇa sūriya-maṇo*) — Kumārapālacarita VI 69
- somāṇa-* (< \**sovāṇa-* < *sopāṇa-*) “staircase, stairs”, 465, 1514
- soṇḍaya-* (< *śauṇḍaka-*) “bent on, mad after”, 1484
- solla-* (< *śūlya-* [cf. Deś VIII 44 *maṃsammi solla-somālā*, Pāialacchi 113 *sullaṃ maṃsaṃ*]) “roasted meat”, 1454 (read with LEUMANN *solleṇa suraṃ nighoṭṭanto*)

*hayāsa-* (cf. Hc I 209 *hatāśaḥ hayāso*, II 195, IV 383) “cruel, hunter”, 337, 368 — PC 61,74

### Footnotes

- 1 This is a most striking example of the genesis of *e*-verbs. Occurring in the same line as *kahei* (< *kathayati*), *sunai* and *pucchai* are attracted by it and transferred to the *e*-conjugation.
- 2 Note that *sā* is employed as accusative, at it is in Apabhraṃśa. In Jaina-Māhārāṣṭri such forms are only seldom encountered (e.g. *jā*, PC 12,16).
- 3 This information is provided by Hemacandra in his commentary on Deś I 2.
- 4 I had the privilege of being allowed to consult the unpublished papers of Ernst Leumann, kept in the Institute of Indology of the University of Hamburg. Sincere thanks to Professor Albrecht Wezler and Professor Harunaga Isaacson.
- 5 I suppose that this copy was made from the manuscript housed in the Deḷāno Bhaṇḍār, Ahmedabad. I sincerely hope that *à la longue* I shall gain access to the original manuscript.
- 6 According to the *Jaina Granthāvali* (p. 267), there is a manuscript in the Bhāvnagar Bhaṇḍār.
- 7 *nu* seems to have been attracted to indeclinables in *-o* like *aho*.
- 8 BHAYANI (in his “Index of important words”, p. 309) gives “valley” as the word’s meaning.
- 9 LEUMANN pointed to *kolambi* “Śiva’s lute” (which, however, is attested only in Galanos’ dictionary) and detected in it a “very daring metaphor”, viz. for “pride”.
- 10 Note the rhyme...*kolambī...velambī...ālambī Kosambī ...*
- 11 The asterisk of CDIAL 3892 (2) is therefore to be cancelled.
- 12 Such crossing of roots is encountered e.g. in *āliddha-*, which is not < *āśliṣṭa-*, as given by the *Comprehensive & Critical Dictionary of the Prakrit Languages*, but < *ādigdha-* x *ālipta-*.
- 13 Note the metathesis (cf. *aṇ'uvāhana-* < *anupānah-* [331], *pulaiya-* < \**polaiya-* < *paloiya-* < *pralokita-* [55, 170], *rahassa-* < *hrasva-* [566]).
- 14 Cf. Sūyagaḍaṅga II 2,16: *karatala-palhattha-muhe*.
- 15 Cf. 1261 (*rāhu-gahio vva cando muha-cando nippabho jāo*).

- 16 Cf. *muhapauma-*, 876, 1208, *muhakama-*, 648, 831.
- 17 We have here, in one and the same word, a combination of dissimilation ( $n\_l < l\_l$ ), vocalic assimilation ( $ni^o < nal^o$ ), metathesis ( $niḍāl^o < niḷāḍ^o$ ) and 'lowering' of *i* to *e* before the retroflex ḍ (for the latter cf. Pāli *Vāseṭṭhi* < *Vāsiṣṭhi*, *seṭṭhi-* "dregs" < \**siṣṭi-* [see Oberlies, *Pāli. A Grammar of the Language of the Theravāda Tipiṭaka*. Berlin 2001, 60]).
- 18 This surely belongs to *solla-* "roasted meat" (on which see below).
- 19 *pragūṇa-* is almost certainly a Sanskritisation of the Prakrit word *pauyṇa-*, whatever the origin of the latter might be.
- 20 BALBIR, *JAOS* 105 (1985) 127 n. 42, however, opines that the word means "roof", citing Gujarati *paṛāl* (cf. CDIAL 7694/95). But this meaning certainly does not fit the references in the Taraṅgalolā.
- 21 In an unpublished note LEUMANN suggested that the word is also to be found in the name of the town *Kūvavadda* (< *Kūva*[*va*]ddaka) "well-village", PC 33,148.
- 22 Note that  $\sqrt{ribh}$  is basically a Vedic word which dropped out of use in later times.
- 23 *aṇāvārāha-*, missing from the *Comprehensive & Critical Dictionary of the Prakrit Languages*, is Skt. *anaparādha-* (for *anāva^o* --- < *anapa^o* --- see OBERLIES, *Pāli. A Grammar of the Language of the Theravāda Tipiṭaka*. Berlin 2001, 35). Accordingly, it belongs to *aṇavarajjhantā* which is to be found in the immediately preceding stanza.
- 24 The word has *-ḍ-* (and not *-h-*) because it has to rhyme with *piṇḍiō*.

Institute of Indology  
University of Göttingen  
Waldweg 26,  
37073 Göttingen  
Germany

# Truthfulness and Truth in Jaina Philosophy

Peter Flügel\*

Truthfulness and truth are not clearly distinguished in Jaina scriptures. A maxim of speaking the truth is stated in the so-called “*satya-mahāvratā*”, which Jain ascetics recite twice a day during their obligatory *pratikramaṇa* ritual. In accordance with the preferred Jain method of negative determination, the general principle of truthful speech is treated in terms of its characteristic violations, *aticāra*, that is, as the opposite of speaking non-truth, *a-satya*.<sup>1</sup> Normative principles such as this are constitutive for Jain discourse to the extent that they are used by speech communities, both to generate and to interpret speech. The precise implications of the maxim of truthfulness for language usage are specified in form of a distinction of four types or ‘species’ of speech, *bhāsā-jāya* <*bhāsā-jāta*>, which are at the centre of the Jain theory of discourse, supplemented by context-sensitive rules for proper ways of speaking, and examples. These analytical categories should be known and utilised by mendicants (ideally by all Jains) to prevent both the preparation and performance of violence, *ārambha*.

The rules and clauses for language usage expressed by the *bhāsā-jāta* tetrad consider speech primarily from a normative point of view, rather than from the perspective of the intention of the speaker. In this respect, the analysis of the uses of language in the Jaina scriptures shares many characteristics with the approach of universal pragmatics in contemporary

\* This article is a slightly amended extract of a chapter of my essay ‘Power and Insight in Jaina Discourse’, published in *Logic and Belief in Indian Philosophy*, ed. Piotr BALCEROWICZ, 85-217. Warsaw: Oriental Institute (Warsaw Indological Studies, Vol. 3) / Delhi: Motilal Banarsidas, 2010. It is republished here, with permission of the editor, as an offering in memory of Muni Jambūvijayaji.

philosophy:<sup>2</sup>

‘A mendicant should know that there are four kinds of speech: The first is truth; the second is untruth; the third is truth mixed with untruth; what is neither truth, nor untruth, nor truth mixed with untruth, that is the fourth kind of speech: neither truth nor untruth’ (Āyāra 2.4.1.4).<sup>3</sup>

Notably, the same scheme of four modes is applied to speech and to cognition (*maṇa* <*manas*>) or knowledge (*ñāna* <*jñāna*>) (Viy 622b/8.7.1b, 874b/15.1.4). Hence, the four *bhāsā-guttis* <*bhāṣā-guptis*>, or controls of speech, and the four *maṇa-guttis* <*mano-guptis*>, or controls of the inner sense, are both characterised by the same terms in Utt 24.19–23. The four modes, thus, represent general attitudes towards truth, both in mind and in speech:

- |  |                           |
|--|---------------------------|
| 1. <i>saccā</i> < <i>satyā</i> >             | truth                     |
| 2. <i>mosā</i> < <i>mṛṣā</i> >               | untruth                   |
| 3. <i>saccā-mosā</i> < <i>satyā-mṛṣā</i> >   | truth mixed with untruth  |
| 4. <i>asaccā-mosā</i> < <i>asatyā-mṛṣā</i> > | neither truth nor untruth |

The formal structure of the four alternatives (tetra-lemma) is known as *catus-koṭi* in Buddhist literature, but used differently here.<sup>4</sup> As the frequent use of the four alternatives (*catur-bhaṅga* or *catur-bhaṅgī*) as a classificatory scheme in Thāṇa IV, for instance, indicates,<sup>5</sup> the *catus-koṭi* is used in Jain scholasticism in a similar way as the *nikṣepa* pattern, described by BRUHN-HÄRTEL (1978: v) as a formal ‘dialectical technique (often employed in a “pseudo-exegetical function”)’.<sup>6</sup>

JACOBI (1884: 150 n. 2) understood the first three modes to refer to assertions and the fourth to injunctions.

According to Paṇṇ 860 (255b), the first two modes are distinct (*pajjattiyā* <*paryāptā*>) ways of speaking, which can be analysed in terms of the true / false distinction,<sup>7</sup> and the third and fourth are indistinct (*apajjattiyā* <*aparyāptā*>) ways of speaking, whose validity or non-validity is indeterminable. The sub-categories of distinct speech are true speech (*satyā bhāṣā*) and wrong or false speech (*mṛṣā bhāṣā*), and the sub-categories of indistinct speech are true-as-well-as-false speech (*satyā-mṛṣā bhāṣā*) and neither-true-nor-false speech (*asatyā-mṛṣā bhāṣā*). A *muni* should use only the first and the last mode of speech, and avoid the remaining two ‘by all means’ (DVS<sub>2</sub> 7.1) in order to minimise harm:

‘A monk or a nun, considering well, should use true and accurate speech, or speech which is neither truth nor untruth (i.e. injunctions); for such speech is not sinful, blameable, rough, stinging, &c.’ (Āyāra 2.4.1.7).<sup>8</sup>

(a) Speaking truthfully can either be interpreted ethically, as straightforward and accurate talk (on-record), or ontologically, as an assertion of the way things are.<sup>9</sup> Both perspectives can be found in the Jain and non-Jain commentary literature alike,<sup>10</sup> often mixed together, as the identical characterisation of the four *guptis* of mind and speech illustrates. *Satyā bhāṣā* refers both to the psychological and the normative conditions of truthfulness, that is, sincere, grammatically accurate and contextually acceptable speech, and to propositional truth.<sup>11</sup> It is explicitly recognised in the Jain scriptures (though not in these terms) that, as a speech act, propositional language has also an expressive and normative content. The normative, the expressive, and the propositional components of spoken language are altogether necessary to communicate something. Paṇṇ 862 states that ‘the truth or validity of the speech depends on various situations and conditions’ (MĀLVANIYĀ 1971: 325). Ten different dimensions or ‘validity conditions’ of truthful

speech are distinguished<sup>12</sup> (the compound “*saccā* <*satyā*> can be translated as ‘sincere’ or ‘true’ ‘according to the conventions of \_\_\_\_\_’):<sup>13</sup>

- |   |                |
|---|----------------|
| 1. <i>janāvaya-saccā</i> < <i>janapada-satyā</i> >  | Country        |
| 2. <i>sammata-saccā</i> < <i>sammata-satyā</i> >    | Consensus      |
| 3. <i>thavaṇā-saccā</i> < <i>sthāpanā-satyā</i> >   | Representation |
| 4. <i>ṇāma-saccā</i> < <i>nāma-satyā</i> >          | Name           |
| 5. <i>rūva-saccā</i> < <i>rūpa-satyā</i> >          | Form           |
| 6. <i>paḍucca-saccā</i> < <i>pratitya-satyā</i> >   | Confirmation   |
| 7. <i>vavahāra-saccā</i> < <i>vyavahāra-satyā</i> > | Custom         |
| 8. <i>bhāva-saccā</i> < <i>bhāva-satyā</i> >        | Inner Meaning  |
| 9. <i>joga-saccā</i> < <i>yoga-satyā</i> >          | Practice       |
| 10. <i>ovamma-saccā</i> < <i>aupamya-satyā</i> >    | Analogy        |

The same list is given and explained in *Mūlācāra* 5.111–116, with exception of *yoga-satyā*, which is replaced by category No. 8 *sambhāvanā-satyā*, translated by OKUDA (1975: 128) as ‘truth of possibilities’ (*Möglichkeitswahrheit*; see *infra* p. 161).<sup>14</sup> There is no apparent systematic connection between the categories in this list. Yet, the list is clearly informed by the four ‘doors of disquisition’ (*aṇuogaddāra* <*anuyoga-dvāra*>) of canonical hermeneutics (AṇD 75), especially by the method of contextual interpretation (*aṇugama* <*anugama*>) through progressive specification via fixed standpoints (*naya*) (AṇD 601–606).<sup>15</sup> The occurrence of the terms *nāma*, *sthāpanā* and *bhāva* indicates the deliberate incorporation of a variant of the ‘canonical’ *nikkheva* <*nikṣepa*>, as BHATT (1978: xv, 20) suggested, although the *davva* <*dravya*> standpoint is missing.<sup>16</sup> A *nikṣepa* is a scholastic scheme which delineates fixed perspectives for the analysis of the principal dimensions of the possible contextual meanings of a word (contemporary linguistics is still struggling to establish comparable categories). The original purpose of the list of ten, as a whole, may have been similar. That is, assessing the meaning of an utterance from several commonly relevant perspectives.<sup>17</sup>



Most categories are self-explanatory. Truthful utterances based on the linguistic conventions of a country are explained by the commentaries through the example that 'in Konkan *piccam* is said for *payas* and that by the *gopāla* the lotus is called *aravinda* only' (SCHUBRING 2000: 157 n. 4, § 74). Because terms such as these are synonyms, they are all equally true.<sup>18</sup> Similarly, what is accepted by many people, i.e. linguistic expressions, is conventionally true (*sammata-satyā*).<sup>19</sup> Pragmatic theories of truth would fall under this perspective. A figurative representation, such as a statue which is not god itself, may itself not be accurate, but that what it symbolises can be recognized as true (*sthāpanā-satyā*).<sup>20</sup> The same applies to a name such as Devadatta or 'given by god' (*nāma-satyā*) (MĀc 113).<sup>21</sup> Allusions to external appearance in form of prototypes such as 'white cranes' (not all cranes are white) are examples of *rūpa-satyā*.<sup>22</sup> According to the commentators Haribhadra (PaṇṇV) and Malayagiri (PaṇṇṬ), the term *pratitya-satyā* designates an utterance which is true only under certain conditions, and thus predicated on empirical confirmation.<sup>23</sup> Examples are relative size ('this is long') or the relative state of transformation of objects at a given time (cf. MĀc 114).<sup>24</sup> Like other conventional expressions which, under certain conditions, could equally be classified as 'truth-mixed-with-untruth', common or idiomatic utterances such as 'the *kūra* (i.e. the cooked rice) is cooking' (MĀc 114) are acceptable as customarily true (*vyavahāra-satyā*).<sup>25</sup> The Śvetāmbara commentators explain the inner truth (*bhāva-satyā*) expressed by certain utterances with the example of a 'white crane' (*śuklā balākā*),<sup>26</sup> which MĀc 113 uses to illustrate *rūpa-satyā*, whereas Vaṭṭakera interprets the term as designating the 'higher truth', i.e. saying something untrue in order to avoid injury to someone (MĀc 116). This perspective is also applied to other contexts in the Śvetāmbara texts Āyāra 2.4.1.6 and DVS 7.11. An example of truth based on association with practice (*yoga-satyā*) is to describe someone according to his / her activity,

for instance the designation *chattrī* (a *kṣatriya* who should protect his realm performs *chattrā-yoga*), or *daṇḍī* (who performs *daṇḍa-yoga* or punishment).<sup>27</sup> Instead of *yoga-satyā*, the *Mūlācāra* 115 has *sambhāvanā-satyā*, which means that assuming the possibility of something is a valid condition of truthful language: ‘If he wanted, he could do it. If Indra wanted, he could overturn the Jambudvīpa’ (OKUDA 1975: 128). As an example of speaking the truth, using comparison or analogy (*aupamya-satyā*),<sup>28</sup> MĀc 116 mentions the word *palidovama* < *palyôpama* >, literally ‘like a sack of corn’, which designates a high number.<sup>29</sup> *Aṇuogaddārāim* (AGD) 368–382 demonstrates the practical ‘usefulness’ of this simile through the *naya* method of progressive disambiguation.<sup>30</sup>

(b) Untruthful language or speaking untruthfully (*mṛṣā bhāṣā*) is the proscribed opposite of truth or truthfulness.<sup>31</sup> In contrast to the ten conditions of truth, featuring the semantics of propositional utterances, the ten conditions out of which untruth ‘arises’ (compound: “*nissiya* <*niḥṣṛita*>), listed in Paṇṇ 863, are primarily psycho-physical conditions.<sup>32</sup> According to SCHUBRING (2000: 157, § 69), ‘speech springing from emotion is by itself understood as *mosā*.’<sup>33</sup> Eight of the ten categories overlap with the standard Jain list of the eighteen sources of sin (*pāva-thāṇa* <*pāpa-sthāna*>),<sup>34</sup> starting with the four passions (*kaṣāya* <*kaṣāya*>), and attachment and aversion, which in the Paṇṇ are the sole cause of karmic bondage, disregarding *yoga*, or activity (MĀLVANIYĀ 1971: 384). Most types of untrue speech, conditioned by these factors, can be categorised as expressive utterances. The last two categories, *ākhyāyika-niḥṣṛita*<sup>35</sup> and *upaghāta-niḥṣṛita*,<sup>36</sup> do not refer merely to an underlying negative psycho-physical state in general, but to the unspecified psycho-physical conditions of two specific types of self-referentially defined commonly untrue speech acts—hearsay and false accusation—with predominately constative and regulative attributes.

1. <i>koha-nissiya</i> < <i>krodha-niḥṣṛita</i> >	Anger
2. <i>māṇa-nissiya</i> < <i>māna-niḥṣṛita</i> >	Pride
3. <i>māyā-nissiya</i> < <i>māyā-niḥṣṛita</i> >	Deceit
4. <i>lobha-nissiya</i> < <i>lobha-niḥṣṛita</i> >	Greed
5. <i>pejja-nissiya</i> < <i>premana-niḥṣṛita</i> >	Attachment
6. <i>dosa-nissiya</i> < <i>dveṣa-niḥṣṛita</i> >	Aversion
7. <i>hāsa-nissiya</i> < <i>hāsyā-niḥṣṛita</i> >	Ridicule
8. <i>bhaya-nissiya</i> < <i>bhaya-niḥṣṛita</i> >	Fear
9. <i>akkhāiya-nissiya</i> < <i>ākhyāyika-niḥṣṛita</i> >	Hearsay
10. <i>uvaghāya-nissiya</i> < <i>upaghāta-niḥṣṛita</i> >	False Accusation

CAILLAT (1991: 11) observed that the Paṇṇ presents the *kaṣāyas* as the cause of untruth, not of injury, as in Āyāra 2.4.1.1 and DVS 7.11. This change of perspective, from *ahiṃsā* to “*satya* as the main criterion, may reflect the shift of emphasis in classical Jain *karman* theory from act to intention. The ten categories seem to have in common that they refer to acts which, intentionally or unintentionally, produce unwholesome perlocutionary effects in the addressee (and the speaker as well). They are either factually false, ethically wrong or both.<sup>37</sup>

(g) The category ‘partially true speech’<sup>38</sup> or ‘truth-mixed-with-untruth’ (*saccā-mosā bhāsā* <*satyā-mṛṣā bhāsā*>) should not be mixed up with the conditionally true standpoints of *syād-vāda*, which apply only to valid statements, not to false knowledge (*apramāṇa*). ‘Truth-mixed-with-untruth’ designates intentionally or unintentionally ambiguous or unclear speech, which is strictly prohibited.<sup>39</sup> The meaning of the term is explained by DVS 7.4–10:

4. But this and that topic which confines the Eternal within limits—this half-true speech the wise [monk] should avoid.

5. By a speech which is untrue, though its appearance is that of a true one, a man is touched by sin, how much more a man who speaks plain untruth!’ (DVS,

7.4).<sup>40</sup>

*Satyā-mṛṣā bhāṣā* is sinful language, based on the whole on non-universalisable ethical principles. For instance, the language of heretical forest-monks, who do not abstain from killing, whose thought, speech and behaviour is not well controlled:

‘They employ speech that is true and untrue at the same time: “do not beat me, beat others; do not abuse me, abuse others; do not capture me, capture others; do not torment me, torment others; do not deprive me of life, deprive others of life”’ (Suy 2.2.21).

The ten types of truth-mixed-with-untruth listed in Paṇṇ 865<sup>41</sup> do not explicitly address expressive or regulative aspects of speech acts, but only propositional content; despite the fact that performatives can also be both true and untrue. According to the commentaries, all types deal with indiscriminate speech, and with semantic and logical fallacies, such as category mistakes regarding the quality or quantity of objects or temporal modalities which can be easily ‘mixed up’ (compound: “*missiyā* <*miśritā*>”), for instance in utterances designating part-whole relationships.

- |  |                |
|--|----------------|
| 1. <i>uppaṇṇa-missiyā</i> < <i>utpanna-miśritā</i> >               | Born           |
| 2. <i>vigaya-missiyā</i> < <i>vigata-miśritā</i> >                 | Destroyed      |
| 3. <i>uppaṇṇa-vigaya-missiyā</i> < <i>utpanna-vigata-miśritā</i> > | Born-Destroyed |
| 4. <i>jīva-missiyā</i> < <i>jīva-miśritā</i> >                     | Life           |
| 5. <i>ajīva-missiyā</i> < <i>ajīva-miśritā</i> >                   | Matter         |
| 6. <i>jīvājīva-missiyā</i> < <i>jīvājīva-miśritā</i> >             | Life-Matter    |
| 7. <i>aṇanta-missiyā</i> < <i>aṇanta-miśritā</i> >                 | Infinite       |
| 8. <i>paritta-missiyā</i> < <i>parīta-miśritā</i> >                | Separate       |
| 9. <i>addhā-missiyā</i> < <i>adhva-miśritā</i> >                   | Time           |
| 10. <i>addhāddhā-missiyā</i> < <i>ardhādhva-miśritā</i> >          | Halftime       |

The list of ten modalities evidently reflects general issues of

particular concern for Jain doctrine. It can be thematically subdivided in two triplets and two pairs. The first triplet—*utpanna*, *vigata*, *utpanna-vigata*—addresses unclear distinctions concerning life and death. The commentators explain the meaning of *utpanna-miśritā* as speaking in non-specific ways about the born, mixed with references to the yet unborn; for instance birth occurring in this or that village or town, that ten or more or less boys were born ('ten boys were born in this village today') etc.<sup>42</sup> In the same way, *vigata-miśritā* refers to cases of 'stating mortality in an indefinite way, e.g. saying that ten people have died in this village, etc.' (RATNACANDRA 1988 IV: 400).<sup>43</sup> *Utpanna-vigata-miśritā* refers to both true and false, or contradictory assertions (*viśamvāda*) regarding manifestations of both birth and death.<sup>44</sup> The second triplet—*jīva*, *ajīva*, *jīvājīva*—similarly addresses the problem of pointing in a general way to 'great numbers' of either living or dead beings, or quantities of mixed living and dead beings.<sup>45</sup> Life (*jīva*) in abstract and concrete form can be confused through vague language, such as the language of sets (*rāśi*), or other numerical expressions. The same applies to matter (*ajīva*), and both life and matter (*jīvājīva*). The consequence of imprecise language may be unintentional violence against individual living beings (in a 'heap of dead beings'). According to *Āvassaya-nijjutti* (ĀvNi 8.56–100), one of the principal heretics of the canonical period, Rohagutta, committed the mistake of mixing up categories by positing a third principle, *no-jīva* or the half-living, which mediates between *jīva* and *ajīva*. Hence, his heresy was called *terāsiyā*.<sup>46</sup> The pair *ananta* and *parita* addresses indiscriminate language regarding aspects of finite-infinite, part-whole, or singular term-existence relationships. The commentaries explain *ananta-miśritā* with reference to the case of certain plants, for instance root vegetables such as radish (*mūlaka*), which have only one body, yet are composed of an infinite number of souls (*ananta-jīva*).<sup>47</sup> The category *parita-miśritā* focuses, conversely, for

instance on the independence and separateness of each individual element within a composite form of vegetation.<sup>48</sup> The two ontological levels of the relationship between one and many can easily be mixed up in these cases; which has potential ethical (karmic) consequences. One of the principle concerns of the *Pannavaṇā*, highlighted in Malayagiri's commentary, is the difference between the categories infinite (*ananta*) and uncountable (*asaṃkhyāta*).<sup>49</sup> With regard to *adhva*, time, speech is both true and untrue if one says, for some reason, that 'it is night' during the daytime, or 'get up, it is day' when it is night.<sup>50</sup> The same applies to the part of a measure of time, or *ardhādhva*, such as a *prahara*, a quarter of the bright or dark period of the day.<sup>51</sup> The statements may be true in as much as time in general is concerned, but false with regard to time in particular (i.e. it may be bright, although technically it is still night).<sup>52</sup> Examples for a potential mix up of the modalities of time, which may have negative moral consequences in cases of promises for instance, are given in *Āyāra* 2.4.2, and in *DVS* 7.6–10 as paradigmatic cases for *satyā-mṛṣā* speech. The illocutionary form of these sentences is not essential, since they can be transformed into propositions of the form: 'x promises (commands etc.), that p':<sup>53</sup>

'6. Such speech therefore, as e.g. "we [shall] go", "we shall say", "we shall have to do that", or: "I shall do that", or "he shall do that", 7. uncertain in the future or with regard to a matter of the present [or] of the past, a wise [monk] should avoid. 8.9. If [a monk] does not know, [or] has some doubt about, a matter which concerns past, present and future, he should not say: "it is thus"; 10. (this he should do only) when there is no room for doubt' (*DVS*<sub>1</sub> 7.6–10).<sup>54</sup>

Somadeva, in his *Yaśastilaka* of 959 CE (YT, p. 349–350), mentions a similar example of a statement which is on the whole true but to some extent false, that is, when someone

‘after promising to give something at the end of a fortnight, gives it after a month or a year’ (HANDIQUI 1968: 265). He also mentions the statement ‘he cooks food or weaves clothes’ as one which is to some extent true but on the whole false because ‘properly speaking, one cooks rice etc. and weaves yarn’. A different example of mixed speech, mentioned in *Viy* 18.7.1 (749a), are utterances of someone who is possessed. The fact that this case, referring to an existentially mixed psycho-physical state rather than to semantic ambiguity, cannot be easily fitted into any of the ten categories illustrates that the list is not exhaustive. From other viewpoints, the examples may also fit the categories of the other lists.

All of the ten enumerated modalities seem to refer to utterances in which the universal and the particular, or modalities of time, quantifiers, or other categories,<sup>55</sup> are mixed up in an indiscriminate and hence ambiguous way.<sup>56</sup> Though the mistakes discussed in the texts seem to be primarily based on indiscriminate cognition, producing objectionable uncertainty (cf. *Āyāra* 2.4.1–2), the ten categories are very broad and can cover a great variety of motives, logical and semantic conundrums, such as vagueness or paradoxes, and linguistic forms and discursive strategies, such as off-record uses of metaphor, similes, veiled speech and politeness, which GRICE (1975) and BROWN-LEVINSON (1978) have analysed as popular forms for saying one thing and meaning another.<sup>57</sup> These phenomena deserve more detailed analysis in future studies. For the purpose of this essay, a few comparative notes on the implications of the findings for the question of the stance of Jain philosophy on the law of non-contradiction must suffice.

For PRIEST–ROUTLEY (1989: 3), ‘admission or insistence, that some statement is both true and false, in a context where not everything is accepted or some things are rejected, is a sure sign of a paraconsistent approach—in fact

a dialethic approach', i.e. the assumption that 'the world is inconsistent'. The Greek word *dialetheia* (two-way truth) refers to a true contradiction facing both truth and falsity.<sup>58</sup> PRIEST-ROUTLEY (1983: 17) were the first to point out parallels between Jaina logic and modern discussive logic, but argue, like most logicians before them, that Jain perspectivism is predicated on the rejection of the law of contradiction.<sup>59</sup> However, GANERI (2002: 274) demonstrated in his reconstruction of the assumptions underlying the method of seven-fold predication (*sapta-bhaṅgī*), based on an extension of discussive logic via modalised many-valued truth-tables, that Jain logic 'does not involve any radical departure from classical logic ... The underlying logic *within* each standpoint is classical, and it is further assumed that each standpoint or participant is internally consistent.' The findings of BALCEROWICZ (2003: 64) on the contextual logic of the seven *nayas* concur with this general conclusion. Both authors show that Jain logic is context-sensitive and a quasi-functional system.

To *syād-vāda* and *anekānta-vāda* the Jain *catuṣ-koṭī* of the modes of speech can be added, as another example of 'Jain logic' which clearly operates within the confines of the law of non-contradiction, and does not need to be interpreted as a form of scepticism, nor of syncretism predicated on the notion of a total truth integration of all viewpoints, as MATILAL (1981) argues. Our brief glance at the Jain interpretation of the third mode of the so-called 'four-valued logic' of the *catuṣ-koṭī*, applied to language usage, that is, the explicit exclusion of the values 'false' and 'both true and false', showed that 'Jain logic' does not 'flatly deny'<sup>60</sup> the law of non-contradiction. The examples in Jain scriptures for modes of speech which are both-true-and-false, and their explicit rejection, demonstrate, on the contrary, that Jain philosophy is unequivocally opposed to violations of the law of non-



contradiction. This conclusion is also borne out by the Jain analysis of the temporal aspects of action (Viy 1.1.1=13a, 9.33.2d = 484a), which explicitly denies the possibility that an action that is being performed is not equal to the completed action, as the heretic Jamāli held ('has the bed been made or is it being made'). The question of the identity of an action in time has important consequence for the evaluation of karmic consequences, also of speech-acts. Contrary to PRIEST-ROUTLEY's (1989) intuitions, it seems, the main technique of argumentation used by Jain philosophers in all these cases resembles Aristotle's refutation of Heraclitus and other 'paraconsistent' thinkers in ancient Greece:

'Key parts of his analysis involved the use of time to avoid contradiction—instead of saying that a changing thing was both in a given state and also not in that state, it was said that the thing was in that state at time t1, but not in that state at a different time t2—and the theory of potentiality—required to reunify these now temporarily isolated states as parts of the one (and same) change. The appeal to different temporal quantifiers illustrated the *method of (alleged) equivocation* used since ancient times to avoid contradiction and reinforce consistency hypothesis; namely, where both A and – A appear to hold, find a respect or factor or difference r such that it can be said that A holds in respect r1 and – A in respect r2. It can then be said that a contradiction resulted only by equivocation on respect or factor r. Often however the method of alleged equivocation does not work in a convincing way, and it breaks down in an irreparable way with the semantic paradoxes, as the Megarians were the first to realize' (PRIEST-ROUTLEY 1989: 8).

Speech that is both-true-and-untrue is rejected in the Jain scriptures, because it mixes aspects which can be

discriminated, if necessary with the help of the method of perspective variation in time. To what extent ancient Jain philosophers would have agreed with Aristotle on this point is a question which can only be clearly answered in a separate study. It seems to me that the Jain theory of time is fundamental, also for Jain perspectivism.

(d) The most interesting of the four modes of speech (and cognition) is 'speaking neither truth nor untruth' (*asaccā-mosā*). That is, speech to which the true / false distinction is not applicable. Twelve types of the *asatyā-mṛṣā bhāṣā* are distinguished in Paṇṇ 866 = Viy 10.3.3 (499b):<sup>61</sup>

1. <i>āmantaṇi</i> < <i>āmantraṇi</i> >	Address
2. <i>āṇavaṇi</i> < <i>ājñāpani</i> >	Order
3. <i>jāyaṇi</i> < <i>yācana</i> >	Request
4. <i>pucchaṇi</i> < <i>ṛcchani</i> >	Question
5. <i>paṇṇavaṇi</i> < <i>prajñāpani</i> >	Communication
6. <i>paccakkhāṇi</i> < <i>pratyākhyāṇi</i> >	Renunciation
7. <i>icchāṇulomā</i> < <i>icchānulomā</i> >	Consent
8. <i>aṇabhiggahiyā</i> < <i>anabhigṛhitā</i> >	Unintelligible
9. <i>abhiggahiyā</i> < <i>abhigṛhitā</i> >	Intelligible
10. <i>saṃsaya-karaṇi</i> < <i>saṃsaya-karaṇi</i> >	Doubt-Creating
11. <i>voyaḍā</i> < <i>vyākṛtā</i> >	Explicit
12. <i>avvoyaḍā</i> < <i>avyākṛtā</i> >	Implicit

Nine of the twelve categories are also listed in Māc 5.118–119. The categories 1–7 are identical in both texts. Of the last five, only *saṃsaya* (No. 10) is mentioned by Vaṭṭakera, and a category labelled *aṇakkhara* <*anaḥsara*>, 'incomprehensible', which can be read as an equivalent of *aṇabhiggahiyā* <*anabhigṛhitā*> (No. 8, maybe also incorporating aspects of No. 12).<sup>62</sup>

Speaking neither-truth-nor-untruth is interpreted by JACOBI (1884: 150 n. 2, 151)<sup>63</sup> and MĀLVANIYĀ (1971: 325 f.) as referring to injunctions. However, considering the

great variety of listed speech acts (only the first three are injunctions), it seems better to use AUSTIN's (1962) term 'performatives', which are by definition neither true nor false, to characterise the first seven terms.<sup>64</sup> The last five terms cover aspects which GRICE (1975) discussed under the conversational maxims of relation ('relevance') and manner ('avoid obscurity'). In Austin's terminology, addressing, ordering, requesting, and questioning etc. are all illocutionary acts. Questions,<sup>65</sup> commands, and exclamations are not propositions, since they can not be asserted or denied; that is, they are neither true nor false. Imperatives (directives), such as orders and requests, and regulatives (commissives), such as consenting and renouncing (promising, vowing etc.), through which the speaker commits him / herself to perform certain actions in future, imply normative conditions which ought to be fulfilled, but which are not fulfilled yet. In this sense, the propositional content is also neither true nor false. Truth, and its opposite, falsity, are properties that belong only to propositions. Propositions are statements that either assert or deny that something is the case. Not all sentences are true or false, because not all sentences make such claims. Commands, questions, and expressions of volition neither assert nor deny that something is the case, and are, consequently, neither true nor false.

ARISTOTLE (PH 4) already noted that 'every sentence is not a proposition; only such are propositions as have in them either truth or falsity. Thus a prayer is a sentence, but is neither true nor false.' Problems related to the ontological and truth-functional status of future events and the grammatical future were also discussed in Greek philosophy, which may or may not have influenced Indian philosophy in this point.<sup>66</sup>274 In *De Interpretatione* (PH), ARISTOTLE offers the following solution to a paradox posed by Diodoros Cronus as to the truth-value of the sentence 'Will there be a sea battle

tomorrow?’ Any definite answer (‘yes’ or ‘no’) to this indecidable question is presently neither true nor false, but if in future one becomes true, then the other becomes false:

‘One of the two propositions in such instances must be true and the other false, but we cannot say determinately that this or that is false, but must leave the alternative undecided. One may indeed be more likely to be true than the other, but it cannot be either *actually true* or *actually false*. It is therefore plain that it is not necessary that of an affirmation and a denial one should be true and the other false. For in the case of that which exists potentially, but not actually, the rule which applies to that which exists actually does not hold good’ (PH 9).

For Aristotle, as for the Jains, it is both unethical and factually wrong to assume the future is determined, since actions evidently influence events. Although it is not entirely clear what exactly Aristotle and the Jain author(s) had in mind, in both cases the commitment to free will and to the logic of events overrules the logic of propositions. Generally, empirical facts can neither be proven true nor false by logical necessity: ‘Even if I say “It’s raining now” when the sun is shining, I have not said something that is necessarily false, just something that happens to be false’ (HARNAD 1999: 1).<sup>67</sup> From a purely logical point of view, Bertrand RUSSELL (1905) showed that all predicates with variables are not propositions to which a truth value can be attached in an unambiguous way. Hence they are neither true nor false. However, they can be transformed into propositions by replacing the variable with a value or a quantifier.<sup>68</sup> It is, of course, difficult to say to what extent ancient Jain philosophers already shared certain intuitions with modern logicians.

The first seven categories, sometimes combined, cover most speech acts a Jain ascetic would conventionally use in

contexts of monastic life;<sup>69</sup> for instance taking vows (*paccakkhāṇa*), requesting permission (*āpucchaṇā*), ordering (*ājñā*), confessing (*ālocanā*), begging forgiveness (*kṣamāpaṇā*) etc. *Āmantaṇi* <*āmantraṇi*> speech or language, for instance, is 'used for attracting somebody's attention, a vocative word or expression' (GHATAGE 2003 III.2: 1001), for instance 'O Devadatta!'<sup>70</sup> MĀLVANIYĀ (1971: 325) gives the following examples of an address and an order: 'when a person wanting John to come near him says "O! John", or 'when a person says to another person, "Go ahead".' However, not in all contexts are such expressions neither-true-nor-false. Under certain circumstances, the first example may represent or can be read as an 'indirect' or 'implicit performative' speech act clad in form of an address, and it could be argued that, in certain contexts, the second example does not correspond to the prescription in Āyāra 2.4 for mendicants to avoid pragmatic interventions.

The last five terms of the list are of a different nature. The term *aṇabhiggahiyā*<*anabhigṛhitā*> refers to 'unintelligible or incomprehensible speech' (RATNACANDRA 1988 I: 156), which is either 'irrelevant' (DELEU (1970: 169) or / and 'unacceptable' (GHATAGE 1996 I: 237), but neither-true-nor-false. Its antonym, *abhiggahammi boddhavvā*, intelligible instruction, refers to 'clear and intelligible language' (RATNACANDRA 1988 IV: 351), which is 'relevant' and 'acceptable', and neither-true-nor-false.<sup>71</sup> Malayagiri's commentary<sup>72</sup> explains the difference between irrelevant and relevant speech through the following example: 'to the question "What shall I do now?" the answer "Do as you like" is *aṇabhiggahiyā*, the answer "Do this, do not that!" is *abhiggahiyā*' (DELEU 1970: 169).

It is not entirely clear why *saṃsaya-karaṇi bhāsā* <*saṃsaya-karaṇi bhāṣā*>, 'ambiguous language which causes doubt' (RATNACANDRA 1988 IV: 570), is regarded as

neither-true-nor-false, and therefore permissible. It must be assumed that only the use of strategically ambiguous messages for the purpose of creating *vairāgya*-shocks is seen as legitimate, but not language which creates doubt about Jainism in the minds of believers. He seems to follow Malayagiri (PaṇṇṬ), who argued that from the *niścaya-naya* not only *satya-mṛṣā* but also *asatyā-mṛṣā* statements are false—‘if they are spoken with the intention of deceiving others’ (MĀLVANIYĀ 1971: 346). However, Vīy 18.7.1 (749a) states that, by definition, the speech of a Kevalin, because it is harmless, can only be true or neither-true-nor false.<sup>73</sup> The statement associates higher moral truth with this type of speech, which can thus be compared with the ‘twilight-language’ (*sandhā-bhāṣā*) of Tantric Buddhism, which is also characterised as neither-true-nor-false.<sup>74</sup> Jambūvijaya’s edition of the Ṭhāṇa 4.23 (238) contains the following commentary of According to OKUDA (1975: 129), MĀc 119 explains *saṃsaya-vayaṇi* <*saṃśaya-vacana*> as ‘speech which expresses doubt’. But its commentator Vasunandin (11th–12th century) interprets this as ‘speech of children and old people’ as well as the sounds of (five-sensed) ‘roaring buffalos’ etc., which cause doubt as to their meaning, while the Digambara authors Aparājita and Āśādhara and the Śvetāmbara Haribhadra commenting on DVS 7, read *saṃsaya-karaṇi* simply as ‘ambiguous speech’ (*anekārtha-sādhāraṇā*). Haribhadra classifies speech of children as *aṇakkhara* <*anaksara*>, incomprehensible, which also figures as the ninth and last category listed in MĀc 119, which Vasunandin reserves for expressions of animals of two-four senses, and for sounds created by snipping fingers etc. (OKUDA 1975: 129).<sup>75</sup>

*Vyākṛtā bhāṣā* refers to clear distinct speech with explicit unambiguous meaning (RATNACANDRA 1988 IV: 511).<sup>76</sup> There is no example given by the commentaries for distinct speech which is neither-true-nor-untrue. *Avyākṛtā-bhāṣā*, refers to indistinct involuted or poetic speech consisting of obscure

or unintelligible words 'with deep and profound meaning' (RATNACANDRA 1988 IV: 445; cf. GHATAGE 2001 II: 800).<sup>77</sup> *Mantras* or *sūtras* may be fitting examples. The fact that the *Mūlācāra* does not mention these two categories reinforces the suspicion that they are redundant, and overlapping with the category of incomprehensible language.

The most interesting case is *pannavāṇi-bhāṣā* <*prajñāpani-bhāṣā*>, explanation, the generic term which Vardhamāna Mahāvira himself employs in the scriptures<sup>78</sup> to designate his discourse, which also gives the *Pannavaṇā-suttaṃ* its name. Like all descriptions of speech acts, *pannavāṇi* is a somewhat ambiguous term, because it refers both to the illocutionary act, locutionary content, and perlocutionary effect of proclaiming something. This ambiguity is reflected in different translations of the word. SCHUBRING (2000 § 69: 158) and DELEU (1970: 169) translate *pannavāṇi* as 'communication' (*Mitteilung*). According to SCHUBRING (2000 § 69: 157 f.), the examples for 'communication' given in Viy 10.3.3 (499b) = Paṇṇ 866, 'We want to [*wollen*] lie down' (*āsaissāmo*) etc., refer to 'expressions of an intention' (to do something). However, DELEU (1970: 169) and LALWANI (1985: 133) translate *āsaissāmo* <*āsayiṣyāmaḥ*> as 'we will lie down' and 'we shall lie down' respectively, that is, as the description of a future action or state.<sup>79</sup> MĀLVANIYĀ (1971: 211), who points to kindred views in the Pāli text *Puggala-paññatti*, prefers the word 'describing' as a translation of *pannavāṇi* which he renders as 'speech that intends to describe a thing'. In this, he follows the 13th century commentary of Ācārya Malayagiri who stated that *pannavāṇi* 'means the speech that intends to describe the thing (or event) [as it is]'.<sup>80</sup> It is a form of *asaccāmosā* speech, 'a speech which has nothing to do with norm (validity or invalidity) but which only describes the thing (or event)': 'To be more explicit, the speech which has nothing to do with religious dos and do-nots but which simply describes

the thing is called *Prajñāpani*.<sup>81</sup> MĀLVANĪYĀ (1971: 212) cites the example quoted by the commentator Malayagiri's *Prajñāpanā-tikā*, 'Those who refrain from killing living beings live long and enjoy good health (in the next birth)',<sup>82</sup> and notes: 'The *gāthā* in point contains no command "do not kill" but simply describes the fact that those who do not kill live long and remain healthy.' Such speech 'has nothing to do with religious dos and do-nots' (MĀLVANĪYĀ 1971: 211). Hence, it should be distinguished from implicit performative speech. But, of course, it may be interpreted as such by a listener who infers an 'ought' from the 'is'. MONIER-WILLIAMS' (1986: 659) *Sanskrit - English Dictionary* translates the causative *prajñāpana* as 'statement, assertion'. LALWANI (1985 IV: 133) apparently follows the *Illustrated Ardhmāgadhī Dictionary* of RATNACANDRA (1988 III: 443), based on Malayagiri, in using the word 'advice' (*upadeśa*).<sup>83</sup> What is probably meant by the term *pannavāṇi* is that from the conventional point of view, which underlies the Jain '*caṭuṣ-koṭī*' of language usage, the testimony of an authoritative person is neither true nor untrue, because its meaning may be incomprehensible for a hearer, similarly to unintelligible utterances of non-enlightened creatures. With imperatives and addresses expressing universal truths or ideals has in common that no referent exists *in re* at a given place and point of time (as for instance in Malayagiri's example which should not be read as a prediction relating to a specific individual). The multidimensional implications of a general statement or rule such as this cannot be understood entirely in an instant, as WITTGENSTEIN (1953: 53-55, § 138 40) noted in his remarks on the relation between meaning and use of a word (ib., pp. 190 ff., § 138 f.). Moreover, the example given by the commentaries concerning the necessary link between non-violence and health cannot be proved or disproved from a conventional perspective. It must be accepted on the basis of the authority of the speaker. Interestingly enough, the two



truth theory is not invoked by the commentaries in defence of the concept of transcendental speech, being neither-true-nor-false, in spite of its capability to immunise any statement against criticism.<sup>84</sup>

Paṇṇ 832–857 gives another example for speech which is neither-true-nor-false by discussing the question of the ‘congruity of grammatical and natural gender and number’ (SCHUBRING 2000 § 74: 158). It argues that words such as *go*, *cow*, which express (genderless) universals but are employed in masculine singular, are not false or both-true-and-false, say, with regard to female cows, but neither-true-nor-false. The same applies to imperatives (*ājñāpani*), since ‘we may order a person of any gender and this person may or may not carry out our orders’ (MĀLVANIYĀ 1971: 326).<sup>85</sup>

The last of the four variants of *ohāraṇi-bhāsā* <*avadhāraṇi-bhāsā*>, or determinate speech, is another example of speech which is neither-true-nor-false. Reflexive expressions such as ‘I believe’ or ‘I think’ are said to be capable of expressing any of the four modes of speech, depending on whether they serve religion (*ārāhiya* <*ārādhita*>), in which case they are true by definition, harm religion (*virāhiya* <*virādhita*>), in which case they are false, both serve and harm religion, in which case they are true-as-well-as-false, or whether they do neither, in which case they are neither-true-nor-false (Paṇṇ 830–831 [246b]).<sup>86</sup>

The examples show that in the Jain philosophy of speech pragmatic efficacy, that is, non-violence, supersedes propositional truth.<sup>87</sup>

‘It goes with the sphere of *ethics* that all four modes of speech, and consequently the mode of wrong speech as well, are admitted, provided they are employed in a pious way of mind (*āuttam*=*samyak*), while even true speech coming from a sinner’s mouth

will count for nothing (Pannav. 268a)' (SCHUBRING 2000 § 74: 158).

Conversely, as mentioned before, 'a mode of speech springing from emotion is by itself understood as *mosā*' (SCHUBRING (2000 § 74: 157). In other words, the speaker's state of mind, his / her beliefs, attitudes or intentions (if not his / her *Being*), and the specific pragmatic context is decisive, not the words themselves, or their propositional meaning. Arguments relating to the 'higher truth' of morality based on similar considerations. HANDIQUI (1968: 266) notes that the 10th century Digambara *ācārya* Somadeva is more concerned with ethics than with propositional truth:

'Somadeva appears in certain circumstances to attach greater importance to self-preservation and philanthropic considerations than to speaking the truth. He opines that the truth must not be spoken if it is likely to endanger others and bring inevitable ruin to oneself.'

Another example of this attitude is given by the Śvetāmbara Ācārya Hemacandra who, in his 12th century *Yogaśāstra* (YŚ 2.61) and self-commentary, narrates that the sage Kauśika, who was famous for speaking the truth, 'went to hell because accurate information given by him led to the capture and killing of a band of robbers' (cited by HANDIQUI 1968: 266 n. 4):

'On the other hand (*api*), even though a statement may be true, it should not be spoken if it causes affliction to others [This is] because, even if it is accepted [by all the people] in the world, Kauśika was sent to hell [on account of making such a statement]' (YŚ 2.61).<sup>88</sup>

The explanations of the four modes of speech in canonical Jain literature and its medieval Sanskrit commentaries

show that they are conceived as meta-rules, on a level of abstraction comparable to the discourse ethics of universal pragmatics, while the sub-categories and examples correspond to the level of empirical semantics and pragmatics. The levels of abstraction of the lists of examples in the commentaries vary, since the Jain lists are relatively unsystematic, although some may have been intended as scholastic devices for cumulative indexication *qua* fixed analytical perspectives. From the point of view of comparative analytical philosophy, some examples could serve as illustrations for one or other of the conversational postulates *à la* Grice ('be relevant' etc.), Searle, or Habermas, while others can be related to the modern logical investigations of vagueness, category mistakes, quantifiers, or modalities of time in particular. In contrast to modern intentionalist semantics, Jain philosophers of language analyse examples of their four fundamental types of speech rarely with reference to the intention of the speaker, but prefer an objective or listener's standpoint. That is, they investigate the structure of the utterance as a whole, from the de-contextualised point of view of the four combinations of the basic true / false distinction, seen from the perspective of discourse ethics. The same perspective is preferred by universal pragmatics.

We can conclude from this brief discussion of the explanations of the four modes of speech in the Śvetāmbara canon and the commentaries that the rules of Jain discourse are less concerned with referential truth than with the pragmatics of speech;<sup>89</sup> in particular with the expression of the 'higher truth' of religious insight gained through direct self experience, and speaking in accordance with the ethics of non-violence. Yet, it would be a mistake to assume that truth in Jain discourse is always defined as an aspect of objective illocutionary force, depending on the form of the utterance and the intentional state of a speaker alone, without the need to be backed up by argument in processes of critical inquiry. The primacy of

pragmatic ethical and moral considerations, though considered from a monological perspective, makes the Jain theory of speech in many ways akin to universal pragmatics. It is apparent that, albeit unsystematically presented, for almost all universal pragmatic principles and conversational postulates there are functional equivalences amongst the Jain principles and rules of speech, which are by no means 'primitive' and 'ill-assorted', as for instance the philologist SCHUBRING (2000 § 74: 157) believed. Jain principles and rules of discourse are not mere examples of a culture-specific 'particularistic ethics', as LAIDLAW (1995: 14) argues, but form a 'comparatively systematic code which is well-grounded in objective considerations' (CAILLAT 1991: 14).

The analysis of the implications of the Jain maxim of truth and the general rules for proper language usage shows that the 'universal validity claims': propositional truth, normative rightness, and truthfulness are important considerations of Jain discourse ethics. Despite the primacy of non-violence and sincerity of expression, there are numerous examples for rules concerning referential truth, the ideal of univocal or straight (*rju*) speech, and the avoidance of deception, especially Āyāra 2.4.1.1, Āyāra 2.4.2.19, and DVS 8.46.<sup>90</sup> Such rules of avoidance of false representations (including false reference to past, present and future) and non-deceptive speech etc., can be understood as expressions of a pragmatic anti-illusionist (anti-Brahmanic) realism, that is, as anti-deception strategies.

Although, the Jaina texts deliberately avoid defining certain words as 'sacred', for Jainism, too, 'correct speech is of religious value' (CAILLAT 1984: 71) in so far as the foremost requirement for the realisation of Jain norms is restraint (negative politeness) in mind, speech and action. The norms of unequivocal and grammatically correct signification and transmission of information are fundamental for the Jain understanding of proper language use. The religious ideal of

correct, truthful and non-violent manner of speech is summarised in the following passage, already quoted above:

‘A monk or nun, putting aside wrath, pride, deceit, and greed, considering well, speaking with precision, what one has heard, not too quick, with discrimination, should employ language in moderation and restraint’ (Āyār 2.4.2.19).<sup>91</sup>

What is manifest in this statement is that the Jain maxims themselves address the necessity of avoiding the violence and the consequential *karmic* results of ‘flouting’ the rules of proper speech by means of off-record strategies. At the same time, negative politeness (especially conventional indirectness) is regarded as mandatory for maintaining the vows of non-violence and truth in language usage. Recommended speech-strategies are usually forms of negative politeness, such as conventional indirectness, impersonalisation or nominalisation.<sup>92</sup> Impersonalisation by way of transforming directives and commissives into assertives, that is, a second-person performative perspective into a third-person observer’s perspective, is the preferred method; evidently, because in this way ‘illocutionary force switches over into the propositional content and thereby loses, if not its meaning, at least its force’ (HABERMAS 1993: 27).<sup>93</sup> For instance, one should not say ‘this should be done’, but ‘this is’. And one should not speak about forbidden subjects, such as business-choices etc., at all. One should not ask householders to do something, or ‘forecast’, or make promises to them (DVS<sub>2</sub> 7.46 f.; 51). Thus, although the Jain analysis of language usage is essentially pragmatist, its rules of proper speech are predicated on the denial of pragmatic intent in favour of propositional statements whose pragmatic implications are, if at all, to be worked out by the listener, in a Gricean fashion:

‘Guessing the teachers thought and the purport of his words, one should express one’s assent, and execute

(what he desires to be done). An excellent pupil needs no express directions, or he is (at least) quickly directed; he always carries out his duties as he is told' (Utt 1.43 f.)

The running comparison between the theory of communicative action and Jain discourse ethics revealed significant similarities. Both approaches are rule-oriented, not goal oriented. That is, they are concerned with the general interest of many, not with the eudaemonic perspective of a single actor, despite the fact that the methods of universalisation are different. The respective ideals of consensus and non-violence leading to liberation mutually implicate each other. Basic non-violence is presupposed by communicative action, and the general interest of all is presupposed by universal non-violence. Though the criterion of generalisability, equal interest, is not theorized in Jain philosophy, and only touched upon with reference to specific negative rights such as the privileged case of the universal interest in avoiding pain,<sup>94</sup> the scope of the moral universe is extended from humanity to all living beings, whose essential spiritual equality is a fundamental principle of Jaina philosophy. The vanishing points of both theories, the ideal consensus of an infinite community of interpretation and the ideal omniscient observer, presuppose absolute knowledge and absolute consensus.

Yet, there are also significant differences. The main difference between the transcendental pragmatics of mutual recognition and the monadological Jain ethics of non-violence concerns the nature of the fundamental principles. The former is predicated on positive norms and the latter on norms of prohibition. The implicit method of universalisation of Jain ethics is the double negation, that is, the negation of non-generalisable statements. The resulting priority of physical non-action as a theoretical limiting case (not as a practical maxim) unburdens the doctrine of discussions of specific dilemmas of

norm application, thus safeguarding both generalisability and contextual determinateness, while maintaining a perspective of disengagement with the world and non-specific positive duties. The second main difference between the two types of discourse ethics concerns the moral division of labour presupposed by Jain norms of discourse, which privileges institutionally verified competent speakers or *āpta*. In contrast to universal pragmatics, Jain discourse ethics is not concerned with questions of human justice, but with the negative freedom of the individual.

### Footnotes

<sup>1</sup> The earliest formulations of this maxim in the Āgamas use the expression *musā-vāya veramaṇaṃ* (S. *mṛṣā-vāda viramaṇa*), cessation of telling lies. Like SCHUBRING (2000 § 171: 301), BRUHN (2003: 8) notes: ‘The concept of “truth” is not uniform. But there are several references to the *kaṣāya.s* as the root of undesirable speech”.

<sup>2</sup> This approach, which informs the following analysis, goes back to Peirce, Royce and Mead, and was further developed by APEL (1973) and HABERMAS (1980). The principal analytical question is not: What does it mean to understand an intention? But: What does it mean to understand a speech act? Universal pragmatics focuses not only on speech acts but on the normative presuppositions of ‘linguistically mediated interaction’ and on the social function of speech for the co-ordination of action. Building upon the work of analytical philosophers such as WITTGENSTEIN (1953), AUSTIN (1962), GRICE (1975), SEARLE (1969) and sociolinguists such as GUMPERZ (1964) and HYMES (1972), HABERMAS (1980) distinguishes three universal validity claims presupposed by every communicative action: ‘truth’, ‘rightness’ and ‘truthfulness’.

<sup>3</sup> Āyāra 2.4.1.4: *aha bhikkhū jāṇejjā cattāri bhāsā-jāyāiṃ, taṃ jahā—saccam egaṃ paḍhamam bhāsa-jāyam, biyaṃ mosam, taiyaṃ saccā-mosam, jaṃ ṇ’eva saccam ṇ’eva mosam ṇ’eva saccā-mosam—asaccā-n.osam ṇāma taṃ cauttam bhāsā-jāyam*. CAILLAT (1991: 8 n.4) located the following parallels to the above *sūtra* in the Śvetāmbara canon: Utt 24.20–23, Thāṇa 4.23 (238), Viy 13.7.1a (621a-b), Pannavaṇā 11 (860–866). See also Viy 16.2.2b (701a), 18.7.1 (749a), 19.8 (770b), Samavāya 13.1, and DVS 7.1–3. OHIRA (1994: 14, 155) is of the opinion that the

four modes were first taught at the time of DVS 7, which she dates between 5th–4th century BcE.

<sup>4</sup> In contrast to the debate on the use of the *catus-koṭi* in ‘Buddhist logic’, focusing largely on the ‘negative dialectic’ of Nāgārjuna, the cited Jain cases indicate that the *catus-koṭi* was used (at least by Jains) from early on as a scholastic frame for the discussion of logical alternatives, without specific doctrinal implications being connected with the frame itself. MURTI (1955: 129) noted early on: ‘Four alternative views are possible on any subject’. Notably, the four alternatives in Āyāra 2.4.1.4 etc., are disjunctive, not additive, as stereotypical representations of ‘Jaina Logic’ generally assume. Because Jain usage of *catus-koṭis* was ignored, and because of the almost exclusive focus on Nāgārjuna, Buddhist scholars compared the ‘four-cornered negation’ only with the ‘Jain relativism’ in general. They derived the *catus-koṭi* either speculatively from Jain *syād-vāda* (GUNARATNE 1980: 232) or vice versa (BAHM 1957: 128), or (and) contrasted it with ‘the relativistic logic proposed by the Jains, to which Buddhism was opposed’ (JAYATILLEKE 1967: 82). According to RAJU (1954), the mythical Sanjaya framed the four alternatives already in the 7th century BCE, negating all of them, whereas ‘Jaina logicians saw a relative truth in each pole and thus adopted a more positive and determinate attitude toward our cognitions of the world.’ For recent, less logocentric, views on Nāgārjuna, focusing on ‘skillful means’, see for instance JONES (1978), SCHROEDER (2000). A similar four-valued theory of truth was defended by the Megarians (PRIEST–ROUTLEY 1989: 13), which demonstrates that no specific philosophical position is associated with the form itself, only with its uses.

<sup>5</sup> See DUNDAS (2007: 50 f.) on the analogy between four types of armies and four types of ascetics in Ṭhāṇa 292 (4.280–1). ALSDORF (1966: 186 f., cf. 190 f.) discussed a different type of *catur-bhaṅgas* in Jaina literature, made up of combinations of two positive and two negative possibilities. He pointed out that the use of the ‘fourfold combination’ is ‘very typical of the scholastic who never misses an opportunity to make a “caturbhaṅga”, i.e. the four possible combinations of two positive and two negative possibilities...’ (p. 186).

<sup>6</sup> Ṭhāṇa 3.239 offers also a trilemma: (1) to state the truth (*tavvayaṇa* <*tadvacana*>), (2) to state the untruth (*tadaṇṇavayaṇa* <*tadanyavacana*>), (3) to state something meaningless or negative (*no-avayaṇa* <*no-avacana*>); Ṭhāṇa 7.129 a heptalemma: (1) speech (*ālāva* <*ālāpa*>), (2)



taciturnity (*aṇālāva* <*an-ālāpa*>), (3) flattery (*ullāva* <*ullāpa*>), (4) insult (*aṇ-ullāva* <*an-ullāpa*>), (5) dialogue (*saṃlāva* <*saṃlāpa*>), (6) prattle (*palāva* <*pralāpa*>), (7) contradiction (*vi-ppalāva* <*vi-pralāpa*>).

<sup>7</sup> The differentiation between ‘the True (*sacca*) and the Wrong (*mosa*)’ was characterised as ‘primitive’ by SCHUBRING (2000 § 74: 157).

<sup>8</sup> I do not give the original wording in all cases. In different words, the same teaching is expressed in DVS<sub>1</sub> 7.1–3, which may be the oldest text concerning this subject:

*cauṇhaṃ khalu bhāsāṇaṃ parisamkhāya pannaṃvaṃ /  
doṇhaṃ tu viṇayaṃ sikkhe, do na bhāsejja savvaso // 1 //*

*jā ya saccā avattavvā saccāmosā ya jā musā /  
jā ya buddhehi ’nāinnā, na taṃ bhāsejja pannaṃvaṃ // 2 //*

*a-sacca-mosaṃ saccaṃ ca aṇavajjam akakkasaṃ /  
samuppeham asaṃdiddhaṃ giraṃ bhāsejja pannaṃvaṃ // 3 //*

‘[1] Of the four kinds of speech, the thoughtful [monk] should, after consideration, learn the training in two, [but] should not use the other two ones at any occasion.

[2] That [form of speech] which is true, [but] not to be uttered, that which is halftrue, that which is [quite] untrue and which is not practised by the Jinās, the thoughtful monk should not use.

[3] [But] he should, after deliberation, use a speech not exposed to doubt, [a speech] which is neither true nor untrue and [a speech] which is true, provided that it is not to be blamed [and] rough’ (SCHUBRING 1932: 101).

See Āyāra 2.4.8–11 and cf. DVS 7.11, 7.2 for examples.

<sup>9</sup> Cf. HABERMAS’ (1980: 419 ff.) / (1984–1987 I: 312 ff.) defence of his clear-cut distinction between claims to truth and claims to truthfulness.

<sup>10</sup> Mookerjee, in TULSi (1985: 107): ‘Truthfulness is the revelation of truth. (Gloss) Truth means the straight-forwardness [*rjutā*] in deed (physical movement), intention and word, and non-discrepant behaviour. The revelation (disclosure) of that truth is called truthfulness.’ ‘(Note) Here “truth”, as an ethical principle, is defined and explained. Umāsvāti

[*Tattvārtha-bhāṣya* 7.9], however has included revelation of ontological reality also as an aspect of truthfulness.’

<sup>11</sup> Ṭhāṇa 308 (4.349) gives the *nikṣepa* of *satya*: name, object, knowledge, knowledge and action according to truth. Ṭhāṇa 254 (4.102) distinguishes four types (aspects) of truth defined in terms of unequivocality or sincerity (*ujjuyayā <ṛjutā>*) of (1) gesture, (2) speech, (3) mind, (4) seamless combination of the three, with the intention not to deceive.

<sup>12</sup> See also Ṭhāṇa 10.89.

<sup>13</sup> JACOBI (1895: 160) translated *bhāva-satyā* as ‘sincerity of the mind’, and *yoga-satyā* as ‘sincerity of acting’.

<sup>14</sup> Māc 5.111: *jaṇa-vada sammada thavaṇā ṇāme rūve paḍucca-sacce ya sambhāvaṇa vavahāre bhāve opamma-sacce ya.*

<sup>15</sup> According to AṇD 605, contextual interpretation (*aṇugama*) of the meaning of a *sutta* should progress in the following sequence: ‘Know that the characteristic features (of exposition) are sixfold, viz. (1) the (correct) utterance of the text (*samhitā*), (2) disjunction and parting (of words), (3) paraphrasing, (4) expounding of compound words, (5) anticipation of objections, and (8) establishment (of the correct meaning).’

<sup>16</sup> Cf. Ṭhāṇa 4.349.

<sup>17</sup> BHATT (1978: 14) emphasises that the *nikṣepa* in Paṇṇ 863 ‘has no execution in the canonical context.’ The material is therefore likely to belong to ‘post-canonical works from which it was taken before the canon acquired its present shape.’ He lists similar passages in the canon and the commentary literature (BHATT 1978: 157).

<sup>18</sup> PaṇṇU 81: *jana-pada-satyam nāma nānā-deśi-bhāṣā-rūpam apy avipratipattyā yad ekārtha-pratyāyana-vyavahāra-samartham iti, yathôdakārthe koṅkaṇādiṣu payaḥ piccam niram udakam ity-ādi, aduṣṭa-vivakṣā-hetuvān nānā-jana-padeṣv iṣṭārtha-pratipatti-janakatvād vyavahāra-pravṛtteḥ satyam etad iti, evaṃ śeṣeṣv api bhāvanā kāryā. PaṇṇṬ, 257a.1: ity-ādi “jaṇa-vaya-saccā” iti taṃ taṃ jana-padam adhikṛtyêṣṭārtha-pratipatti-janakatayā vyavahāra-hetutvāt satyā jana-pada-satyā yathā koṅkaṇādiṣu payaḥ piccam ity-ādi.*

<sup>19</sup> PaṇṇU 81: *sammata-satyam nāma kumuda-kuvalayôtpala-tāmarasānām samāne paṃkaja-sambhava gopālādīnām sammatam*

*araviṃdam eva paṃkajam iti.*

<sup>20</sup> PaṇṇU 81: *sthāpanā-satyam nāma akṣara-mudrā-vinyāsādīṣu yathā māśako 'yam kārṣāpaṇo 'yam śatam idam sahasram idam iti.*

<sup>21</sup> PaṇṇU 81: *nāma-satyam nāma kulama-varddhayann api kula-varddhana ity ucyate dhanam avarddhamāno 'pi dhana-varddhana ity ucyate, apakṣas tu pakṣa iti.*

<sup>22</sup> PaṇṇU 81: *rūpa-satyam nāma tad-guṇasya tathā rūpa-dhāraṇam rūpa-satyam, yathā prapañcayateḥ pravrajita-rūpa-dhāraṇam iti. PaṇṇT<sub>1</sub>, 257a: yathā dambhato gṛhita-pravrajitarūpaṇ pravrajito 'yam iti.*

<sup>23</sup> OKUDA (1975: 127) translates *pratitya-satyā* as 'relative truth'.

<sup>24</sup> PaṇṇU 81: *pratitya-satyam nāma yathā anāmikāyā dirghatvam hrasvatvam cēti, tathā hi tasyānamta-pariṇāmasya dravyasya tat tat-sahakāri-kāraṇa-sannidhānena tat tad-rūpam abhivyajyata iti satyatā. PaṇṇT<sub>2</sub>, 257a uses the expression *pratitya-āśritya*, recourse to confirmation. PaṇṇV 11.17 gives the synonym *apekṣā*, consideration or regard.*

<sup>25</sup> PaṇṇU 81: *vyavahāra-satyam nāma dahyate giriḥ galati bhājanam anudarā kanyā alomā eḍiketī, giri-gata-tṛṇādi-dāhe loka vyavahāraḥ pravarttate, tathōdake ca galati sati, tathā saṃbhoga-jīva-prabhavōdarābhāve ca sati, lavana-yogya-lomābhāve cēti.*

<sup>26</sup> PaṇṇU 81: *bhāva-satyam nāma śuklā balākā, saty api pañca-varṇa-saṃbhāve.*

<sup>27</sup> PaṇṇU 81: *yoga-satyam nāma chattra-yogāc chattri daṇḍa-yogād daṇḍīty evam ādi.*

<sup>28</sup> Cf. UPADHYAYA (1987: 105–7) on Hemacandra's examples of *upacāra*, secondary meaning of a word based on similarity.

<sup>29</sup> PaṇṇU 81: *upamayā satyam nāma samudravat taḍāgam.*

<sup>30</sup> The problem of the vagueness of the concept of 'heaps' is also addressed in the so-called sorites paradoxes attributed to Eubulides.

<sup>31</sup> Tḥāṇa 254 (4.102) distinguishes four types (aspects) of untruth defined in terms of equivocality or insincerity (*aṇujjuyatā <anṛjukatā>*) of (1) gesture, (2) speech, (3) mind, (4) contradictory combination of the three, with the intent to deceive.

<sup>32</sup> According to Jain philosophy, cognitive and motivational factors

are linked. See also HYMES (1972: 283) notion of communicative competence: 'The specification of ability for use as part of competence allows for the role of non-cognitive factors, such as motivation, as partly determining competence. In speaking of competence, it is especially important not to separate cognitive from affective and volitive factors, so far as the impact of the theory on educational practice is concerned; but also with regard to speech design and explanation.'

<sup>33</sup> Arguably, conditions such as anger and pride can also evoke (painfully) true statements.

<sup>34</sup> *Viy* 1.9.1 (95a).

<sup>35</sup> Following Haribhadra (*PaṇṇU* 82: *ākhyāyikā asaṃbhāvyābhidhānam*) and Malayagiri (*PaṇṇṬ* 1, 258b.9: *ākhyāyikā-niḥsṛtā yat-kathāsv-asaṃbhāvyābhidhānam*), *akkhāya* <*ākhyāyika*> is usually understood as a narrative (*kathā*) of something non-existing or impossible, based on mere 'legend' or hearsay. See RATNACANDRA (1988 I: 59), and GHATAGE (1996 I: 64). This betrays the spirit of realism of Jain philosophy. Though, *kathā* may also refer to 'talk', 'discussion' or 'disputation'. Potentially negative consequences of knowledge based on mere hearsay are explained in *Viy* 9.31(430a–438a). *Ṭhāṇa* 7.80 lists seven types of gossip (*vi-kahā* <*vi-kathā*>).

<sup>36</sup> *Uvaghāya* / *uvagghāya* <*upaghāta*> is explained by Malayagiri (*PaṇṇṬ* 258b.10) through the example *cauras tvam* ('you are a thief'), understood here as *abhyākhyāna*—false and groundless accusation. The term *upaghāta* generally designates an act of violence, but here more specifically an insult. See also Āyāra 2.4.8 for this and similar examples of 'sinful speech'.

<sup>37</sup> *Ṭhāṇa* 6.100 lists six types of unwholesome speech. *Ṭhāṇa* 6.101 lists six types of false accusations, related to the context of enumeration (*pathārā* <*prastāra*>) in confession.

<sup>38</sup> See for instance NYAYAVIJAYA (1998: 343–5).

<sup>39</sup> On combinations of truth and untruth in behaviour (*vyavahāra*), intent (*pariṇata*), belief (*dṛṣṭi*) etc., for instance in succession, theorised in terms of character types, see *Ṭhāṇa* 241 (4.35–44). See CAILLAT (1965/1975: 80) on types of duplicity to be avoided.

<sup>40</sup> DSV 7.4–5:

eyam ca aṭṭhamannaṃ vā jaṃ tu nāmei sāsayaṃ /  
 sa bhāsaṃ sacca-mosaṃ pi taṃ pi dhiro vivajjae // 4 //  
 vitahaṃ pi tahāmotiṃ jaṃ giraṃ bhāsaē naro /  
 tamhā so puṭṭho pāveṇaṃ, kiṃ puṇa jo musaṃ vae // 5 //

<sup>41</sup> See also Ṭhāṇa 10.91.

<sup>42</sup> PaṇṇU 82: *saccā-mosā dasa-vihā uppaṇṇa-misaga-vigata-misagādi, uddissa gāmaṃ vā nagaraṃ vā dasaṇhaṃ dāra-gāṇaṃ jaṃmaṃ pagāsaṃtassa ūnesu ahiesu vā evam ādi uppanna-missiyā. PaṇṇṬ, 258a: “uppaṇṇa-missiyā” ity-ādi, utpannā miśritā anutpannaiḥ saha saṃkhyā-pūraṇārthaṃ yatra sā utpanna-miśritā, evam anyatrāpi yathā yogaṃ bhāvaniyaṃ, tatrōtpanna-miśritā yathā kasmimścit grāme nagare vā ūneṣu adhikeṣu vā dārakeṣu jāteṣu daśa dārakā asmīn adya jātā ity-ādi.*

<sup>43</sup> PaṇṇU 82: *em eva maraṇa-kahaṇe vigaya-missiyā. PaṇṇṬ, 258b: evam eva maraṇa-kathane vigata-miśritā.*

<sup>44</sup> PaṇṇU 82: *jammaṇassa maraṇassa ya kaya-pariṇāmassa ubhaya-kahaṇe viṣaṃvādaṇe uppaṇṇa-vigata-missitā. PaṇṇṬ, 258b: tathā janmato maraṇasya ca kṛta-pariṇāmasyābhidhāne viṣaṃvādena cōtpanna-vigata-miśritā.*

<sup>45</sup> PaṇṇU 82: *jivaṃta-mayaga-saṃkhaṇagādi-rāsi-darisaṇe aho mahaṃ jiva-rāsi tti bhaṇaṃtassa jivaṃtesu saccā maesu mosa tti jiva-missitā, ettha ceva bahusu matesu aho mahaṃto’jiva-rāsi tti bhaṇaṃtassa maesu saccā jivaṃtesu musā iti ajiva-missiyā, saccaṃ mayam amayaṃ vā ubhayaṃ ṇiyameṇa avadhārayaṃtassa viṣaṃvāde jivājiva-missiyā. PaṇṇṬ, 258b: [4] tathā prabhūtānāṃ jivatāṃ stokānāṃ ca mṛtānāṃ śaṅkha-śaṅkhanakādīnāṃ ekatra rāsau dṛṣṭe yadā kaścīd evaṃ vadati—aho mahān jiva-rāsīr ayam iti tadā sā jiva-miśritā, satyā-mṛṣātvam cāsyā jivatsu satyatvāt mṛteṣu mṛṣātvāt, [5] tathā yadā prabhūteṣu mṛteṣu stokeṣu jivatsu ekatra rāsi-kṛteṣu śaṅkhādiṣv evaṃ vadati—aho mahānayaṃ mṛto jiva-rāsīr iti tadā sā ajiva-miśritā, asyā api satyā-mṛṣātvam mṛteṣu satyatvāt jivatsu mṛṣātvāt, [6] tathā tasmīn eva rāsau etāvanto ’tra jivanta etāvanto ’tra mṛtā iti niyamenāvadhārayato viṣaṃvāde jivājiva-miśritā.*

<sup>46</sup> See LEUMANN’s (1885) article on the seven early schisms (*niṇhava*).

<sup>47</sup> PaṇṇU 82: *mūlakādi aṇaṃta-kāyaṃ tasseva paḍirikkaya-paṇḍum-pattehiṃ aṇṇeṇa vā vaṇassaikāeṇa missaṃ daṭṭhūṇa esa aṇaṃta-kāyōtti bhaṇaṃtassa aṇaṃta-missiyā. PaṇṇṬ, 259a: tathā mūlakādīkam ananta-*

*kāyaṃ tasyāiva satkaiḥ paripāṇḍu-patirair anyena vā kenacit-pratyekavanaspatinā mīśram avalokya sarvo 'py eṣo 'nanta-kāyika iti vadato 'nanta-mīśritā. Cf. GHATAGE (1996 I: 227). On the ananta-kāyas see WILLIAMS (1983: 113–6).*

<sup>48</sup> PaṇṇU 82: *tam eva samudayaṃ karamette sarittāṇaṃ amilāṇaṃ rāsi-kayaṃ parittam iti bhaṇaṃtassa paritta-missiyā. PaṇṇṬ, 259a: tathā pratyeka-vanaspati-saṅghātam ananta-kāyikena saha rāsi-kṛtam avalokya pratyeka-vanaspatir ayaṃ sarvo 'piti vadataḥ pratyeka-mīśritā.*

<sup>49</sup> See MĀLVANIYĀ (1971: 271, 430). Thāṇa 10.66 lists ten meanings of the word *ananta*.

<sup>50</sup> This characterisation cannot be related to the difference between experienced or conventional time (*samaya*) and imperceptible abstract time (*addhā*) explained in Viy 11.11.1 (532b) (DELEU 1970: 178), because in this case the speech act would be neither-true-nor-false. As the authoritative work of Jain scholastic hermeneutics, the *Aṇugaddārāim* shows, Jains are careful to distinguish semantic ambiguity from philosophical perspectivism (*anekānta-vāda*, *syād-vāda*, *nikṣepa*, *naya* etc.), which is seen as an analytic instrument for disambiguation: 'Whereas in the fallacy of *chhal* (fraud), one word has two meanings, no word in this argument [of *syād-vāda*] is of such nature. ... To declare the existence of an object from one point of view and to declare its non-existence from another point of view, is not to indulge in a *pun*, and thus to be guilty of this fallacy' (KANNOOMAL 1917: 16). Cf. C. R. JAIN (1929: 8, 16–18), GANERI (2001: 133). It should be noted that similes and analogies are considered to be media of disambiguation and not conveyors of mixed truth and untruth. Obviously, they can play both roles. On *chala*, features of 'god', 'bad debates' etc., especially in the *Nyāya-sūtra*, see MATILAL (1999, Chapters 2–3).

<sup>51</sup> RATNACANDRA (1988 I: 270 f., 268), GHATAGE (2001 II: 454, 461).

<sup>52</sup> PaṇṇU 82: *addhā kālo so divaso ratti vā, jo tam-missiyaṃ kareti, paraṃ turiyāveṃto divasato bhaṇati-uttthehi ratti jāyatti, eṣā addhā-missiyā, tasseva divasassa rātie vā ega-padeso addhāddhā, taṃ paḍhama-porisi-kāle taheva turiyaṃto majjhaṇhi-bhūtaṃ bhaṇatassa addhāddha-missiyā. PaṇṇṬ, 259a: [9] tathā addhā—kālaḥ, sa cēha prastāvāt divaso rātrir vā parigṛhyate, sa miśrito yayā sādhdhā-mīśritā, yathā kaścit kañcana tvarayan divase varttamāna eva vadati—uttiṣṭha rātrir yātēti, rātrau vā varttamānāyāṃ uttiṣṭhōdgataḥ sūrya iti, [10] tathā divasasya rātrir vā*

*ekadeśo 'ddhāddhā sā miśritā yayā sā addhāddhā-miśritā, yathā prathamapauruṣyām eva varttamānāyām kaścit kañcana tvarayan evaṃ vadati—cala madhyāhni-bhūtaṃ iti.*

<sup>53</sup> HABERMAS (1981: 97–117) / (1984–1987 II: 62–76), and others, showed that semantic content of normative sentences can be transformed into propositional sentences while the reverse is not always possible.

<sup>54</sup> DVS 7.6–10:

*tamhā gacchāmo, vakkhāmo, amugaṃ vā ñe bhavissai /  
ahaṃ vā ñaṃ karissāmi, eso vā ñaṃ karissai // 6 //  
evamāi u jā bhāsā esa-kālammi sañkiyā /  
saṃpayāiyam aṭṭhe vā taṃ pi dhiro vivajjāe // 7 //  
aiyammi ya kālammi paccuppannam aṅāgae /  
jamaṭṭhaṃ tu na jāṇejjā “evameyaṃ” ti no vae // 8 //  
aiyammi ya kālammi paccuppannam aṅāgae /  
jattha sañkā bhava taṃ tu “evameyaṃ” ti no vae // 9 //  
aiyammi ya kālammi paccuppannam aṅāgae /  
nissañkiyaṃ bhava jaṃ tu “evameyaṃ” ti niddise // 10 //*

<sup>55</sup> See the mixed true-false utterance ‘The god of the sky’ (Āyāra 2.4.1.12–13) and similar examples of mislabelling discussed in footnote 90.

<sup>56</sup> In symbolic logic such problems are discussed under the labels such as ‘no-item thesis’, ‘misleading form thesis’, ‘truth value gap thesis’, and ‘new truth-value thesis’ (HAACK 1974: 47 ff.). According to PRIEST (1987 / 2006) the single rationale underlying the theory of different types of truth value gaps, derived from the correspondence theory of truth, is that ‘for certain sentences, a there is no Fact which makes a true, neither is there a Fact which makes ¬a true’, which are to be distinguished from *dialetheia*, or true contradictions such that both statement A and its negation, ¬A, are true. In his view, the argument fails, because ‘if there is no Fact which makes a true, there is a Fact which makes ¬a true, viz. the Fact that there is no Fact which makes a true’ (ib., p. 54).

<sup>57</sup> See for instance BALBIR (1987: 9) and DUNDAS (1996: 62).

<sup>58</sup> PRIEST–ROUTLEY (1983: 14) cite Stoic and other authors from Greek antiquity defending this view.

<sup>59</sup> ‘In this respect the Jains anticipate contemporary discussive logic, initiated by Jaśkowski, and they may similarly be interpreted in

terms of integration of different worlds, or positions, reflecting partial truth ... Naturally such a theory risks trivialisation unless some (cogent) restrictions are imposed on the parties admitted as having obtained partial truth—restrictions of a type that might well be applied to block amalgamation leading to violations of Non-Contradiction.

Unlike the Jains, the Mādhyamikas apparently affirmed the law of Contradiction. But this does not prevent a certain unity of opposites, e.g. in the negative dialectic of Nāgārjuna, a concept, such as Being, can become indistinguishable from its opposite, Non-Being' (PRIEST-ROUTLEY 1983: 17).

<sup>60</sup> STCHERBATSKY (1958: 415), cited in PRIEST-ROUTLEY (1989: 16).

<sup>61</sup> LALWANI's (1985 IV: 133 f.) rendition of Vyī 10.3.34 reads as follows: '[Gautama speaks] *Bhante!* There are twelve forms of language—address, order, prayer, question, advice, refusal, consent, enquiry, conviction, confusion, distinct and indistinct. Now, when one says, I shall take lodge, I shall lie, I shall stand, I shall sit, I shall stretch, do these forms conform to the fifth type viz. advice, and it is correct to say that they are never false?—[Mahāvira answers] Yes Gautama! They conform to the fifth type and they are never false.'

<sup>62</sup> On articulated (*akkhara-suya*) evidence, composed of written and oral sources see SCHUBRING (2000: § 74).

<sup>63</sup> Āyāra 2.4.1.4 n., 2.4.1.7.

<sup>64</sup> AUSTIN (1962) distinguishes between implicit and explicit, self-verifying, performatives. An 'explicit performative sentence', such as taking a vow, 'indicates that the issuing of the utterance is the performing of an action—it is not normally thought of as just saying something' (ib., pp. 6 f.)—this would be a 'descriptive fallacy' (ib., p. 3). 'None of the utterances cited is either true or false' (ib.). 'It is essential to realize that "true" and "false", like "free" and "unfree", do not stand for anything simple at all; but only for a general dimension of being a right or proper thing to say as opposed to a wrong thing, in these circumstances, to this audience, for these purposes and with these intentions. ... This doctrine is quite different from much that the pragmatists have said, to the effect that the true is what works, &c. The truth or falsity of a statement depends not merely on the meanings of words but on what act you were performing in what circumstances' (ib., p. 144). The problem of



determining truth-values of performative utterances has been discussed, for example, by FAUCONNIER (1981: 182).

<sup>65</sup> Ṭhāṇa 6.111 lists six types of question-contexts, not all of which can be categorised as neither-true-nor-false; e.g. *vuggaha-paṭṭha* <*vyudgraha-praśna*>, questioning an opponent.

<sup>66</sup> On ambiguities created by the use of the future tense see also FAUCONNIER (1981: 180 f.), and others.

<sup>67</sup> HAACK (1974: 58 f., 73–90) criticises the ‘modal fallacy’ in Aristotle’s argument on future contingents, but accepts it as valid if interpreted as a truth value gap theory.

<sup>68</sup> See further STRAWSON (1950) and the ensuing debate, on which see also HORN (1985), (2001: 362 ff.), and others.

<sup>69</sup> Muni Nathmal (Ācārya Mahāprajña) characterized *asatyā-mṛṣā* language as *vyavahāra-bhāṣā*, or conventional or common speech (Ṭhāṇa 4.23, Hindi commentary).

<sup>70</sup> PaṇṇU 82 f.: “*āmantaṇi*” *ity-ādi, he deva iti āmantaṇi, eṣā kilāpravarttaka-nivarttakatvāt satyādi bhāṣā-traya-lakṣaṇa-viyogataś cāsatyāmṛṣēti, evaṃ sva-buddhayā anyatrāpi bhāvanā kāryēti, kajje parassa pavattaṇaṃ jahā imaṃ karehitti āṇavaṇi, katthai vatthu-visesassa dehitti maggaṇaṃ jāyaṇi, aviṇṇāyassa saṃdiddhassa vā atthassa jāṇaṇatthaṃ tad-abhijutta-codaṇaṃ pucchaṇi, viṇiyassa uvaeso jahā—pāṇavahāu ṇiyattā havati dihāyū arogā ya emādi paṇṇavaṇi paṇṇattā viyarāgehiṃ. PaṇṇṬ, 258b: “āmantaṇi” iti tatra āmantraṇi he devadatta ity-ādi, eṣā hi prāg-ukta-satyādi-bhāṣā-traya-lakṣaṇa-vikalatvān na satyā nāpi mṛṣā nāpi satyā-mṛṣā kevalaṃ vyavahāra-mātra-pravṛtti-hetur ity asatyā-mṛṣā.*

<sup>71</sup> PaṇṇṬ, 259a: *abhigṛhitā prati-niyatārthādvadhāraṇaṃ, yathā idam idāniṃ karttavayam idam nēti.*

<sup>72</sup> PaṇṇṬ, 259a: *anabhigrahā yatra na prati-niyatārthādvadhāraṇaṃ, yathā bahukāryeṣv avasthiteṣu kaścit kañcana pṛcchati—kim idāniṃ karomi?, sa prāha—yat pratibhāsate tat kurv iti.*

<sup>73</sup> DELEU (1970: 241).

<sup>74</sup> Jambūvijaya’s edition of the Ṭhāṇa 4.23 (238) contains the following commentary of Jinabhadra’s *Vīṣeṣāvaśyaka-bhāṣā* (VāBh) 376–7: *aṇahigaya jā tisu vi saddo cciya kevalo asacca-musa.*

<sup>75</sup> PaṇṇṬ, 259a: *saṃśaya-karaṇi yā vā anekārthābhīdhāyitayā parasya saṃśayam utpādayati, yathā saindhavamānīyatām ity atra saindhava-śabdo lavaṇa-vastra-puruṣa-vājiṣu*. SCHUBRING (2000 § 74: 157 f.): 'All animals with two to four senses and beings with five senses express themselves in the neither true nor wrong way, but the latter will employ the first three modes just as well (Pannav. 260a) provided they have learnt to do so or carry along with them a higher ability.'

<sup>76</sup> PaṇṇṬ, 259a: *vyākṛtā yā prakatārthā*.

<sup>77</sup> PaṇṇṬ, 259a: *avyākṛtā atigambhira-śabdārthā avyaktākṣara-prayuktā vā avibhāvitārthātvāt*.

<sup>78</sup> The Pāli equivalents of *pannavaṇā* and *pannatta* are *paññāpana*, *paññatta* (MĀLVANIYĀ 1971: 212). The word *pannatti* <*prajñāpti*>, teaching, information, instruction, is frequently used in the canon, for instance at Viy 2.1.90, or Viy 16.6 (709b) where the verbs *pannaveti parūveti* <*prajñāpayati prarūpayati*> are used in to describe Mahāvira's preaching activity. Hence, his teachings are called *pannavaṇā* <*prajñāpana*>, exposition, or *parūvaṇa* <*prarūpana*>, explanation (AGD 51, MĀLVANIYĀ 1971: 210). The 'proclamations' (*Kundmachung*) or preachings of the unattached ones are also called *niggantha pāvayaṇa / pavayaṇa* <*nirgrantha pravacana*> in Viy 2.5.5 (134b), 20.8.5 (792b) and Thāṇa 176a. See SCHUBRING 2000 § 37: 73).

<sup>79</sup> DELEU (1970: 169) writes: 'āsaissāmo is āśayiṣyāmaḥ, not, as Abhay. says, āśrayiṣyāmaḥ.' According to the rules of speech in Āyāra 2.4.1.5 and DVS 7.8–10 one should avoid such a statement if one cannot be entirely sure.

<sup>80</sup> PaṇṇṬ 249b: *yathāvasthitārthābhīdhānād iyaṃ prajñāpani*, in MĀLVANIYĀ (1971: 211, cf. 346).

<sup>81</sup> Contrary to MĀLVANIYĀ's (1971: 211) view that *asatyā-mṛṣā* speech 'has nothing to do with norm' it is obvious that by referring to situations that ought to be both imperatives, commissives (vows), and declaratives imply normative conditions, even if used by an enlightened being. Only assertives attempt to represent situations as they are. Searle showed that from the hearer's perspective even literal speech implies a contextual horizon to be intelligible (HABERMAS 1980: 452) / (1984–1987 I: 337). According to Paṇṇ 246b, *asatyā-mṛṣā* speech signifies not only *ohāraṇi* <*avadhāraṇi*> or determinative expressions such as 'I believe' or 'I think', but all attempts to communicate transcendental truth through

descriptive (*prajñāpani*) speech, which is assumed to be context-free and thus by definition neither-true-nor-false (*satyā-mṛṣā*). The Paṇṇ accounts for the use of certain classificatory terms and words which express universals (e.g. masculine, feminine, neuter) without clearly specifying their contextual range of meaning. Imperatives such as ‘go ahead’ belong to this category too. For instance, we may ‘order a person of any gender and this person may or may not carry out orders. ... This *ājñāpani* (imperative) speech too could not be held as false. It should be regarded as a case of *prajñāpani* speech’ (MĀLVANIYĀ 1971: 326).

<sup>82</sup> Paṇṇṭ, 249b:

*pāṇivahāu niyattā havamti dihāuyā arogā ya /  
emāi paṇṇattā paṇṇavaṇi viyarāgehiṃ //*

<sup>83</sup> Utt 28.16 ff. lists amongst the ten sources of right insight (*samyag-darśana*) communications such as *upadeśa*, instruction, *ājñā*, command, *bija*, seed (suggestion), as well as *abhigama*, comprehension of the sacred scriptures, and *viśtāra*, complete course of study (including proofs, *pramāṇa*, and perspectives, *naya*): *nisagguvaesa-ruī, āṇā-ruī sutta-biya-ruī-meva / abhigama-vitthāra-ruī, kiriyā-saṃkheva-dhamma-ruī //* .

<sup>84</sup> Cf. MURTI (1955: 129) on transcendental language which expresses truth which is beyond language; and GANERI (2002: 271) on the non-assertible (inexpressible) in classical Jain seven-valued logic (*sapta-bhaṅgi*), which may be conceptually related to incomprehensible speech.

<sup>85</sup> This example could be interpreted as an early version of the ‘misleading form thesis’ addressed by RUSSELL (1905) and others. See HAACK (1974: 53–55). By contrast, the example ‘Devadatta, give me the cow’, mentioned by GLASENAPP (1915: 46), is neither-true-nor-untrue as a simple performative.

<sup>86</sup> Cf. SCHUBRING (2000 § 74: 158), MĀLVANIYĀ (1971: 325 f.).

<sup>87</sup> Cf. CAILLAT (1965/1975: 80), QVARNSTRÖM (2002: 41 n. 4).

<sup>88</sup> For discussion of the ethical implications of this dilemma, for instance in terms of appropriateness, see for instance GERT (1973), HARE (1981), WELLMER (1986: 26 ff.), and HABERMAS (1991: 170).

<sup>89</sup> GANERI (2002: 277) shows that the *sapta-bhaṅgi* is also ‘not strictly truth-functional’, but suggests a solution to this problem.

<sup>90</sup> Interestingly, some *ślokas* are similar to the last of GRICE's quality maxims: 'Do not say that for which you lack adequate evidence', which invokes questions of referential truth and of the relationship between representational and expressive functions of language. The definition of the concepts of truth and falsehood, or of aspects thereof, is a notoriously difficult problem for modern science and philosophy, whose discourse is constituted by this fundamental distinction according to FOUCAULT (1981) and LUHMANN (1990). It is therefore interesting to see how the Jains tackle this issue, which is one of their foremost concerns. There is a note by LALWANI added to DVS 24.12 which identifies three types of falsehood: '(i) to deny what is, (ii) to establish what is not, and (iii) to alter the meaning'. They can be illustrated by the following examples:

- (i) Jainism propagates epistemic realism. Hence, it is not surprising that there are explicit statements defending the ideal of objective truth in the scriptures, as opposed to mere appearance, opinion, or consensus. The following passage stresses the necessity for ascetics to use their faculty of judgement to discover the truth of a given phenomenon, and not to be deceived by false appearances: 'Employing their judgment, they should know something for certain and something for uncertain: (1) Having received food or not having received food, having eaten it or not having eaten it, has come or has not come, comes or does not come, will come or will not come' (Āyāra 2.4.1.1-2). This orientation toward the world, predicated on a realistic analysis of the modalities of time, is diametrically opposed to Brāhmanism and Vedāntic concepts such as *māyā* etc. This is evident in the following passage, which implicitly criticises the confusion of natural phenomena with illusory imagery of divine agency: 'A monk should not say: "The god of the sky! the god of the thunderstorm! the god of lightning! the god who begins to rain! the god who ceases to rain! may rain fall or may it not fall! may the crops grow or may they not grow! may the night wane or may it not wane! may the sun rise or may it not rise! may the king conquer or may he not conquer!" They should not use such speech. ... But knowing the nature of things, he should say: "the air; the follower of Guhya; a cloud has gathered or come down; the

cloud has rained” (Āyāra 2.4.1.12–13).

- (ii) False appearance and deception should be avoided by all means: ‘A *muni* speaks of appearance, ignoring the truth, encounters a sin. Then what to speak of one who indulges in whole untruth [Note by LALWANI: When a woman is dressed as a man and if she be called a man, it is a falsehood, though in her dress she appears like a man ...].’ (DVS<sub>2</sub> 7.5, cf. Āyāra 2.4.1.3). Ways of ‘establishing what is not’, such as vague promises and speculation, are also seen indiscriminate or deceptive utterances, because of the confusion of past, present, and future. Language which may create doubt (‘maybe or not’) has to be avoided by all means: ‘When one knows not true implication, in the context of the present, past, and future, says not one, “surely it’s like this”. When one is in doubt about implication, in the context of the present, past and future, says not one, “surely it’s like this”. “Surely it’s so”,—says one when one has not an iota of doubt of implication about the present, the past and future’ (DVS<sub>2</sub> 7.8–10, cf. DVS<sub>2</sub> 7.6–7, Āyāra 2.4.1.5). It is remarkable, that early Jainism already insists on the correct use of temporal modalities, which must be related to the philosophy of transmigration, but also with the critique of the Brāhmanic sacred-word theory: ‘speech exists only the moment when being spoken’ (SCHUBRING § 68 2000: 149). The practical value of all the cited examples is the same: reducing illusory appearances to their ‘real’ content.
- (iii) There are no further maxims concerning ‘changing the meaning’ in the texts on the ways of speaking. Effectively, however, Jain narrative literature is based on a method of ‘changing the meaning’ of Indian folklore (HERTEL 1922). The combined systematicity and context-sensitivity of Jain rules and regulations is particularly obvious in the following statement of the Digambara author Vasunandin’s (1100 CE) *Śrāvakācāra* 209, which propagates not only the ‘abstention from untruth spoken out of passion or hate’ but ‘from truth too, if it provokes the destruction of a living being’ (cited in WILLIAMS 1983: 78). This and similar examples illustrate how the hierarchically superior principle of *ahimsā* supersedes the maxim of truthfulness in cases of rule-

contradiction. Cf. MĀLVANĪYĀ (1971: 325) on the role of the (situational) conditions of truthfulness in the *Pannavaṇā*.

<sup>91</sup> Conversely: '[1.] The monks and nuns may not use the following six forbidden forms of speech: lying, sneering, insult, coarse speaking, worldly speech, or speech renewing atoned matters. 2. There are six cases of idle talk about right conduct: of speaking rashly in relation to others, of damaging living creatures, of untruthfulness, of forbidden appropriation, of a jade, a eunuch, or a slave. Whoever uses those six kinds of idle talk, without being able to prove them fully, ranks as one who has committed the transgression himself' (KS 6.1).

<sup>92</sup> Cf. BROWN-LEVINSON (1978: 134 ff.). In Paṇṇṭ folio 259 B cited by MĀLVANĪYĀ (1971: 212) the positive karmic consequences of not killing are expressed in this way; avoiding commandments of the form 'do not kill' for example by saying: 'Those who refrain from killing living beings live long and enjoy good health (in the next birth).'

<sup>93</sup> See also AUSTIN (1962: 4) on disguising a performative utterance as a descriptive or constative statement.

<sup>94</sup> Cf. GERT's (1973) 'minimal ethic'.

## BIBLIOGRAPHY

### Primary Sources

AṇD = *Aṇugaddārāiṃ* [*Anuyoga-dvāra*]. T. Hanaki (English tr.): *Aṇugaddārāiṃ (English Translation)*. Prakrit Jain Institute Research Publications Series Vol. 5, Vaishali 1970.

ĀvNi = *Āvassaya-nijjutti* [*Āvaśyaka-niryukti*]. Edited with Haribhadra's *Ṭikā*. Agamodaya Samiti, Bombay 1918.

Āyāra = *Āyāraṅga-sutta* [*Ācārāṅga-sūtra*]. (1) [English translation:] JACOBI (1884: 1–216). (2) [Original Ardhamāgadhi-Text:] Tulsī, Ācārya, Muni Nathmal (eds.): *Aṅgasuttāṇi*. Vol. 1. Second Edition. Jain Viśva Bhārati, Lāḍṇuṃ 1992: 1–248 [first edition: 1974].

DVS = Ārya Sayyambhava: *Dasaveyāliya-sutta* [*Daśavaikālika-sūtra*]. (1) Ernst Leumann (ed.), Walther Schubring (tr.): *The Dasaveyāliya Sutta*. Introduction and Notes, by Walther Schubring. The Managers of the Sheth Anandji Kalianji, Ahmedabad 1932. (2) Kustur Chand Lalwani (tr.): *Ārya Sayyambhava's Daśavaikālika Sūtra*. With Translation and Notes. Motilal Banarsidas, Delhi 1973. (3) Acārya Tulsī [Vācaka Pramukha], Muni Nathmal [Sampādaka aur Vivecaka] (eds.): *Dasaveyāliyaṃ* (Mūlapāṭha, Saṃskṛt Chāyā, Hindi Anuvāda tathā Ṭippaṇa). Jain Viśva Bhārati, Lāḍṇuṃ 1974 [first edition: 1964].

KS = Bhadrabāhu: *Kappa-sutta* [*Kalpa-sūtra*]. Walther Schubring (tr.): *Das Kalpa-sūtra. Die alte Sammlung jainistischer Mönchsvorschriften*. Einleitung, Text, Analysen, Übersetzung, Glossar. Indica 2. Hg. E. Leumann. Otto Harrassowitz, Leipzig 1905 [English Translation of the revised German translation: J.A.S. Burgess: 'The Kalpa-Sūtra. An Old Collection of Disciplinary Rules for Jaina monks.' *The Indian Antiquary* 39 (1910) 257–267].

MĀc = Vaṭṭakera: *Mūlācāra*. See: OKUDA (1975).

Paṇṇ = *Paṇṇavaṇā-sutta* [*Prajñāpanā-sūtra*]. Muni Puṇyavijaya, Pt. Dalsukh Mālvaṇiyā, Pt. Amritlāl Mohanlāl Bhojak. (eds.): *Paṇṇavaṇā (Prajñāpanā)*. Jaina-āgama-Series No. 9, Part 1–2. Mahāvira Jaina Vidyālaya, Bombay 1969–1971. See also: PaṇṇṬ, PaṇṇV.

PaṇṇṬ = Malayagiri: *Prajñāpanā-ṭikā*. (1) *Śrīmacchāmācārya-dṛbhdham śrīman-Malayagiryācārya-vihita-vivaraṇa-yutaṃ śrī-prajñāpanōpāṅgaṃ (Pūrvārdham)*. Āgamodaya-samiti, Mehasāna 1918, 1919 [printed: Nirṇaya-Sāgara Press, Bombay]. (2) Paṇḍit Bhagavānādāsa Harṣacandra [Anuvādaka ane Saṃśodhaka] (ed.): *Vācakavara-Bhagavad-ārya-śyāmācārya-viracita Mūla tathā śrīmad-ācārya-Malayagiri-viracita ṭikānā Anuvāda-sahita*. Bhāg I–III. Jaina Sosāyaṭi, Amadāvāda (Ahmedabad) 1935.

PaṇṇV = Haribhadra-sūri: *Prajñāpanā-vyākhyā (Pūrvabhāgaḥ)*. Rṣabhadeva-kesarīmalajī [Mudrayitri] (ed.): *Su-vihita-dhurandhara-sāhityasaudhānanya-stambhōpama-śrī-Haribhadra-Sūri-sūtrita-pradeśavyākhyā-saṃkalitaṃ*. Phakīrcanda Maganalāla Badāmi, Jainavijayānanda Printiṅg Press, Surat 1947.

PH = Aristotle: *Peri Hermeneias*. E.M. Edghill (tr.); *On Interpretation*. In: W.D. Ross (ed.): *The Works of Aristotle*, Volume 1: *Logic*. Clarendon Press, Oxford 1928 [<http://classics.mit.edu/Aristotle/-interpretation.html>].

Suy = *Sūyagaḍaṃga* [*Sūtrakṛtāṅga*]. English translation: JACOBI (1895: 235–435).

Ṭhāṇa = *Ṭhāṇaṅga-sutta* [*Sthānāṅga-sūtra*]. (1) Acārya Tulsi [Vācaka Pramukha], Muni Nathmal [Sampādaka Vivecaka], Acārya Mahāprajña (eds.): *Ṭhāṇaṃ (Mūl Pāṭh, Saṃskṛt Chāyā, Hindī Anuvāda tathā ṭippana)*. Jaina Viśva Bhāratī, Lāḍnūṃ 1976. (2) Muni Jambūvijaya [Sampādak] (ed.): *Sthānāṅga-sūtram. Navāṅgi-ṭikākāra-śrī-Abhayadeva-sūri-viracita-vivaraṇa-sametaṃ*. Bhāg I–III. Jaina-āgama-Granthamālā



19 (1–3). Mahāvira Jaina Vidyālaya, Mumbai 2002–2003. (3) Uttara Bhāratiya Pravartaka Amar Muni [Pradhāna Sampādaka], Śricand Surānā ‘Saras’ [Saha-Sampādaka] (eds.): *Sacitra Sthānāṅga Sūtra*. Bhāg I–II. Mūla Pāṭh-Hindī-Aṅgrezī Anuvāda, Vivecana evaṃ Raṅgina Citroṃ Sahita. Padma Prakāśa, Dilli 2004.

Utt = *Uttarajjhayaṇa-sutta* [Uttarādhyayana-sūtra]. (1) Upa-Pravartaka Amar Muni [Sampādaka], śricand Surānā ‘Saras’ [Saha-Sampādaka] (eds.); Brj Mohan Jain [Aṅgrezī Anuvāda] (tr.): *Sacitra Uttarādhyayana Sūtra Mūla Pāṭha, Hindī-Aṅgrezī Anuvāda, Viśeṣa ṭippana tathā Bhāvapūrṇa Citroṃ Sahit. Ātmā Jñān Piṭh, Mānasā Maṇḍi* 1992. (2) English Translation: JACOBI (1895: 1–232).

VĀBh = Jinabhadra: *Viśecāvaśyaka-bhāṣā*. Dalasukha Malavaniya (ed.): *Śri-jinabhadra-gaṇi-kṣamā-śramaṇa-viracitam Viśecāvaśyakabhāṣyam. Svopajña-vṛtti-sahitam*. Lālabhai Dalapatabhai Bhāratiya Saṃskṛti Vidyāmandira, Amadavada 1966–1968.

Viy = *Viyāha-pannatti* [Bhagavati-sūtra]. (1) DELEU (1970). (2) Kustur Chand Lalwani (tr.): *Sudharma Svāmi’s Bhagavati Sūtra*. Prakrit Text with English Translation of śatakas 1–11. Vol. 1–4. Jain Bhawan, Calcutta 1973–1985.

YŚ = Hemaçandra-sūri: *Yoga-śāstra*. Olle Qvarnström (tr.): *The Yogaśāstra of Hemaçandra. A Twelfth Century Handbook on Śvetāmbara Jainism*. Harvard Oriental Series Vol. 61, Cambridge (Massachusetts) 2002.

YT = Somadeva-sūri: *Yaśas-tilaka*. See HANDIQUI (1968).

## Secondary Sources

APEL, Karl-Otto: *Transformation der Philosophie*. 2 Bände. Frankfurt am Main: Suhrkamp, 1973 [English translation

(selection): *Towards a Transformation of Philosophy*. London: Routledge and Kegan Paul, 1980].

ARISTOTLE = See PH.

AUSTIN 1962 = Austin, John Langshaw: *How to Do Things with Words. The William James Lectures delivered at Harvard University in 1955*. Clarendon Press, Oxford 1962.

BAHM 1957 = Bahm Archie J.: 'Does Seven-Fold Predication Equal Four-Cornered Negation Reversed?' *Philosophy East and West* 7,3-4 (1957) 127-130.

BALBIR 1987 = Balbir, Nalini: 'The Perfect Sūtra as Defined by the Jainas.' *Bulletin D'Études Indiennes* 3 (1987) 3-21.

BALCEROWICZ 2003 = Balcerowicz, Piotr: 'Some Remarks on the Naya Method', in: Piotr Balcerowicz: *Essays in Jaina Philosophy and Religion*. Motilal Banarsidas, Delhi 2003: 37-70.

BHATT 1978 = Bhatt, Bansidhar: *The Canonical Nikṣepa. Studies in Jaina Dialectics*. E. J. Brill (Indologica Berolinensa 5), Leiden 1978.

BROWN-LEVINSON 1978 = Brown, Penelope & Levinson, Stephen: 'Universals in Language Usage: Politeness Phenomena', in: E. Goody (ed.): *Questions and Politeness. Strategies in Social Interaction*. Cambridge University Press, Cambridge 1978: 56-310.

BRUHN 2003 = Bruhn, Klaus: 'The Mahāvratas in Early Jainism.' *Berliner Indologische Studien* 15/16/17 (2003) 3-98.

BRUHN-HÄRTEL 1978 = Bruhn, Klaus; Herbert Härtel: 'Editors' Foreword', in: Bansidhar Bhatt: *The Canonical Nikṣepa: Studies in Jaina Dialectics*. Indologica Berolinensa 5, E. J. Brill, Leiden 1978: v-vi.

CAILLAT 1975 = Caillat, Colette: *Atonements in the Ancient Ritual of the Jaina Monks*. Translated by Mr Jones,

Mr & Mrs McKenna, & Mr Whitehouse. Ahmedabad: L. D. Institute of Indology, L. D. Series No. 49, 1965 / 1975.

CAILLAT 1984 = Caillat, Colette: 'Prohibited Speech and *Subhāsita* in the Theravāda Tradition', *Indologica Taurinensia* 12 (1984) 61–73.

CAILLAT 1991 = Caillat, Colette: 'The Rules Concerning Speech (Bhāsā) in the Āyāranga- and Dasaveyāliya-Suttas', in: M. A. Dhaky, S. Jain (eds.): *Aspects of Jainology. Pt. Dalsukhbhai Malvania Felicitation Volume. Vol. 3. P. V.* Research Institute, Varanasi 1991: 1–15.

DELEU 1970 = Deleu, Jozef: *Viyāhapannatti (Bhagavai). The Fifth Anga of the Jaina Canon.* Introduction, Critical Analysis, Commentary & Indexes. Rijksuniversiteit de Gent, Brugge 1970.

DUNDAS 1996 = Dundas, Paul: 'Somnolent Sūtras: Scriptural Commentary in Śvetāmbara Jainism.' *Journal of Indian Philosophy* 24 (1996) 73–101.

DUNDAS 2007 = Dundas, Paul: 'The Non-Violence of Violence: Jain Perspectives on Warfare, Asceticism and Worship', in: J.R. Hinnells, R. King (eds.): *Religion and Violence in South Asia: Theory and Practice.* Routledge, London 2007: 41–61.

FAUCONNIER 1981 = Fauconnier, Gilles: 'Social Ritual and Relative Truth in Natural Language', in: K. Knorr-Cetina, A.V. Cicourel (eds.): *Advances in Social Theory and Methodology.* Routledge & Kegan Paul, Boston 1981: 175–202.

FOUCAULT 1981 = Foucault, Michel: *L'ordre du discours.* Gallimard, Paris 1971 [English translation: 'The Order of Discourse.' Translated by Ian McLeod. In: R. Young (ed.): *Untying the Text: A Poststructuralist Reader.* Routledge and Kegan Paul, London 1981: 48–78].

GANERI 2001 = Ganeri, Jonardon: *Philosophy in Classical India*. Routledge, London 2001.

GANERI 2002 = Ganeri, Jonardon: 'Jaina Logic and the Philosophical Basis of Pluralism.' *History and Philosophy of Logic* 23 (2002) 267–81.

GERT 1973 = Gert, Bernard: *The Moral Rules: A New Rational Foundation for Morality*. Harper & Row, New York 1973.

GHATAGE 1996–2003 = Ghatage, A.M. (ed.): *A Comprehensive and Critical Dictionary of the Prakrit Languages with Special Reference to Jain Literature*. Vol. I–III.1–2. Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune 1996–2003.

GLASENAPP 1915 = Glasenapp, Helmuth von: *Die Lehre vom Karma in der Philosophie der Jainas*. Otto Harrassowitz, Leipzig 1915 [English translation: *The Doctrine of Karman in Jain Philosophy*. Translated from the original German by B. Gifford and revised by the author. Ed. H. R. Kapadia. Bombay: Bai Vijibai Jivanlal Panalal Charity Fund, 1942].

GONDA 1959 = Gonda, Jan: 'Why are Ahimsā and Similar Concepts often Expressed in a Negative Form?' Jan Gonda: *Four Studies in the Language of the Veda*. Disputationes Theno-Trajectinaeis. Mouton, S-Gravenage 1959: 95–117.

GRICE 1975 = Grice, H. Paul: 'Logic and Conversation.' P. Cohen, J. L. Morgan (eds.): *Syntax and Semantics*. Vol. 3. Academic Press, London 1975: 41–58.

GUMPERZ 1964 = Gumperz, John J.: 'Linguistic and Social Interaction in Two Communities.' *American Anthropologist (N.S.)* 66,6,2 (1964) 137–53.

GUNARATNE 1980 = Gunaratne, R. D.: 'Understanding Nāgārjuna's *catus-koti*.' *Philosophy East & West* 30,2 (1980) 211–239.

HAACK 1974 = Haack, Susan: *Deviant Logic: Some Philosophical Ideas*. Cambridge University Press, Cambridge 1974.

HABERMAS 1979 = Habermas, Jürgen: "What is Universal Pragmatics?" *Communication and the Evolution of Society*. Translated by Thomas McCarthy. London: Heinemann Educational, 1976 / 1979: 1-68.

HABERMAS 1980-1981 = Habermas, Jürgen: *Theorie des kommunikativen Handelns*. 2 Bände. Suhrkamp, Frankfurt am Main 1980-1981 [English translation: HABERMAS (1984-1987)].

HABERMAS 1983 = Habermas, Jürgen: *Moralbewußtsein und kommunikatives Handeln*. Suhrkamp, Frankfurt am Main 1983 [English translation: HABERMAS (1990)].

HABERMAS 1984-1987 = Habermas, Jürgen: *The Theory of Communicative Action*. Vol. 1-2. Translated by Thomas McCarthy. Polity Press, Cambridge 1984-1987 [English translation of HABERMAS (1980-1981)].

HABERMAS 1991 = Habermas, Jürgen: *Erläuterungen zur Diskursethik*. Suhrkamp, Frankfurt am Main 1991 [English translation: *Justification & Application: Remarks on Discourse Ethics*. Translated by Ciaran P. Cronin. The M.I.T. Press, Cambridge (Massachusetts) 1993].

HABERMAS 1993 = Habermas, Jürgen: 'Comments on John Searle: "Meaning, Communication, and Representation".' LEPORE-VAN GULICK (1993: 17-30).

HANDIQUI 1968 = Handiqui, Krishna Kanta: *Yaśastilaka and Indian Culture. Or Soma Terāpanth deva's Yaśastilaka and Aspects of Jainism and Indian Thought and Culture in the Tenth Century*. Jivarāja Jaina Granthamālā No. 2, Jaina Saṃskṛti Saṃrakṣaka Saṅgha, Sholapur 1968 [first edition: 1949].

HARE 1981 = Hare, Richard Mervyn: *Moral Thinking: Its Levels, Method, and Point*. Clarendon Press, Oxford 1981.

HARNAD 1999 = Harnad, Stevan: 'Re: Are Axioms Empirical?' 19 February (1999) 1 [<http://www.ecs.soton.ac.uk/~harnad/Hypermail/Advanced.AI99/0009.html>].

HERTEL 1922 = Hertel, Johannes: *On the Literature of the Shvetambaras of Gujarat*. Sächsische Forschungsinstitute in Leipzig. Forschungsinstitut für Indogermanistik Indische Abteilung Nr. 1, Merkert & Petters, Leipzig 1922.

HORN 1985 = Horn, Laurence R.: 'Metalinguistic Negation and Pragmatic Ambiguity.' *Language* 61,1 (1985) 121-74.

HORN 2001 = Horn, Laurence R.: *A Natural History of Negation*. CSLI Publications, Stanford: 2001 [first edition: Chicago University Press, Chicago 1989].

HYMES 1972 = Hymes, Dell: 'On Communicative Competence', in: J. Pride, J. Holmes (eds.): *Sociolinguistics*. Penguin, Harmondsworth 1972 [first edition: 1971].

JACOBI 1884 = Jacobi, Hermann: *Jaina Sūtras I. Sacred Books of the East* Vol. 22 Oxford University Press, Oxford 1884.

JACOBI 1895 = Jacobi, Hermann: *Jaina Sūtras II. Sacred Books of the East* Vol. 45 Oxford University Press, Oxford 1895.

JAIN 1929 = Jain, Campat Rāy: *Faith, Knowledge and Conduct*. The Indian Press, Allahabad 1929.

JAYATILLEKE 1967 = Jayatilleke, K.N.: 'The Logic of Four Alternatives.' *Philosophy East & West* 17,1/4 (1967) 69-83.

JONES 1978 = Jones, Richard Hubert: 'The Nature and Function of Nāgārjuna's Arguments.' *Philosophy East and West* 28,4 (1978) 485-502.

KANNOOMAL 1917 = Kannoomal, Lala: *The Saptabhangi Naya or the Pluralist Aspects of the Jaina*

*Dialectics*. Atmanand Jain Pustak Pracharak Mandal, Agra 1917.

LAILAW 1995 = Laidlaw, James: *Riches and Renunciation: Religion, Economy and Society among the Jains*. Clarendon Press, Oxford 1995.

LALWANI 1973 = Lalwani, Kustur Chand: *Ārya Sayyambhava's Daśavaikālika Sūtra*. Translation and Notes. Motilal Banarsidas, Delhi 1973.

LALWANI 1973-85 = Lalwani, Kustur Chand: *Sudharma Svāmī's Bhagavati Sūtra*. Prakrit Text with English Translation of śatakas 1-11. Vol. 1-4. Jain Bhawan, Calcutta 1973-1985.

LUHMANN 1990 = Luhmann, Niklas: *Die Wissenschaft der Gesellschaft*. Suhrkamp, Frankfurt am Main 1990.

MAHIAS 1985 = Mahias, Marie-Claude: *Délivrance et convivialité: Le système culinaire des Jaina*. Éditions de la Maison des Sciences de l'Homme, Paris 1985.

MALAMOUND 1982 = Malamoud, Charles: 'On the Rhetorics and Semantics of Puruṣārtha', *Contributions to Indian Sociology (N.S.)* 15 (1982) 33-54.

MĀLVANIYĀ 1971 = Mālvaṇiyā, Dalsukh. D.: 'Introduction', in: Muni Puṇyavijaya, Pt. Dalsukh Mālvaṇiyā, Pt. Amritlāl Mohanlāl Bhojak (ed.): *Paṇṇavanāśuttam*. Jaina-Āgama-Series No. 9, Part 2. Mahāvira Jaina Vidyālaya, Bombay 1971: 201-487.

MATILAL 1981 = Matilal, Bimal Krishna: *The Central Philosophy of Jainism (Anekānta-Vāda)*. L.D. Institute of Indology, Ahmedabad 1981.

MATILAL 1999 = Matilal, Bimal Krishna: *The Character of Logic in India*. Eds. J. Ganeri & H. Tiwari. Oxford University Press, New Delhi 1999 [1st ed.: 1998].

MONIER-WILLIAMS 1986 = Monier-Williams, Monier: *Sanskrit-English Dictionary*. New Edition, Greatly Enlarged and

Improved. Oxford University Press, Oxford 1899 [reprinted: Marwah Publications, New Delhi 1986].

MURTI 1955 = Murti, Tirupattur Ramaseshayyar Venkatachala: *The Central Philosophy of Buddhism: A Study of the Mādhyamika System*. Allen and Unwin, London 1955.

PRIEST 2006 = Priest, Graham: *In Contradiction: A Study of the Transconsistent*. Second Edition. Oxford University Press, Oxford 2006 [first edition: Martinus Nijhoff, Leiden 1987].

PRIEST-ROUTLEY 1983 = Priest, Graham; Routley, Richard. "An Impressionistic Survey of Paraconsistent Positions and Theories." *Collected Papers of the 1982 Foundations of Logic Conference*, University of Waterloo, 1983.

PRIEST-ROUTLEY 1989 = Priest, Graham; Routley, Richard. 'First Historical Introduction: A Preliminary History of Paraconsistent and Dialethic Approaches.' G. Priest, R. Routley, J. Norman (eds.): *Paraconsistent Logic: Essays on the Inconsistent*. Philosophia Verlag, München 1989: 3-75.

RAJU 1954 = Raju, P. T.: 'The Principle of Four-Cornered Negation in Indian Philosophy.' *Review of Metaphysics* 7 (1954) 694-713.

RUSSELL 1905 = Russell, Bertrand: 'On Denoting.' *Mind* 14 (1905) 479-93.

SCHROEDER 2000 = Schroeder, John: 'Nāgārjuna and the Doctrine of "Skillful Means".' *Philosophy East and West* 50,4 (2000) 559-583.

SCHUBRING 1932 = Schubring, Walther, see: DVS1.

SCHUBRING 2000 = Schubring, Walther: *The Doctrine of the Jainas: Described after the Old Sources*. Translated from the Revised German Edition by Wolfgang Beurlen. With the Three Indices Enlarged and Added by Willem Bollée and Jayandra Soni. Motilal Banarsidas, Delhi 2000 [first German edition: 1935].



SEARLE 1969 = Searle, John E.: *Speech Acts: An Essay in the Philosophy of Language*. London: Cambridge University Press, 1969.

SEYFORTH RUEGG 1985 = Seyforth Ruegg, David: 'Purport, Implicature and Presupposition: Sanskrit *Abhipraya* and Tibetan *Dgons Pa/Dgons Gzi* as Hermeneutical Concepts.' *Journal of Indian Philosophy* 13,4 (1985) 309–25.

STAAL 1962 = Staal, J. Frits: 'Negation and the Law of Contradiction in Indian Thought: A Study.' *Bulletin of the School of Oriental and African Studies* 25,1/3 (1962) 52–71.

STCHERBATSKY 1958 = Stcherbatsky, Fedor Ippolitovich: *Buddhist Logic*. 2 vols, Mouton, Gravenhage 1930-1932 / 1958.

STRAWSON 1950 = Strawson, Peter F.: 'On Referring.' *Mind* 59 (1950) 320–344.

TULSI 1985 = Tulsi, Ācārya: *Illumination of Jaina Tenets (Jaina-Siddhānta-Dīpikā)*. Translated by Satakari Mookerjee. Jain Vishva Bharati, Ladnun 1985 [first edition: 1945].

WELLMER 1986 = Wellmer, Albrecht: *Ethik und Dialog: Elemente des moralischen Urteils bei Kant und in der Diskursethik*. Suhrkamp, Frankfurt am Main 1986.

WILLIAMS 1983 = Williams, Robert: *Jaina Yoga*. Motilal Banarsidas, Delhi 1983 [first edition: 1963].

WITTGENSTEIN 1953 = Wittgenstein, Ludwig: *Philosophische Untersuchungen—Philosophical Investigations*. Translated by G. E. M. Anscombe. Blackwell, Oxford 1953 [first edition: 1945].

Dept. of the Study of Religions  
SOAS, University of LONDON  
Thornough Street, Russell Square  
LONDON WC1H0XG'

# The Cult of the Jakhs in Kutch

Françoise Mallison

*I had the privilege to be introduced to Professor Bhayani almost forty years ago, by my french Guru, Professor Charlotte Vaudeville. She herself, in the early sixties, had worked with Professor Bhayani on old Gujarati Jain poetry (for her book on the Barāhmāsā), at the Bharatiya Vidya Bhavan in Bombāy, and, in the process, had come to appreciate not only his profound scholarship, but also his irresistible sense of humor. She always kept good contact, esteem and amity for him. When she sent me, then a student, to Ahmedabad, I was at once amazed and relieved to see one by one all the difficulties I had in understanding the Prabhātiyām of Narasiṃha Mahetā, solved thanks to the endless knowledge and wide generosity of Professor Bhayani. It took me no time to realize that nobody in Gujarat, like him, could comprehend the totality of Gujarati culture in space and time and put it right into the midst of humanistic studies, from the most classic to the most modern theories, able as he is to combine the discipline of linguistics with literary studies. But, above all, during our long conversations, when I staid at his home, enjoying the cups of tea of Chandrakalaben, filling one notebook after the other with philological notes, bibliographical references, etc. .., I discovered that the most depressed state of mind into which we, scholars, can be plunged facing so many difficulties and fights with our texts, may all of a sudden disappear to make room for the sheer joy of discovery, laughter and happiness, at the mere contact of Professor Bhayani, ever so vivid and enthusiast. Gujarati studies could not be what they are without him. I dedicate to his memory the story of these learned and gentle legendary people, riding through Kutch with a manuscript scroll under their arm.*

Kutch is a district attached to the province of Saurashtra, the peninsula adjoining the Arabian Sea and forming the Western province of Gujarat State. This part of Gujarat, due to repeated waves of immigration, is different from the rest of the country not only in its features of physical and human geography but

also through its socio-historic configuration. It is often compared to Rajasthan because of the pattern of its rajput or pseudo-rajput feudalism but its social spectrum is much more complex and diversified.<sup>1</sup>

Another distinctive feature of Saurashtra are the wealth and the originality of its religious traditions. It provides shelter on its soil for sanctuaries known all over India like Dwarka or Somnath, Jaina holy places of prime importance like Girnar and Palitana, two of the twelve jyotirlingas (*jyotirlingam*), Somnath and Nagesvar, and the puranic geography of Saurashtra is eloquent about the antiquity of the fact that this province was a part of the magnificent tradition of classical Hinduism. Much less well known is the extraordinary wealth of holy men and local cults, its dense network of small popular sanctuaries covering the country. They all belong to what the local authors call *loka-dharma*, popular religion.

These different popular religious currents are not at all mutually exclusive but perfectly open to each other. For instance, what is called *Santa-vāṇī*, a corpus of hymns shared by different communities, all more or less touched by tantric influence, not only is the common property of different faithful but more than that, it is held in esteem by the entire Gujarati public in spite of its use of dialectal features particular to Saurashtra or sometimes even of Kacchi characteristics. For the origin of the *Santa-vāṇī* one must look to the combined action of a group of *loka-dharma* such as the Mahāpanth, Ravibhāṅpanth, Nāthpanth, Kabirpanth, and - although at present its followers are not any longer conscious of the fact - the Satpanth, the old name of the converted Nizāri Ismailis in Gujarat and Kutch.

In order to finish with this introduction to the popular religion of Saurashtra and Kutch, it is necessary to add a few additional specific features. If like elsewhere in India ascetic exploits and the outward renouncement of the saints are frequently come across, for instance in the case of the founder

of the Nāth community in Kutch, Dharmanāth at Dhinodhar<sup>2</sup>, it appears that very special importance was given to the notions of compassion for the living beings and of devotion to their service in order to attain to the Sants perfection. Examples are numerous : for instance the saint Kāpaḍi Mekaṇ Dādā who, accompanied by his dog Motiyā and his donkey Lāliyā, crisscrosses the Rann of Kutch on the look out for any one having lost his way in the desert in order to provide him with water and food and thus to save him, or Saint Devidās who transforms his *āśrama* at Parab-Vāvdi into a leper-house thus attracting the wrath of his neighbours. Animals will receive equal attention : the shrines belonging to the Sant Vāṇi group will have a *gośālā*, These shrines are provided with all that is necessary for the *sadāvratā* (the vow to feed every day poor visitors), where the visitor will always be told that commensality is compulsory and that caste rules will not be observed. One cannot but be reminded of the presence of Buddhism in Saurashtra until the 13th century<sup>3</sup>, more exactly in the region concerned by the cult of the Jakhs : Kutch.

Kutch, the northwestern most district of Saurashtra situated between the Arabian Sea to the South, Pakistan to the North East, is physically separated from Pakistan by the Great Rann and from India by the Little Rann; thus is as much connected to the province of Sind than to Kathiawad but historical circumstances determined it being linked to Saurashtra; however Kacchi is a dialect of Sindhi. The preservation of socio-religious traditions in Kutch is in astonishing contrast with its wide opening to the outside world overseas and the resulting migrations of men and ideas. The cult of the Jakhs belongs to Kutch alone.

In Kutch district one may find sanctuaries, more or less abandoned and small, displaying an alignment of statuettes representing 72 horsemen on their horses holding a manuscript scroll in one hand, said to have come from overseas to alleviate the misery of the poor, to look after the sick, to deliver the

country from its tyrant, the king Puṃvrao. Such are the Jakhs<sup>4</sup>. They are treated like gods. Their legend is known only thanks to bardic tales because the Jakhs are responsible for the failure of the first attempt of the Samma Rajputs from Sind to rule over Kutch, through ruining Puṃvrao, nephew of Lākhā Phulāṇī (at the end of the 10th century). Several tales are available. A. Burnes in 1826 provided the first one<sup>5</sup> and L.F. Rushbrook Williams has summed up the state of the question in 1958<sup>6</sup>. According to the legends, seven holy men had come from somewhere near Byzantium ; called Rikhis (R̥ṣi) or Saṃghar, they are said to have worshipped their god Jakh on a hill not far from the fort of Puṃvrao, Padhargadh. The fact that they were able to heal sterility is said to have been of interest to the queen of Puṃvrao who is said either to have given them access to the palace through an underground passage or to have been offended because having been treated by them like an ordinary woman. Puṃvrao is said to have had them arrested and condemned to winnow grain on a ground covered with nails. A compassionate barber is said to have freed one of them who from the top of a hill had then called for the help of his God. Jakh is said to have arrived from Byzantium in company of his 70 brothers and one sister. As Puṃvrao refused to liberate the prisoners, they are said to have killed Puṃvrao after a lot of vicissitudes and put a curse on Padhargadh which was ruined and abandoned two years after having been built. Later on the 71 Jakhs and their sister were divinized and worshipped astride on their horses.

Another miracle was required in the 18th century to convince Rao Desalji (1716-1751) of the fact that the Jakhs actually existed : they appeared from the sky on their horses near the gold market (*sonī bazār*) at Bhuj. A shrine commemorates the event, it is called Jakh Jar or Jakh Mandir; it is not much visited nowadays but well kept: 24 completely whitewashed niches are aligned on a platform surrounded by constructions, each providing shelter to three manuscript scrolls, doubtlessly standing for the 72 Jakhs ; two Jakh statues stand

in front of the niches and two white flags. There was no trace of *pūjā* going on (on December 12, 1997). Desalji and his successors are supposed to come and celebrate their arrival once a year.

Rushbrook Williams quotes a more rational tale on the presence of the Jakhs, as having been told by the last royal bard<sup>7</sup>. 71 shipwrecked men and a woman are said to have reached on rafts Jakhau (on the West Coast, Aḃaḃāsā *tālukā*, an ancient harbour the name of which recalls the event<sup>8</sup>). With their clear skin and tall stature and speaking a language unknown to Kutchis however far they had travelled, they were supposed to have come from Byzantium. They started to travel over the country and to teach their art of medicine, and other sciences, and were given horses in exchange. Their popularity is said to have provoked the jealousy of the cruel Puḃvrao who imprisoned some of them. Their brothers, in order to free them, were able to build a ballistic machine on a nearby hill bombarding a part of the palace and killing the king. The queen is said to have organized a massacre of all the Jakhs in revenge, but the people grateful for their kindnesses are said to have worshipped them as saints and even demigods in hilltop temples.

At Jakhau where many Jakh statues existed, the cult seems in recession. The silting-up of the harbour put an end to the commercial activities of the Bhanuśāli who emigrated to Bombay. Their arable land was taken over by Muslims. A small shrine has however been built twelve years ago between the small town and the Sea; seven Jakhs can be seen there on their horses, small statues, 30 to 50 centimeters high. Incense and coconuts bear witness to the existence of a cult.

But the most lively temple is located at the village bearing the very name Jakh near the Padhargadh ruins (Nakhatrāṇā *tālukā*) and near the ruins of a big Śiva temple called Puḃvreśvar. The shrine on the top of a hill is accessible via a flight of steps, it is an open terrace partially covered by

a dome under which stand in a row the 72 whitewashed statuettes of the Jakhs on their little horses, freshly painted, with their characteristic orange turban, their moustache, with the manuscript scrolls under the arm; their sister Sāyari is different only through her smaller size. A series of 72 statuettes has been discarded, but not destroyed because when a series is replaced, the preceding one is simply put aside and continues to receive garlands and some honours. An oil lamp is continuously lighted and hung on a pillar of the entry. *Darsana* is permanent, visitors are numerous.<sup>9</sup>

Local writers as well as English scholars have tried hard to find a plausible explanation for the origin of the strange benefactors from foreign lands. Many theories were put forward, some of them quite fanciful: they were said to be celestial beings as indicated by their name, Hindu or Buddhist *yakṣa*, Greeks or Romans, Śākas or White Huns<sup>10</sup>, or even the Varangian (Scandinavian) Guards of the emperor of Byzantium ! More prosaically, Rushbrook Williams proposes an Iranian identity : they might have been Zoroastrians fleeing islamization from Northern Iran (as had the present day Parsis who reached the coast of Gujarat as early as during the 9th century) a group of whom might have been shipwrecked and sought refuge on the coast of Kutch. Their peaceful ways and their knowledge would be in accordance with those attributed to the Jakhs. For Dalpat Shrimali<sup>11</sup>, a specialist of the religious folklore of the untouchables in Saurashtra and Gujarat, the god Jakh might be an *avatāra* of Matang or Mataim Dev, one of the great Gurus of the Mahāmārgī mythology, born from a brahmin father and an untouchable mother, famous for his astrologic science but who is also one of the great Hindu preachers of Nizāri Ismailism<sup>12</sup>.

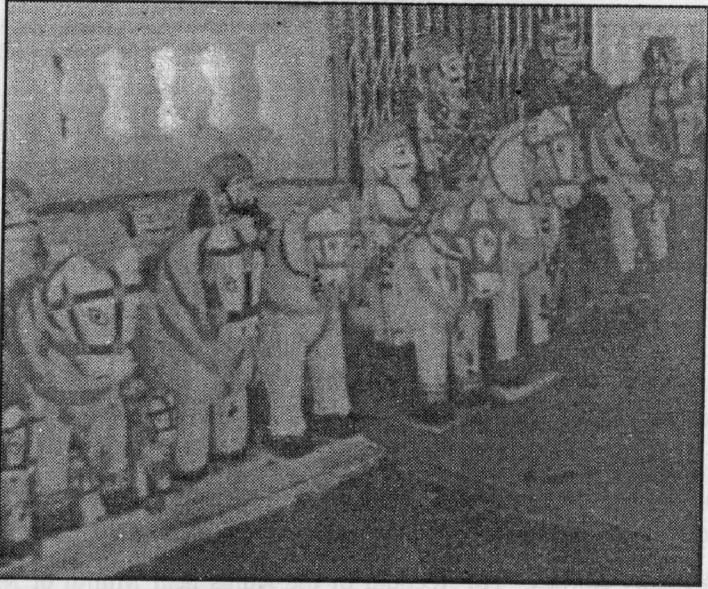
None of these theories can be proven, and the legend of the Jakhs does not seem to have crossed the Ranns of Kutch.

LES MONTEZES  
F.30170, MONOBLET, FRANCE

## Foot-Notes

- 1 Cf. Harald Tambs-Lyche, *Power, Profit and Poetry ; Traditional Society in Kathiawar, Western India*, New Delhi: Manohar, 1997.
- 2 Dalpatrām P. Khakhar, "History of of the Kamphatas of Kacch" in *Indian Antiquary*, 7 (February 1878), pp. 45-53, and in D.P.Khakhar, *Report on the Architectural and Archaeological Remains in the Province of Kacch., with five papers by the late Sir Alex. Burnes*, reprinted at Patna : Indian India, 1978 (1st ed., Bombay: Government Central Press, 1879), p. 3-13.
- 3 Cf. M.S. Moray, *History of Buddhism in Gujarat*, Ahmedabad : Saraswati Pustak Bhandar, 1965, and A.S. Gadre, "Buddhist Influence in Gujarat and Kathiawar", *Journal of the Gujarat Research Society*, (Bombay), 1939, 1-4, p. 61-70.
- 4 The etymology of *Jakh* can only lead to Sanskr̥t *yakṣa*, the guardian demigods or servants of Kubera, the god of wealth.
- 5 Alexander Burnes, "An Account of the Ruins near Mujjul or Munjul in Cutch", appendix no. IV., in Dalpatram P. Khakhar, *op.cit.*, note 8.
- 6 L.F. Rushbrook Williams, *The Black Hills, Kutch in History and Legend : A Study in Indian Local Loyalties*, London : Weidenfeld and Nicolson, 1958, pp.83-88, and ill.
- 7 *Ibidem*, p.86-87.
- 8 On Jakhau see G.D. Patel, ed., *Gujarat State Gazetteers, Kutch District*, Ahmedabad : Government Press, Gujarat State, 1971, p. 598.
- 9 I had the oportunity to discover a new sanctuary of Jakhs in January 2001 at a place named Jeliya, four kilometers of Jangi (Bhachau *tālukā*). The shrine, open air, was renovated in 2000 and showed the present vividness of cult.
- 10 Cf. Rushbrook Williams, *op.cit.* , note 20, p. 85.
- 11 Dalpat Shrimali, *Harijana santa ane lokasāhitya [kamthasthathi granthastha]*, Ahmedabad : Gujarāta grantharatna kāryālaya, repr. 1993 (1st ed. 1989), p. 223f.
- 12 Cf. S. Nanjiani, *Khojā vṛttānta*, Ahmedabad : 2nd ed., 1892, p. 133-136.





Jakhs images at the Jakhs shrine of the village Jakh  
(Nakhatrāṇā Tāluka)

## विहंगावलोकन

उपा. भुवनचन्द्र

‘अनुसन्धान’ना ४९ मा अंकमां संस्कृत व्याकरणनो एक लघु ग्रन्थ प्रगट थयो छे. ‘शब्दसञ्चयः’ नामक आ रचनामां संस्कृतना स्वरान्त-व्यञ्जान्त नामोनां विभक्तिरूपोने सर्वग्राही रूपे तथा साधनिका साथे संगृहीत करवामां आव्या छे. सिद्धहैम तथा कातन्त्र - ए बे व्याकरणना आधारे रूपसिद्धि करवामां आवी छे. जैन वर्तुळोमां विविध विषयोनो अभ्यास केवी तत्परताथी थतो आव्यो छे ते आवी रचनाओ कही जाय छे. सम्पादके जे विशदता साथे कृतिनुं सम्पादन कर्युं छे ते सम्पादकना आ विषयना अधिकारनी द्योतक छे.

तीर्थमाला प्रकारनी एक रचना ‘तीर्थावली द्वात्रिंशिका’ आ अंकमां छे. कृति संक्षिप्त होवाथी तीर्थो विशे अधिक जाणकारी जो के नथी मळती, तेम छतां विभिन्न काळखण्डोमां तीर्थोनी मान्यता, संख्या के नाम-ठाम जाणवाना स्रोत रूपे आवी तीर्थावलीओ उपयोगी बने छे ज. कृति शुद्धप्रायः छे. श्लो. १७मां ‘ततस्तत(ः) श्री....’ एवो सुधारो सूचववामां आव्यो छे ते अनावश्यक छे. ‘ततस्ततश्री....’ पाठ शुद्ध छे.

‘श्री आचार्यजीना बार मसवाड़ा’ काव्यगुणयुक्त रचना छे. आमां कविनो कल्पना-उन्मेष जोवा मळे छे. पाठमां थोडां संमार्जनीय स्थान छे :

पृ. १११, पं. ६ - ‘सहोदरां माता’ छे ते ठेकाणे ‘सोहोदनां’ होवुं घटे. कडी ४मां मातानुं आ नाम आपेलुं छे ज. पृ. १११, पं. ११मां ‘वरनी’ने स्थाने सम्भवतः ‘चटनी’ शब्द होवो जोइए. सालणां (अथाणां) साथे ‘चटनी’नो मेळ पण स्वाभाविक छे. हस्तप्रत चकासवी जोईए. दूहा ५ (पृ. ११२)नी प्रथम पंक्ति आ रीते वांचवी जोईए : ‘कल्पवृक्ष मि पामीऊ’ पृ. ११२, दूहा ६मां ‘सीतल वरसुं’ छे त्यां ‘करसुं’ होवुं घटे.

त्रण लघु रचनाओमांनी त्रणैय रचनाओ नोंधपात्र छे. ‘नेमिजिनस्तुति’मां शब्दालङ्कारो, ‘सिलोकानन्द’मां शब्दचातुरी, ‘गौतमरास’मां भक्तिरस आपणुं ध्यान खेंचे छे.

प्रकीर्ण पत्रोमां अथवा कोई प्रतिना अन्ते रहेती खाली जगामां लघु रचनाओं के पछी कोई उपयोगी माहिती लखी राखवी-ए जूना जमानानी एक लोकप्रिय परिपाटी रही छे. आवी रचनाओमां घणी वार ऐतिहासिक कही शकाय एवी सामग्री मळी आवती होय छे. प्रस्तुत अंकमांनी (१) मेघागणि निर्वाणरास, (२) भास तथा (३) विजयहीरसूरि स्वाध्याय ९ आवी ज ऐतिहासिक कृतिओ छे. पृ. १२६ पर पांचमी पंक्तिमां अपूर्ण पाठ छे तेनी 'नवनिधान [सम नव] वाडि' ए रीते पूर्ति करी शकाय एम छे.

'भोजनविच्छित्ति:' नामक जूनी गुजराती अगद्यापद्य रचना ए युगना भोजनव्यवहार विशे रसिक अने कौतुकप्रेरक विगतो आपे छे. मोटा भागनी विगतोनुं अनुसन्धान गुजरातनी वर्तमान भोजनपद्धतिमां जोई शकाय छे, पण केटलीक बाबतोमां खासुं एवुं अन्तर पडेलुं जोई शकाय छे. दा.त. भोजनना मध्यमां भात खावानी रीत.

'नारद' विषयक संशोधनलेखमां लेखिकानो संशोधनपरिश्रम ऊडीने आंखे वळ्यो एवो छे. भारतीय धर्मोना वैचारिक के सांस्कृतिक माळखामां परस्पर साम्य के निकटता धरावती बाबतो अगणित मळी रहे ए सहज छे. केटलाय पौराणिक (अने ऐतिहासिक पण) पात्रोना सम्बन्धमां आवी ज स्थिति जोवा मळे छे. नारद पण एक एवुं पौराणिक पात्र छे - जे एकथी वधु परम्पराना प्राचीन उल्लेख पामे छे. जैन अने हिन्दू प्राचीन ग्रन्थोमां नारद विशे मळी आवता उल्लेखोने एकत्र मूकीने लेखिका ए बन्ने परम्परामां नारद माटेनी मान्यताओ के दृष्टिकोणो समये समये बदलाता रह्या छे एवा निष्कर्ष पर आववानो प्रयास कर्यो छे अने आ मान्यताओ ते ते लेखक-ग्रन्थकारना वैयक्तिक अभिगमने प्रतिबिम्बित करे छे एम पण कहे छे. हवे विविध ग्रन्थकारो द्वारा थता चित्रणमां आवुं बने ते तो स्वाभाविक छे परन्तु मूलतः नारद कई परम्पराना पुरुष हता ते लेखिका निर्णीत करी शक्या नथी. नारद नामधारक व्यक्तिओ एकथी अधिक होई शके छे अने तेथी नारदना व्यक्तित्वमां विरोधाभासोनुं सम्मिश्रण थयुं होय- आ बिन्दु पण लक्ष्यमां लेवावुं जोईए, ए रीते विरोधाभासोनुं समाधान थई शके. आ दृष्टिकोण लेखिकाए विचारणामां लीधो जणातो नथी.

\*\*\*

पुनः प्रकाशनं सुब्बं नजराणुं :  
'जैन तर्कभाषा'

उपा. भुवनचन्द्र

वस्तुविचारणा माटे जैनदर्शन अनेकान्तदृष्टि, नयभेद, निक्षेप, भङ्ग, ज्ञानना प्रकार जेवां साधनेने 'प्रमाण' तरीके काममां ले छे. 'प्रमिति' अर्थात् प्रमा (बोध-ज्ञान) विशे पण जैन दर्शन पोताना आगवा सिद्धान्तो धरावे छे. प्रमेय अर्थात् परीक्षणीय वस्तु तो आ आखुं जगत सहुनी समक्ष छे ज. प्रमिति अने प्रमाण - वस्तुनुं ज्ञान अने अे ज्ञान माटे वस्तुपरीक्षानी स्वीकृत पद्धति - ए बन्ने व्याख्यायित थाय तो ज प्रमेयनी परीक्षा योग्य रीते थई शके. न्यायदर्शने वस्तुविचारनी पद्धति बहु सूक्ष्मताथी निर्धारित करी हती. तर्कयुक्ति आधारित अे पद्धतिनो पछीथी सर्व दर्शनोअे स्वीकार कर्यो अने पोतपोताना सिद्धान्तोना प्रतिपादनमां तेनो विनियोग कर्यो.

महो. श्री यशोविजयजीअे अेवी तार्किक पद्धति आधारित जे ग्रन्थरत्नो आप्यां तेमां 'जैन तर्कभाषा' मुख्य छे. 'ज्ञान' (प्रमिति)ना उपकरण तरीके जैनदर्शने जे 'प्रमाणो' स्वीकार्यो छे तेनी तर्कबद्ध विचारणा आ ग्रन्थमां तेमणे करी छे. जैन दर्शनने तार्किक अभिगमथी समजवा मागता अभ्यासीओ माटे आ ग्रन्थनो अभ्यास अनिवार्य छे.

आ तर्कखचित अने शास्त्रसन्दर्भोथी समृद्ध ग्रन्थना तात्पर्य अने मर्म सुधी पहोंचवुं प्रथमाभ्यासी माटे दुष्कर छे. अे माटे विवेचन के टीकानी अपेक्षा रहे ज. आ प्रशिष्ट ग्रन्थनी टीकाओ आधुनिक समयमां विजयनेमिसूरीश्वरजीना पट्टशिष्य आ. विजयोदयसूरीजीअे आ ग्रन्थ उपर विस्तृत टीका रची छे जे तेनी गम्भीरता तथा विशदता थकी प्राचीन टीकाकारोनी स्मृति करावे छे. भारतीय दर्शनशास्त्रना प्रकाण्ड पण्डित श्रीसुखलालजीअे संक्षिप्त छतां अभ्यासीने अति उपकारक अेवी बीजी टीका रची छे. मूळ ग्रन्थ अने तेनी आ बे टीकाओ वर्षो पूर्वे प्रकाशित थयां हतां. हमणां ज बने टीकाओ साथे मूळ ग्रन्थनुं पुनः प्रकाशन 'जैन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, खम्भात' तरफथी थयुं छे. आनुं सम्पादन आ. श्री

शीलचन्द्रसूरिजीना शिष्य मुनिश्रीत्रैलोक्यमण्डनविजयजीअे कर्तुं छे.

आजे जैन साहित्यक्षेत्रे पुनः प्रकाशननो युग बेठो छे अेम कही शक्या. पुनः प्रकाशन आवकार्य छे ज, किन्तु पूर्वमुद्रित ग्रन्थोने मिनी-ओफसेट, झेरोक्ष वगैरे साधनो द्वारा 'बेठां' ऊतारी लई पुनः प्रकाशन करी देवाय छे. लेखनयुगमां लहियाओ 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' करता, तेम आवां प्रकाशनोमां अगाउना प्रकाशननी क्षतिओ तो कायम ज रहे छे अने अे ज ग्रन्थ के अे ज विषय पर कोई नवुं संशोधनकार्य थयेल होय तेनो कशो उपयोग थतो नथी. अेथीय वधारे वरवी वात तो अे छे के आवी रीते 'नकल' करायेल ग्रन्थना पूर्वसम्पादकोनां के संशोधकोनां नाम हठावी प्रकाशको के प्रेरणादाताओ पोतानुं नाम सम्पादक तरीके छापतां अचकाता नथी. अे प्रकाशनमां सम्पादक तरीके तेमनुं कोइ योगदान होतुं नथी. प्रस्तुत प्रकाशन पुनः प्रकाशन होवा छतां तेमां सम्पादके आपेलुं योगदान आपणुं ध्यान खेंचे छे. सम्पादक मुनिवरे ग्रन्थ तथा तेनी बन्ने टीकाओनो सूक्ष्मताथी अभ्यास कर्यो छे अने तेना परिपाकरूपे श्रीउदयसूरिजीकृत टीकाना भावने स्पष्ट करतां टिप्पणो यत्रतत्र ऊमेर्यां छे. आ टिप्पणो सम्पादकनी सज्जतानो निर्देश तो करे ज छे, ते उपरांत श्रमणसंघमां तार्किक विषयना अेक उदीयमान विद्वान तरीके तेमने प्रस्थापित करे छे.

आ ग्रन्थनुं विवरण तथा भाषान्तर आनाथी पूर्वे अन्यत्रथी प्रकाशित थया छे. तेनुं अवलोकन पण सम्पादके झीणवटथी कर्तुं छे अने तेमांना केटलांक चिन्तनीय स्थानो विषे पोतानुं अवलोकन अेक लेख रूपे आ पुस्तकमां मूकाय छे. ग्रन्थना विषयने आत्मसात् करवानो मुनिश्रीनो प्रयत्न आमां प्रतिबिम्बित थाय छे.

आवा ग्रन्थोनुं मुद्रण अशुद्धि मुक्त रहेवुं जोईअे; अन्यथा शब्दभेद अने तेना परिणामे अर्थभेद ऊभो थाय अने अन्ततोगत्वा मूळ ग्रन्थकारनो अभिप्रेत अर्थ अदृश्य थई कोई विलक्षण तात्पर्यनी आपत्ति थाय अेवुं बने. 'जैन तर्कभाषा'ना आनाथी पूर्व मुद्रित संस्करणोमां रही गयेल आवी भ्रमपूर्ण अने भ्रमोत्पादक अशुद्धिओ पण सम्पादके सूक्ष्मेक्षिकाथी शोधी छे अने दूर करी छे. अेकाद अपवाद सिवाय प्रस्तुत प्रकाशन अशुद्धिथी मुक्त रह्युं छे.

पं. श्रीसुखलालजीनी रचेली टीकामां आवता घणाखरा शास्त्रपाठो

श्रीउदयसूरिजीकृत टीकामां पण छे अटले अेवा पाठो बन्ने टीकामां न राखतां अेक टीकामां राखी बीजीमां मात्र तेमनो निर्देश के अतिदेश करी पुनरुक्ति निवारी देवामां कशुं खोटुं नथी. सम्पादके आ संस्करणमां अे पद्धति अपनावी छे, परन्तु निर्देश/अतिदेश माटेनी सूचना टीकाना भागथी अलग जणाई आवे अे रीते आपवी जोईती हती. अे सूचनाओ फूटनोटमां, कौंसमां अथवा जुदा प्रकारना टाईपमां आपी शकत, जेथी टीका साथे भळी न जाय. कदाच सम्पादक मुनिवरनो सम्पादननो आ प्रथम प्रयास होवाथी आम बन्युं हशे.

विषयने न्याय आपवामां सम्पादक मुनिश्री सफळ रह्या छे, ते बदल मुनिश्रीने अभिनन्दन अने तर्कक्षेत्रे अेक उदीयमान विद्वान तरीके तेमनुं हार्दिक स्वागत.

जैन देरासर

नानी खाखर, कच्छ-३७०४३५

माहिती :

## तवां प्रकाशतो

१. उत्तराध्यायाः ( १,२ ) अंचलगच्छीय-श्रीजयकीर्तिसूरिरचित-दीपिका (विक्रमनी १५मी सदी) टीका-सहित, सं. साध्वी चन्दनबालाश्रीजी, प्रका. - भद्रङ्कर प्रकाशन - अमदावाद, २००९

आ संस्कृत टीका सहित श्रीउत्तराध्ययनसूत्रनी सम्पादित आवृत्ति वि.सं. १९६६मां पण्डित हीरालाल हंसराज - जामनगर द्वारा प्रकाशित थई हती. तेमां रहेली अशुद्धिओनुं सम्मार्जन वगरे करवापूर्वक तेनुं पुनः सम्पादन साध्वीजी श्रीचन्दनबालाश्रीजीए कर्युं छे. अध्ययनोने संक्षिप्त परिचय, विस्तृतविषयानुक्रमणिका, १० परिशिष्टो वगरे उमेरीने तेमणे सम्पादनने वधु समृद्ध बनाव्युं छे. टीका अत्यन्त सरल अने सुबोध छे. उत्तम मुद्रण.

२. भारतीय संस्कृतिनो आत्मा (श्रीवीरचंद राघवजी गांधीनुं चरित्र); लेखक - कुमारपाल देसाई; प्र. वर्ल्ड जैन कन्फेडरेशन, मुम्बई, ई. २००९

ई. १८९३मां शिकागो USA मां मळेल विश्वधर्म परिषद्मां जैन धर्मना प्रतिनिधि तरीके, पूज्य श्रीविजयानन्दसूरि (आत्मारामजी) महाराजनी आज्ञाथी गयेल अने ते परिषद्मां तेमज त्यार पछीना विदेश-वसवाट दरम्यान जैन धर्मनो विश्वने परिचय करावनार तेमज धर्मनी उत्तम प्रभावना करनार विद्वान् जैन सज्जनना प्रभावक जीवननो प्रभावक परिचय करावतुं चरित्र-पुस्तक. आ विद्वान् गृहस्थना जीवनविषयक सामग्री महदंशे क्यांय सचवाई नथी, ते एक दुःखद बीना छे. छतां जे आछी पातळी सामग्री देश-विदेशमांथी जडी शकी, तेनो आधार लईने एक कुशल शब्दशिल्पीनी जेम लेखके श्रीवीरचंद गांधीना जीवननुं मस्त शब्दचित्र आलेख्युं छे, ते खूब प्रेरणात्मक तो छे ज, साथे एक मोटी ऊणपनी पूर्ति पण करी आपे तेवुं बन्युं छे. आवा सत्कर्म बदल लेखक धन्यवादना अधिकारी बने छे.

चरित्रपुस्तकना पाछला भागमां श्रीवीरचंद गांधी द्वारा लिखित-प्रकाशित "रडवा-कूटवानी चाल विषेनो निबन्ध" नामे लेख-पुस्तिकानो पण समावेश थयो छे. चरित्रमां विविध तस्वीरो होवार्थी ते वधु समृद्ध बन्युं छे. तेमना हस्ताक्षरोनी छबी मुकाई होत तो विशेष समृद्ध थात. प्रत्येक जैन बन्धुए वांचवा-वसाववा योग्य ग्रन्थ.



श्रुतस्थविर दर्शनप्रभावक प्रवर्तक  
मुनिराज  
श्रीजम्बूविजयजीनी पुण्यस्मृति अने  
**श्रद्धांजलि**  
(थोडाक पत्रांशो तथा लघु-लेखो)





पत्रो :

## अे खोड शें पूरशे ?

जे समाचारे समग्र शासनमां खळभळट मचावी दीधो, अे समाचार छे महान् संशोधक श्रुतस्थविर मुनिराज श्रीजम्बूविजयजी महाराजश्रीना आकस्मिक काळधर्मना. तेमना जेवा मोटा गजाना तथा निवडेला विद्वान् पुरुषनुं आवुं बने अे न मानी शकाय अेवी वात छे पण बनी गयुं अेटले मान्या सिवाय छुटको ज नथी.

‘द्वादशारनयचक्र’ जेवा महान् / अमूल्य ग्रन्थरत्ननी भेट जेमना अथाग परिश्रम ऊंडी सूझ/बुझना कारणे जैन शासनने थई छे ते श्रीजम्बूविजयजी महाराज संशोधन क्षेत्रना आजीवन भेखधारी पुरुष हता.

पं. सुखलालजी तथा पं. बेचरदासभाई जेवा उच्च कोटिना विद्वान् पुरुषो पण तेओनी संशोधन दृष्टिथी प्रभावित थया हता. सिद्धगिरिमण्डन श्री आदीश्वरदादा तथा महाप्रभावक श्रीशंखेश्वर पार्श्वनाथ प्रभु प्रत्येनी अतूट श्रद्धा/भक्ति भलभलाने आश्चर्यचकित करी दे तेवी हती. तेमनी चिरविदायथी प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोना अभ्यास तथा संशोधन क्षेत्रमां कदी न पूराय तेवी खोट पडी छे.

तेओना अधूरां कार्योंने यथाशक्य पूरां करवामां आवे तेज तेमनी साची श्रद्धांजलि गणाशे. अेज.

नवसारी

सं. २०६६ माग-वद-५

श्रीदेवगुरुचरणरज  
विजयहेमचन्द्रसूरि

\* \* \*

Dr. Willem Bollee (Bamberg, Germany)

In 1998 I contributed an article on Suyagada 2, 6 to Muniraj Jambuvijaya's festschrift. I met him twice and got his benediction for my work. So I was very shocked to hear of his demise in a traffic accident.

\* \* \*

Peter Flugel (London, U.K.)

I am very shocked to hear of Jambuvijayji's tragic death and would like to contribute something in his memory.

\* \* \*

Jayendra Soni (Marburg, Germany)

Yes, it was terrible news and my wife and I cherish the memories of our meetings with him.

\* \* \*

Michael C. Shapiro (U.S.A.)

I do wish to offer my condolences upon the death of this great scholar.

\* \* \*

## श्रीजम्बूविजयजी महाराजते स्मरणांजलि

- शी.

श्रीजम्बूविजयजी महाराजः संशोधन-क्षेत्रनुं अेक मोटुं नाम ! शास्त्रो अने विद्याओ अने भाषाओना जगतनुं अेक महान नाम !

वीसमी-अेकवीसमी सदीमां, जैन संघमां, जे थोडीक-विरल अने विलक्षण प्रतिभाओ पेदा थईं छे, तेमां श्रीजम्बूविजयजीनुं नाम प्रथम पंक्तिमां मूकी शकाय, तेवी अद्भुत तेओनी मेधा, प्रज्ञा अने प्रतिभा हती.

ज्ञानावरणीय कर्मना क्षयोपशमनी विचित्र उच्च कक्षा, आपणा युगमां, जे गणीगांठी व्यक्तिओअे सिद्ध हती, तेमां पण जम्बूविजयजी महाराजनुं नाम निःशंकपणे मूकी शकाय.

अेमनी प्रज्ञाने पण्डित सुखलालजी जेवा महाविद्वाने प्रीछी हती. आगमप्रभाकर मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी महाराजे अेमनी प्रतिभाने प्रमाणी हती. देशना तथा विदेशोना आगम, दर्शन, साहित्य, तत्त्वज्ञान वगैरे अनेक विषयना अनेक विद्वज्जनोअे तेओनी विद्वत्ताने पोंखी हती.

अेमना जीवननी विगतो हजी सुधी तो तेमणे प्रकाशमां आववा नथी दीधी. ते तेमनी निर्लेप वृत्ति हती. हवे तेमना शिष्यो द्वारा तेमना जीवननो परिचय समाज समक्ष मूकाय तो ते अपेक्षित छे, आवश्यक पण गणाय. परन्तु, जाडा अंदाजमां अेम कही शकाय के तेमणे बहु नानी-११-१२ वर्षनी वये जैनी दीक्षा, पोताना पिताजी तथा माताजी साथे ग्रहण करी हती. तेमना पिता मुनिश्रीभुवनविजयजी अने माता साध्वी श्रीमनोहरश्रीजी नामे हतां. ते बन्नेअे पोतानो आ पुत्र खूब ज्ञानसम्पन्न बने ते माटे अथाग उद्यम कर्यो हतो, अने तेमना ते सभान परिश्रमना परिणामे ज श्रीजम्बूविजयजीनुं आवा दिग्गज विद्वान अने ज्ञानी साधु तरीके निर्माण थयुं हतुं, तेम आपणे समजी शकीअे छीअे.

संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, हिन्दी, अंग्रेजी आटली भाषाओ तो तेमने सहजसाध्य हती ज. पण ते उपरांत बीजी दशेक भाषाओ तेओ शीखेला, जेमां टिबेटन (भोट) भाषा अने फ्रेन्च भाषानो खास समावेश थाय छे. फ्रेन्च भाषा

तो तेओ ७५-७६ वर्षनी उंमरे शीखवा बेठेला !

टिबेटन भाषा शीखवा पाछळनुं निमित्त 'द्वादशार नयचक्र' महाग्रन्थ हतो. जम्बूविजयजी महाराजनी तीक्ष्ण मेघासम्पन्न अन्वेषण-दृष्टियी पं. सुखलालजी वगेरे विद्वानो खूब प्रभावित थयेला. तेमना मनमां 'सन्मतितर्क' पछी 'नयचक्र'नुं सम्पादन थाय तेनी खूब अपेक्षा हती. ते माटे पोतानी अक्षमताथी तेओ परिचित हता, अने कोई सक्षम प्रतिभानी शोध चालु हती. अेमां तेमना ध्यान पर जम्बूविजयजी आव्या, अने तेमणे तथा पुण्यविजयजी महाराजे ठराव्युं के 'नयचक्र' महाग्रन्थनुं संशोधन तथा पुनर्गठन कोई करी शके तेम होय तो ते अेकमात्र जम्बूविजयजी ज छे.

अे विद्वज्जनोअे जम्बूविजयजी पर कळश ढोळ्यो. अे प्रक्रियामां अेक तरफ जम्बूविजयजीनी कसोटी हती, तो बीजी तरफ दिग्गज विद्वानो द्वारा तेमनी प्रतिभानी स्वीकृति पण हती. तेमणे अे पडकार झीली लीधो, अने पोताना समग्र सामर्थ्यने, बौद्धिक क्षयोपशमने 'नयचक्र'ना पुनरुद्धारना कार्यमां कामे लगाडी दीधां.

आ महान ग्रन्थकार्य माटे चीनी अने तिबेटन भाषानी पोथीओ उकेलवी अनिवार्य हती. अने अे माटे ते भाषाओ तथा लिपि शीखवानुं पण अनिवार्य हतुं. अे कार्य माटे तेमणे कमर कसी, अने सामग्री भेगी करवा मांडी.

आ कार्यमां पूज्य पुण्यविजयजीनो पूरो साथ-सहयोग मळ्यो. तेमणे आ बधां माटे भरपूर सहाय पूरी पाडी. भावनगरना राजवी कृष्णकुमारसिंहजी, भावनगर जैन संघना वडा तथा लोकसभाना सभ्य शेट भोगीलाल मगनलालनो सहयोग मळ्यो, अने तेमना प्रयत्नथी वडाप्रधान पण्डित नहेरुजीअे आ कार्यमां रस लईने तत्कालीन चीनी दूतावासनो सम्पर्क साधीने चीनथी तथा तिबेटथी अपेक्षित ग्रन्थो तथा सामग्री मेळवी आप्यां. साथे साथे ते भाषाओ शीखवनार शिक्षकोनो पण प्रबन्ध थयो.

घणा परिश्रम पछी, खंतपूर्वक तेओअे बहुज झडपथी अे भाषा तथा लिपि हस्तगत करी लीधां. अने पछी शरु थयो नयचक्र ग्रन्थनो ज्ञानयज्ञ, जे आशरे त्रीस वर्ष सुधी अविरतपणे चालतो रह्यो. अेना मधुर फळलेखे आपणने त्रण विभागोमां मळ्यो महाग्रंथ : "द्वादशारं नयचक्रम्". आ ग्रन्थना संशोधन

અને પુનર્ઘટનની કથા અત્યન્ત રોમાંચક છે, અને મારી જાણ પ્રમાણે ખુદ તેમણે જ તે કથા એક-બે લેખોરૂપે આલેખી છે. આ ગ્રન્થના યજ્ઞકાર્યના મુખ્ય યજમાન બનવાનો લાભ શ્રીજૈન આત્માનન્દ સખા, ભાવનગરને સાંપડ્યો હતો, તે પળ નોંધવું પ્રાસંગિક ગણાય.

નયચક્ર ગ્રન્થ એ ભારતવર્ષનો એક દુર્લભ અને જટિલ દાર્શનિક ગ્રન્થ ગણાય છે. તો તેનું અધ્યયન તથા અધ્યાપન એ સમ્યગ્ દર્શનની શ્રેષ્ઠ આરાધના રૂપ મનાય છે. આ આરાધના તેમણે કરી, તેની અનુમોદના રૂપે શ્રીસકલસંઘે તેઓને 'દર્શનપ્રભાવક અને શ્રુતસ્થવિર' જેવાં બે શાસ્ત્રાનુસારી પદોથી અલંકૃત કર્યા હતા, તે વાત પણ આ ક્ષણે યાદ કરવી જોઈએ.

નયચક્ર ઉપરાંત, અનેક આગમગ્રન્થોનું, તેમજ તે ઉપરનાં ચૂર્ણિ, ટીકા વગેરે વિવરણોનું સંશોધન-સમ્પાદન તેમણે કર્યું છે. દ્રવ્યાલક્ષ્ઠ અને યોગશાસ્ત્ર, ધર્મબિન્દુ અને પચ્ચસૂત્રક જેવા અનેક વિષયોના શ્રેષ્ઠ ગ્રન્થોનાં સુઘડ, શુદ્ધ સમ્પાદનો તેમણે આપ્યાં છે. તેમનાં ગ્રન્થકાર્યોની સૂચિ ઘણી મોટી છે, જે તેમના જીવન-પરિચય સાથે પ્રગટ થવી જોઈએ.

જીવનના છેલ્લા શ્વાસ સુધી તેઓની આ જ્ઞાન-યાત્રા અવિચ્છિન્નપણે ચાલુ રહી હતી. છેલ્લે તત્ત્વાર્થાધિગમસૂત્રના ભાષ્યનું સંશોધન ચાલી રહ્યું હતું તેવા સમાચાર હતા. એ કામ પણ બહુ મોટું અને વઢી મહત્ત્વપૂર્ણ હતું. તે સિવાય પણ અનેક ગ્રન્થોનાં કાર્યો તેમના હાથે થયેલાં તૈયાર કે લગભગ તૈયાર પડેલાં હોય જ. તેમનો શિષ્યપરિવાર તે કાર્યોને યોગ્ય રીતે પ્રકાશમાં લાવે તેવી આશા રાખીએ.

પ્રભુભક્તિ એ તેમનો અનન્ય અને અસાધારણ ગુણ હતો. તેમની ભક્તિ જોઈને ભલાભલાનાં અરમાન ઋતરી જતાં. ઘણીવાર તો લાગતું કે આવડા મોટા જ્ઞાની ને પ્રભુ તથા ગુરુ સમક્ષ આમ તદ્દન નાના બાઢક સમા ?

તો તપશ્ચર્યા પણ તેમની અજોડ હતી. સમ્પાદનનાં, જ્ઞાનનાં કાર્યોમાં દિવસભર એવા તો ઢૂબ્યા રહેતા કે ઘણા ઘણા દિવસો આહાર-પાણી વિના જ ચોવિહાર ઉપવાસ કરીને વીતી જતા ! ન તોય તેમને ઢ્યાલ ન આવતો કે આજે આહારાદિ નથી કર્યા ! એક જ લગની : પોથી ઉકેલો, પાઠ શોધો, અને નવાનવા પદાર્થો મેઢવો.

आवी प्रतिभा जवल्लेज जोवा मळे, अेम कही शकाय. खरेखर तो अेम कहेवुं वधु वाजबी लागे छे के अमारा जेवा ५ के १० संशोधको भेगा थाय तो पण अेक जम्बूविजयजीनी तोले न आवे ! बीजी रीते अेम पण कही शकाय के जगद्गुरु शङ्कराचार्यनी गादी पर आरूढ थनार माणस पासे जेवी सज्जता होय छे, तेवी विद्याकीय सज्जता तेमनामां जोवा मळी छे.

आवी प्रतिभा अचानक आकस्मिक रीते आथमी गई, ते जैन संघने के जैन मुनिसंघने माटे ज नहि, पण समग्र भारतवर्षने, भारतना विद्याजगतने माटे मोटी खोट गणाय तेम छे. संशोधननुं क्षेत्र लगभग शून्य बन्युं छे - तेमनी विदायथी. विदेशोना विद्वानोने तथा विद्यार्थीओने इन्डोलोजी तेमज जैनोलोजीनुं यथार्थ ज्ञान आपी शके तेवी आ एकमात्र व्यक्ति हती; तेमना जतां ते दिशा हवे बंध थशे तेवी दहेशत जागे छे.

तेमना विषे घणुं घणुं लखी तथा कही शकाय तेम छे. परंतु आ क्षणे तो सहज संवेदनामांथी नीपजेला आटला शब्दोथी ज सन्तोष मानवो उचित छे.

श्रुतधर परम्पराना उज्ज्वल नक्षत्र :

पूज्य श्रीजम्बूविजयजी महाबाज

उपा. भुवनचन्द्र

श्रीजिनशासन अटले चतुर्विध संघ अथवा संघना आश्रये चालतो कार्यकलाप - अेवो अर्थ सामान्य जनना मनमां स्थिर थयेलो होय छे. ते अेक अपेक्षाअे संगत अने उचित छे ज. किन्तु जिनशासननो मूळ अर्थ श्रीजिन द्वारा अपायेलुं शासन अर्थात् शिक्षण के अनुरोध-अे छे. श्री जिनेश्वरोअे आपेलो बोध के अनुरोध तेमनी वाणीमां समाविष्ट छे अने अे वाणी हवे तो प्राकृतभाषामां ग्रथित आगमो तथा तेना भाष्य-चूर्णि-टीकाओमां अने ते उपरांत तदनुसारे रचायेला बीजां शास्त्रोमां निहित छे. आ श्रुतसाहित्य विना जिनशासन शुं छे ते समजवुं अशक्यवत् गणाय. जेम देह जीवात्माने धारण करतुं माध्यम छे तेम श्रुत अे शासनने साकार करतुं माध्यम छे - शासननी काया छे.

श्रुत अने शासननी महत्ता के एकात्मता जे पिछणी शके ते ज श्रुतधर पुरुषोनी महत्ता अने अनिवार्यता पिछणी शके. श्रुतधर महात्मा विना श्रुतनुं अस्तित्व क्यां ? श्रीजिनवाणीनो मर्म सूत्र-अर्थ-तदुभयना धारक गीतार्थ गुरुजनोना अंतरमां वसे छे. शास्त्रविद् गीतार्थ गुरुजनो जिनशासनना मेरुदण्ड समा छे. आपणी पासे अेवा श्रुतधर पूर्वजोनी उज्ज्वळ परम्परा छे. गणधरो, पूर्वधरो, भाष्यकारो, टीकाकारो, शास्त्रकारो आदिनी अेक नक्षत्रमाळ ज जाणे जिनशासनना आकाशमां चमकी रही छे.

आजे पण अेवा समर्पित श्रुतोपासक श्रमणश्रेष्ठो छे जेओ जरा जुदी रीते श्रुतधरोनी परम्पराने आगळ धपावी रह्या छे. सहस्राब्दीओना अन्तरालमां केटलांय परिबळोअे पोतानी असरो आगमादि श्रुतसाहित्यकलाप उपर करी छे. आजना श्रुतधरोअे अेक नवुं ज कार्य करवानुं आव्युं छे. अने अे छे - उच्चार, लिपिभेद, भ्रामक पाठ, खण्डित पाठ वगैरे अवरोधो पार करी मूळ पाठ सुधी पहोंचवुं ते. आ कार्य घणा प्रकारना सज्जता मागे छे. आ संशोधनकार्य आजे तो अेक सुग्रथित शास्त्र तरीके स्थापित थयुं छे पण अेनां मूळ प्राचीन टीकाओ, वार्तिको तथा चार्चिकोमां जोई शकाय छे. आगमोनी वाचनाओ वखते तेना प्रमुख अने

सदस्य अेवा श्रुतधर मुनिपुङ्गवोने पण आवी ज कामगीरी बजाववानी आवी हशे अे स्वयंस्पष्ट छे. आजे आ विद्याने समीक्षित अने तुलनात्मक सम्पादन के अध्ययन (Critical and Comparative editing or study) कहे छे. आ कार्य मात्र पाण्डित्य द्वारा साध्य नथी. संशोधके इतिहास, लिपि, भाषाओ, इतर शास्त्रो वगैरेनुं पण पर्याप्त ज्ञान मेळववुं पडे; अने सौथी वधु तो ग्रन्थना विषय साथे तथा ग्रन्थकारनी शैली साथे तादात्म्य साधवुं पडे.

वर्तमान श्रमणसंघमां आवा समर्थ संशोधक विद्वान मुनिवरोने याद करतां सर्वप्रथम पुण्यश्लोक आगमप्रभाकर पूज्य मुनिप्रवर श्रीपुण्यविजयजी महाराजनुं नाम याद आवे ने ते पछी तरत जेमनुं नाम होटे आवे ते छे श्रुतस्थविर पूज्य मुनिप्रवर श्रीजम्बूविजयजी महाराज. पूज्यश्रीअे पोतानुं समग्र जीवन जिनागम आदि प्राचीन साहित्यना संशोधन-सम्पादन-अध्ययनने समर्पित करी दीधुं हतुं. अे अेमनुं जीवनकार्य बनी गयेलुं. अेमनी आ श्रुतसेवा सुदीर्घ काळनी हती अने जीवनना अन्तिम दिन सुधी अनवरत चालती रही हती.

पूज्य जम्बूविजयजी महाराज जूनी परिपाटीथी अभ्यस्त होवा छतां आधुनिक समीक्षात्मक अध्ययन-पद्धतिने जे रीते अपनावी शक्या हता ते खरेखर आश्चर्यजनक हतुं. अेक श्रमणने छाजे अेवा तप-त्याग-सादगी-श्रद्धा-भक्ति साथे अन्वेषक-समीक्षक दृष्टि पण केळवी शकाय छे अे तथ्य तेमनामां मूर्तिमंत स्वरूपे जोई शकायुं हतुं. अन्वेषण पद्धतिना अतिरेकमां क्यारेक श्रद्धा अथवा वैचारिक समतुला जोखमाती होय छे. पूज्यश्रीना सम्बन्धमां अेवुं न हतुं. विशाळ वांचन, अन्य परम्पराओनुं अध्ययन, प्राचीन साहित्यमां विविध कारणोसर प्रवेशेली क्षतिओनुं निकटताथी दर्शन - आ बधां पछी पण परमात्मतत्त्व के वीतराग जिनेश्वर प्रत्येनी तेमनी भक्ति अक्षुण्ण हती, बल्के जोनारो घडीक विचारमां पडी जाय अेवी/अेटली मोहक हती. नूतन प्रकाशननी पहेली नकल अथवा सम्पादन पूर्ण थयेल ग्रन्थनी प्रेसकोपी प्रभुचरणे भक्तिभावे समर्पित करता पूज्य महाराज साहेबने घणाअे जोया हशे. अे ज रीते, पोताना पिता-गुरु प्रत्येनो तेमनो विनयभाव पण नेत्रदीपक हतो.

बीजी तरफ, तुलनात्मक अध्ययनने परिणामे महाराज साहेब परम्परा के रूढिना प्रभावथी मुक्त रहीने विचारी शकता हता. अमुक परम्परागत



मान्यताओ अंगे तेमनो अभिप्राय भिन्न पडतो हतो. तेओश्री साधेना अेक वार्तालापमां में भूगोळ-खगोळना विषयमां शास्त्रीय अने वैज्ञानिक मान्यताना सन्दर्भे पूछेलुं त्यारे तेमणे सहज रीते उत्तर आपेलो के आ बाबत फेरविचारणा मागे छे. आगमोना वृत्तिकारोने केटलाक आगमगत शब्दोना अर्थघटनमां मुश्केली पडी छे ते अंगे पूछतां तेमणे कहेलु के वच्चेना समयगाळामां आमनाय क्यांक छूटी गयो छे तेथी आम थयुं छे. अेवा शब्दोमांथी अमुक शब्दो त्रिपिटकोमां पण छे अने तेनी अट्टकथा(टीका)आंमां तेना प्राचीन अर्थ सचवाया छे. आथी आगमोना अभ्यासीओअे पालि भाषानो पण लाभ लेवो जोईअे.

पूज्यश्रीजम्बूविजयजी महाराज श्रुतधर परम्पराना अेक उज्ज्वल नक्षत्र हता. ८७ वर्षनी परिपक्ववये पण तेओश्री कलाको सुधी हस्तप्रतोनुं वांचन करता. महिने महिने अट्टमनो तप करता. जैन विद्याना अभ्यासी देशी-विदेशी विद्यार्थीओने मार्गदर्शन आपता. विहार, जीवदयानी प्रवृत्ति, शिष्योनुं अध्यापन, कलाको सुधी जाप, विविध भाषाओनो निरन्तर नूतन अभ्यास, ज्ञान-भण्डारोको उद्धार, कम्प्यूटरीकरण - आवी विविध कामगीरी अप्रभत्तभावे अन्तिम क्षण सुधी करनारा पूज्य श्रुतस्थविर मुनिप्रवर अेक अनाडी माणसनी भूलनो भोग बनी अदृश्य थया. अेक कर्मठ, तपस्वी, श्रुतस्थविर प्रतिभा संघ पासेथी क्षणवारमां छीनवाई गई. विधिनी वक्रतानुं जाणे प्रत्यक्ष निदर्शन !

पूज्यश्रीना मुखे सांभळ्युं हतुं : हवे तो बोनसनां वर्षो छे. थाय अेटलुं करी लेवुं छे. अने अक्षरशः अे ज रीते छेळां थोडां वर्षो तेओश्रीअे गाळ्यां. पूज्य महाराज साहेब पुरुषार्थसभर, ज्ञानसाधनासभर, परोपकारसभर जीवन जीवी स्वनामधन्य बनी गया छे. दुर्घटना असह्य छे, किन्तु तेओश्रीने आथी कोई हानि नथी थई, संघने थई छे. अेमनां अधूरां रहेलां अने वाट जोई रहेलां अनेक कार्यो हवे कोण करशे अे प्रश्न छे.

पूज्य श्रुतस्थविर श्रमणश्रेष्ठना जीवन अने कार्यमांथी प्रेरणा लई श्रमणसंघनो अेक टको श्रमणवर्ग पण संशोधननिष्ठा केळवे अने आ दीर्घ परिश्रमसाध्य क्षेत्रने पोताना समय-शक्ति अर्पण करवानुं पसंद करे तो ज श्रुतधरोनी परम्परा प्रवर्तमान रही शके. इच्छीअे के आवुं कईक बने.

\*\*\*

## श्रद्धालुमठ

### म. विनयसागर

विद्रज्जगत के लिए वह दिन अत्यन्त सौभाग्यशाली था जबकि ८ दशक पूर्व एक नन्हे से बालक ने जैन दीक्षा ग्रहण कर जम्बूविजय नाम प्राप्त किया था। ये जैनाचार्य श्रीविजयसिद्धिसूरिजी महाराज जो दादा के नाम से प्रसिद्ध थे के शिष्य श्रीविजयमेघसूरि के शिष्य श्रीभुवनविजयजी के शिष्य थे। श्रीभुवनविजयजी इनके पिता थे और इनकी माता ने भी विक्रम संवत् १९९५ में दीक्षा ग्रहण की थी। जिनका नाम मनोहरश्रीजी रखा गया था। शतवर्षाधिकार्य अवस्था प्राप्त कर इनका स्वर्गवास पालीताणा में हुआ था। पारिवारिक संस्कारों के कारण ही यह परिवार पूर्णतः जैनधर्मानुयायी था और आत्मकल्याण के लिए अग्रेसर था। इनके स्वजन सम्बन्धी पारिवारिक जनों में भी लगभग २० के ऊपर दीक्षित हुए हैं। जिनमें श्रीयशोविजयसूरि, श्रीमुनिचन्द्रसूरि, आदि प्रसिद्ध लेखक और चिन्तक विद्यमान हैं।

श्रीभुवनविजयजी इनके पिता थे इसलिए स्वाभाविक था कि वे अपने पुत्र को प्रौढ विद्वान् बनाना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने प्रयत्न भी किया। यही कारण है कि वे एकदेशीय विद्वान् न होकर सर्वदेशीय विद्वान् बने। प्रारम्भिक अध्ययन इनका दर्शन, न्याय और इतिहास का था। उनकी इतिहास के प्रति पैनी दृष्टि इसी से आंकी जा सकती है कि उन्होंने कुण्डलपुर पर एक लेख लिखा था जो कि जैन सत्यप्रकाश में प्रकाशित हुआ था।

दर्शन न्याय के धुरन्धर विद्वान् बनने पर उनके हृदय में यह आकांक्षा उत्पन्न हुई कि मैं ऐसे किसी ग्रन्थ का सम्पादन करूँ जो कि आज तक नहीं हुआ हो! फलतः उन्होंने आचार्यश्रीमल्लवादी कृत द्वादशार नयचक्र को चुना। कुछ विषय अस्पष्ट रह जाने के कारण और इसकी विशिष्ट प्रति भोट भाषा में लिखित होने के कारण उन्होंने आगम प्रभाकर मुनिश्रीपुण्यविजयजी के निर्देश पर उसका भी अध्ययन किया। भोट भाषा के साथ अन्य कई भाषाओं-प्राकृत, संस्कृत, अंग्रेजी आदि का भी उन्होंने आधिकारिक अध्ययन किया था। कई प्रतियों के साथ द्वादशार नयचक्र का सम्पादन किया। यही कारण है कि उनके

द्वारा सम्पादित द्वादशार नयचक्र दीपस्तम्भ की तरह विद्यमान है ।

आगम प्रभाकर श्रीपुण्यविजयजी महाराज आगम साहित्य और सम्पादन साहित्य के आधिकारिक विद्वान् थे । उनके आगम ग्रन्थों का सम्पादन का कार्य चल रहा था इसी बीच में उनका आकस्मिक स्वर्गवास हो गया और उस अपूर्ण कार्य को श्रीजम्बूविजयजी ने अपने कन्धों पर लिया । आगमों के सम्पादन का कार्य करते हुए उन्होंने पञ्चाङ्गी को स्वीकार किया और पञ्चाङ्गी के साथ सम्पादन कार्य भी प्रारम्भ किया । उनकी पैनी दृष्टि इतनी थी कि जब तक उन स्थलों का स्वयं निरीक्षण नहीं कर लेते तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ता था । यह ठीक है कि उनके कार्यों में कुछ अधिक विलम्ब होता था किन्तु वह विलम्ब भी कुछ नवीन वस्तु के साथ प्रकाशित होता था । स्थानाङ्ग सूत्र इसका प्रमाण है ।

वे अप्रमत्त भाव से सम्पादन कार्य में संलग्न रहा रहते थे । मैंने देखा है कि वे एक स्थान पर बैठकर पसीने से तर-ब-तर होने पर भी अपने कार्य को नहीं छोड़ते थे और जब तक कि उस अंश का सम्पादन नहीं कर पाते । सम्पादन में उनकी पैनी दृष्टि इनकी अधिक थी कि व्याकरण दृष्टि के अनुसार अनुस्वार कहाँ उपयुक्त है और कहाँ अनुपयुक्त है, संयुक्ताक्षरों में आधा 'ड' और 'ज' का कहाँ प्रयोग किया जाना चाहिए, इसका भी पूर्ण ध्यान रखते थे ।

शत्रुञ्जयाधिराज ऋषभदेव भगवान और शङ्खेश्वर पार्श्वनाथ इनके इष्ट थे । कोई भी कार्य उनके स्मरण किए बिना नहीं करते थे । जब शत्रुञ्जय रहते तब आदिनाथ भगवान की यात्रा नियमित रूप से किया करते थे । शङ्खेश्वर पार्श्वनाथ भी उनके परमाराध्य थे । यही कारण है कि उनका दाहसंस्कार भी वहीं शङ्खेश्वर तीर्थ में हुआ ।

जम्बूविजयजी आगम सम्पादन के कार्य को ध्यान से रखते हुए जन कोलाहल से दूर रहा करते थे और सर्वदा ग्रामों में चातुर्मास किया करते थे । कभी भी उनमें नामलिप्सा नहीं रही और न कभी उन्होंने अपने द्वारा सम्पादित किसी ग्रन्थ का विमोचन भी करवाया ।

शास्त्र सम्पादन के अतिरिक्त शास्त्रसंरक्षण और उसके प्रकाशन के प्रति भी इनका प्रशस्त राग अनुकरणीय ही कहा जाएगा । श्रीहेमचन्द्राचार्य ज्ञानमन्दिर

पाटण और श्रीजिनभद्रसूरि ज्ञान भण्डारों आदि को सुरक्षित और सुव्यवस्थित कर युगानुसार सूचीबद्ध करना, फोटोकॉपी करना, रील बनाना और उसके सूचीपत्र को प्रकाशित करना भी ये अपना कर्तव्य समझते थे । इसीलिए जिनभद्रसूरि ज्ञान भण्डार जैसलमेर का विस्तृत सूचीपत्र भी इन्होंने प्रकाशित करवाया, जो कि विद्वज्जनोपयोगी भी सिद्ध हुआ । जैसलमेर भण्डार के कार्य को पूर्ण करने के हेतु ही अग्रिम चातुर्मास इनका जैसलमेर में ही था । किन्तु यह विधि को मंजूर नहीं था ।

ऐसे प्रवर आगमज्ञ और सम्पादनकलाविशेषज्ञ का क्रूर यमराज के चंगुल में फँसकर चले जाना, आगम साहित्य के क्षेत्र के अपूर्ण कार्य को छोड़ जाना वस्तुतः हृदय को गहन चोट पहुँचाता है । दूर-दूर तक दृष्टि फैलाने पर भी इनका समकक्ष कोई भी नजर नहीं आता । अन्त में भवभूति के शब्दों में 'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' की उक्ति को समक्ष रखते हुए मन मसोस कर उनको श्रद्धाञ्जलि देना मात्र अभीष्ट है । वे जहाँ भी गये होंगे, उन्नत स्थान पर ही गये होंगे और भविष्य में भी जन्म लेकर अपने कार्य को पूर्ण करेंगे । भगवान् उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें ।

- जयपुर

# Muni Jambūvijayaji

## Homage and reminiscences

PROF. NALINI BALBIR

The 12th November 2009 will remain as a gloomy day for everyone as it brought the shocking and sad news that a jewel of knowledge and kindness has suddenly disappeared from this earth.

I am not among the scholars who sat in long discussing sessions with Muni Jambūvijayaji, but I had the privilege to meet him and have his *darshan* a few times during the last 30 years. Each meeting, however short it was, was inspiring and ennobling. Keen on teaching one topic or another of *dharma* and emphasizing the importance of vegetarianism, Muni Jambūvijayaji never failed to mention the name of his guru (and father), Muni Bhuvanavijaya, and Sankheshwar, a place where he always used to go back. His mother, an aged nun, was often around, in the *sādhvi upāśraya*. During one of my first stays in Gujarat, in 1980, I went with Dr. Kanubhai V. Sheth to Pāṭari, a remote village near Upariyala and Viramgam, where Muni Jambūvijayaji was staying for the rainy-season. I was transfixed by this encounter, my first one with a Jain monk, and by the *vyākhyāna* which he delivered later in the afternoon. It was easy to see how much respected he was by all. I felt extremely moved when Muni Jambūvijayaji presented me with the first volume of his edition of Hemacandra's *Yogaśāstra* with *svopajñavṛtti*, which, indeed, was the most appropriate book for me to read at that stage of my studies. The clarity of this edition, one among many others that Muniji has to his credit, and the vast erudition displayed in the critical apparatus which renders full justice to the wealth of material contained in the *vṛtti* by providing so much information, textual parallels, etc. are impressive. I was so keen to make this stimulating work known to others that I decided to write a detailed review of it (published in *Journal*

*Asiatique* 1983, pp. 428-432). Later on, I had the opportunity to meet Muni Jambūvijayajī in Palitana, in Sankheshwar, and, for the last time, in December 2003 on the day he had arrived in Koba. Followed by his retinue, he was welcomed in great pomp by all those who were present. This is indeed a cherished memory of a striking moment. With gratitude I then received from him a copy of his edition of Hemacandra's *Śabdānuśāsana* with *Laghuvṛtti*. This is a book I constantly use, especially for my investigations in Jain *praśnottaras*. They include the modest contribution I wrote for *Jambū-jyoti*, the felicitation volume in honour of Muni Jambūvijayajī (2004) and the one published in this commemorative issue of *Anusandhān*.

Muni Jambūvijayajī's activity is in direct continuation of that of Āgamaprabhākara Muni Puṇyavijaya to whom he paid an appropriate tribute on the occasion of the latter's completion of 60 years as a monk (see *Jñānāṃjali. Pūjya Muni Śrī Puṇyavijayajī Abhivādana grantha*, Mumbai, 1969, khaṇḍa bijō, pp. 17-18). Like his illustrious predecessor, Muni Jambūvijayajī devoted a lot of his energy to produce high standard editions of several texts of the Śvetāmbara canon and was involved in the continuation of the Jaina Āgama Series. His vast expertise in philosophy, logic (Buddhist logic as well) and grammar resulted, among other things, in the monumental edition of Mallavādin's *Dvādaśāranayacakra*. This work of great importance for the history of Indian philosophy has aroused the interest of many western Sanskrit scholars in recent years and has made the name of Muni Jambūvijayajī familiar even to those whose primary concerns do not relate to Jainism. Several of us have benefited from Muni Jambūvijaya's knowledge which he was always ready to impart. His interactions with foreign scholars, who for some of them became his true disciples, also led him to write a few articles (in Sanskrit) for books published outside India. His *āśīrvāda* and contribution were requested for more than one scholarly occasion connected with Jain studies in Europe! I remember the Jain Conference organized in Warsaw

(Poland) by Piotr Balcerowicz, where a message in beautiful Sanskrit written by Muni Jambūvijayaji was read to the participants. An auspicious beginning, indeed.

Muni Jambūvijayaji's action went much beyond his own publications. A highly respected figure of the Jain community, he also considered his duty to improve the state of Jain libraries, and to guarantee the preservation and accessibility of the manuscripts. Such is the message he also conveyed in the Foreword he wrote to our *Catalogue of the Jain Manuscripts of the British Library* (2006), underlining the importance of preserving and cataloguing the heritage of Jain manuscripts in India as well. Indeed, his name will remain for ever attached to the Jaisalmer and the Patan *bhaṇḍārs*. Not only did he produce with his team a new catalogue of the Jaisalmer libraries. Open to the useful innovations of modern technology, he undertook the digitization of manuscripts in these two illustrious places. As reported by Royce Wiles, an Australian scholar who was present during a few months of 1998 when the project to replicate the Jain manuscripts in Jaisalmer was undertaken, "Muni Jambūvijaya on more than one occasion laid emphasis on the need to use the very best technical methods now available to pass on to future generations the spiritual/cultural heritage contained in these MSS. No expense was spared in setting up the equipment of the project and the technical facilities procured were in my opinion world-class" (*Bulletin d'Etudes Indiennes*, Paris, 16, 1998, p. 163). From what I know, the work in Patan has just been completed in spring 2009. Such achievements will remain for ever. We only hope that, inspired by Muni Jambūvijayaji's example, other people will continue to work in the same direction.

Muni Jambūvijayaji was truly the embodiment of perfection in knowledge and in character. One cannot but admire his simplicity, earnestness, commitment and energy both mental and physical, until the last instant of his life in this world.

C/O Sorbonne-Nouvelle University  
Paris, France.

# Report on the accident of Param Puja Munishri Jambuvijayji Maharaj Saheb\*

**Hiroko Matsuoka**

(PhD Student, Hiroshima University, Japan)

Ahmedabad, 17th December 2009

*This humble report is dedicated to all the friends and students of Param Puja Munishri Jambuvijayji Maharaj Saheb, with my deepest sorrow and sympathy.*

## **Summary of the event**

Param Puja Munishri Jambuvijayji Maharaj Saheb, seven other monks, seven nuns and I left Nakoda (Barmer District, Rajasthan (RJ)) for Jaisalmer (RJ) on 9 November 2009 on pilgrimage, when on the fourth day, the road accident occurred. At 6:55 AM on 12 November 2009 on the Balotra-Barmer road, Muni Jambuvijayji and three of his disciples were brutally hit by a speeding jeep from behind. At that time, I was walking with the nuns at a distance of four kilometers ahead of the monks. As soon as we heard of the accident, we rushed back and found four monks lying in a pool of blood on the road. Munishri Jambuvijayji (eighty-seven years old) and his disciple Namaskarvijayji (thirty-four years old) were already dead and cold. Their bodies were cremated on 13 November 2009 in Shankheshvar (Patan District, North Gujarat (GJ)).

## **Circumstances\*\***

### **9 November :**

Eight monks, seven nuns, one assistant, one driver and I started the pilgrimage towards Jaisalmer from Nakoda (Barmer District, RJ). We walked about 15 kms. in the morning and evening and stayed overnight at a school near Tilwala.

### **10 November :**

We walked 15 kms. and stayed overnight at a school in



a small village north of Tilwala.

### 11 November :

We walked 15 kms. and stayed overnight at a school about 13 kms. east of Baitu on the Balotra-Barmer Rd.

### 12 November : 5:30 AM

Jinendraprabhashriji, the other six nuns and I left the school for Baitu (Barmer District, RJ).

### 6:30 AM

The eight monks left the school. Jambuvijayji led his group by taking the hands of both Dharmagoshvijayji and Himavantvijayji. Namaskarvijayji followed these three monks with a wheelchair in order to assist Jambuvijayji whenever necessary. The other four monks walked slowly with an aged disciple Dharmachandravijayji, who was using a wheelchair. An assistant and a driver, after cleaning up the rooms at the school where the monks and the nuns stayed the previous night, followed the monks, one by a bike and the other by a truck.

### 6:55 AM

According to Himavantvijayji, who was the only eyewitness, the four monks, who were walking together on the left edge/side of the road, were hit by a speeding Toyota Qualis from behind. Namaskarvijayji was killed instantly. At that time, the car as well as the wheelchair, onto which Namaskarvijayji rolled, caused Jambuvijayji to topple over Namaskarvijayji. Jambuvijayji's head was hit very hard, and his stomach and bones were crushed, but he still breathed unconsciously. Dharmagoshvijayji, who was taking Jambuvijayji by the left hand, was knocked unconscious and both his legs were crushed. Himavantvijayji, who was taking Jambuvijayji by the right hand, was severely injured in the legs and unable to move, but was screaming for help. The Toyota Qualis came to a stop about 50m away from the scene after hitting them, and four of its passengers ran away into the bushes.

**7:00 AM**

According to Himavantvijayji, Jambuvijayji stopped breathing. No aid was available.

**7:10 AM**

According to Pundarikaratnavijayji, Pundarikaratnavijayji and the other three monks, who were one kilometer behind Jambuvijayji and the other three monks, reached the scene of the accident by foot.

**7:20 AM**

A driver informed us that there was a serious accident in which some monks had been crushed by a jeep, while others sustained serious injuries. Greatly shocked by such tragic news, all of the nuns and I, who were approximately 4 km ahead of the scene of the accident, rushed back to the scene almost running the entire way, breathlessly. It was a horrible scene to see Munishri Jambuvijayji and Namaskarvijayji lifeless and the old monk Dharmaghoshvijayji almost unconscious, as he was dragged about five meters by the speeding car.

**8:00 AM**

The police came from Baitu, approximately 12 km away (Banner District, RJ). At the same time, an ambulance car arrived from Balotra (Barmer District, RJ), some 35 km away. Only Dharmaghoshvijayji and Himavantvijayji were taken in an ambulance to the hospital, and the dead bodies of Jambuvijayji and Namaskarvijayji were taken to Nakoda by car. Since I had a camera, the police asked me to take two photographs of Namaskarvijayji on the road and a photograph of Jambuvijayji in the car.

**8:30 AM**

We reached a hospital in Balotra.

**9:00 AM**

The bodies of the deceased monks were kept uncovered

for darshan for visitors and devotees at the Nakoda Parshvanath Jain Derasar located 12 km away from Balotra. There was a heated discussion that the bodies of these monks should be cremated at Nakoda, since they were there for the entire rainy season (*caturmasa*). Nevertheless, various samgha leaders finally decided to take the dead bodies to Shankheshvar where Munishri Bhuvanvijayji (Guru and Father of Jambuvijayji) was cremated.

### 13 November : 1:00 AM

We left Nakoda for Shankheshvar by car and traveled about 350 kilometers.

### 7:00 AM

We reached the Agama Mandir in Shankheshvar, where the bodies were kept for darshan. .

### 3:30 PM

The bodies were set on separate palanquins (*pālakhi*).

### 4:00 PM

The funeral march (*antimayātra/pālakhiyātra*) proceeded towards a crematorium (*samādhi*) 2 kms. away from the Agama Mandir via the Shankheshvar Parshvanath Jain Derasar. Thousands of people from all corners of India were present.

### 5:00 PM

The cremations (*agnisamskāra*) started.

### 9:30 PM

The cremations ended.

### 14 November :

Their bones were collected into small cans. Jambuvijayji's ashes were divided into hundreds of packages for gifts for the condolers.

### 18 November :

The Tapagaccha Jain order, to which Jambuvijayji

belonged, held a Requiem Mass (*guṇānuvāda sabhā*). At the mass, the chief monk of the Tapāgaccha (*tapāgacchādhīpati ācārya*) accused the Anoop Mandal of the accident.

**28 November :**

Five monks including Himavantvijayji, seven nuns, one driver and three assistants left Shankhesvar for Patan (North GJ).

**29 November :**

I joined the pilgrimage from Mujapur, 12 km away from Shankheshvar, to Patan.

**2 December :**

Everyone safely reached the the Sagar Jain Upashraya in Patan. From there, I left for Ahmedabad.

**12 December : 9:00 AM**

A Requiem Mass (*guṇānuvāda sabhā*) was held at the Sagar Jain Upashraya in Patan.

**3:00 PM**

A memorial service (*navvānu prakāri pūjā*) was performed at the Pancasar Parshvanath Jain Derasar in Patan.

**Present Condition**

Dharmaghoshvijayji, who was hospitalized in Jodhpur (RJ) after the accident, has since regained consciousness and will hopefully be able to leave the hospital this January. The other monks and nuns are expected to settle in Patan for not less than one year in order to study with local pundits in the hopes of someday fulfilling Jambuvijayji's last desire. Jambuvijayji was adequately prepared for the manuscript scanning project in Jaisalmer from December 2009 to March 2010, as he was in Patan from February to June 2009.

The hit-and-run driver was caught by the police of Baitu on 12th November, but unbelievably, after only ten days of

being detained, the driver was released on bail. The police have not confirmed whether or not he is a member of the Anoop - Mandal or even if he is an actual criminal.

### **Social Repercussions**

Prior to this accident, four nuns were also killed in a road accident near Mahesana (North GJ) on 9 November 2009. Most people in the Jain community do not believe that the Jain monks and nuns were killed by simple misfortune, but strongly suspect that the Gujarat-based anti-Jain cult group “Anoop Mandal” was involved in these unnatural deaths. One easily finds sensational articles headlined “It was not an accident (*akasmāt*) but a plot (*ṣaḍyantra*)” or “Who is the criminal?”, etc, in various newspapers and magazines. As mentioned above, the chief monk of the Tapagaccha officially accused the Anoop Mandal of the incident at the Mass. Even on the short journey from Shankheshvar to Patan, the group that had been with the now deceased Jambuvijayji were very frightened that members of the Anoop Mandal might attack them. All the members of the group suggested that I avoid the pilgrimage, as members of the Anoop Mandal might know of my presence from the newspapers. However, I joined them again with strong will and confidence, and the pilgrimage turned out to be safe.

On the contrary, most non-Jains as well as the police seem to perceive the accident very lightly, as one of many accidents which occur all over India. Unfortunately, they do not realize that this accident has taken the precious life of a saint who was noble, knowledgeable and highly respected among intellectuals all over the world.

### **My analyses or impressions**

I cannot judge whether the incident was an accident or premeditated murder, as I was 4 km away from the scene when the accident happened, and I am also a foreigner. On the one hand and as far as I could tell at the scene of the accident, the

following circumstances would lead me to believe the incident was an accidental homicide: 1) With the distant range of the small hills behind the Nakoda-Badmer Rd, the car may have come from the hills in an accelerated speed and out of control; 2) Approximately fifteen minutes after sunrise, the bright and white color of the sky blended with the white clothes of the Jain monks and nuns, and therefore the monks may not have been sighted in time for the driver to avoid hitting them; and 3) The driver of the Toyota Quails was driving at an exceedingly high speed and could not slow down in time to prevent hitting the monks. Needless to say, none of the monks were at fault for what happened.

On the other hand, these conditions do not easily answer a pertinent question: Why was it that Jambuvijayji, who was walking at the safest point in the middle of the group on the corner of road, was the most injured by the car? The driver must have already seen the group of four monks that were one km behind Jambuvijayji and had safely passed them. Why did the driver knock over Jambuvijayji's group? For these reasons, this accident remains a mystery and is in need of further investigation by the authorities.

Lastly, I would like to offer my humble opinion. As a Japanese student who has been studying in India for the last two years, I am greatly impressed by the Jain mendicants, who walk from place to place regardless of cold or hot temperatures. People normally pay a lot of respect to them. However, this incident has opened my eyes to two major problems: the government in general does not enforce road rules very strictly, and the Jain mendicants, although usually taken very good care of by the Jain community, increasingly face difficulties in finding proper accommodation in small villages on their pilgrimages.

I strongly wish and feel that the Indian people and the government must make the roads safer and enforce strict laws without hesitation. Traffic law and order is very poorly enforced

in India. Moreover, one can get a four-wheeled vehicle driver's license without being tested first, and by giving some money if one already owned a two-wheeled vehicle. Therefore, most car drivers are untrained and pose as serious threats to two-wheeled vehicle drivers and walkers. Meanwhile, as a remarkable development in the Indian economy, well-surfaced roads are being constructed everywhere, and the middle class can purchase cheap cars such as TATA NANO. I am not surprised to read newspapers reporting many vehicle accidents every day, and I can easily imagine it will get worse in the future. Whatever be the case, I am still extremely shocked that the driver of that car could so easily kill innocent Jain monks, who were walking on the side of the road, especially when there were very few vehicles on that road. To make matters worse, the police of Baitu are not taking the matter seriously.

As for the Jain community, most of the Jains have migrated to big cities like Mumbai, Kolkata, Chennai and Ahmedabad, leaving no Jains in the villages to assist Jain mendicants, rendering them helpless. Therefore, the Jain communities should make arrangements such that the mendicants always have escorts from one village to another. I was pleasantly surprised when I witnessed a local escort leading the mendicants on a small road headed in the direction of their next stop of pilgrimage in order to ensure their safety. Additionally, the arrangement for Jain food (*gocari*) and boiled water is also important. I have seen with my very own eyes the troubles faced by monks and nuns on pilgrimage when they do not get proper food and water.

I sincerely request the Mahajanas or the chiefs of villages to look after every facility intended for Jain mendicants in their villages. In turn, the villagers will also benefit by the presence and knowledge of the mendicants.

---

\*I am deeply indebted to Pu. Munishri Himavantvijayji and Pu. Munishri Pundarikaratnavijayji for their relevant and useful input as well

as to Mr. Somchandbhai V. Shah and Ms. Lynnaben Dhanani, who corrected my English.

**\*\*Find the places on this Google Maps link:**

<http://maps.google.co.in/maps/ms?hl=en&ie=UTF8&msa=0&msid=100978103501057315681.00047a4ed8beOc6d8d258&ll=24.537129,72.993164&spn=4.526251,7.064209&z=7>

\*\*\*



(श्रीजम्बूविजयजी द्वारा लिखित-सम्भवतः-अन्तिम लेख<sup>१</sup>)

वर्तमानकालीन संशोधन-सम्पादन युगना

आद्य प्रवर्तक आगमप्रभाकर

पू. मुनिराजश्रीपुण्यविजयजी म.सा.

पू. मुनिश्री जम्बूविजयजी म.सा.

श्रीसिद्धाचलमण्डन-श्रीऋषभदेवस्वामिने नमः ।

श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।

श्रीनाकोडापार्श्वनाथाय नमः ।

नमोऽस्तु णं समणस्स भगवओ महइमहावीरवद्धमाणसामिस्स ।

अनन्तलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः ।

भगवान् महावीर परमात्मानि पहेलां तथा पछी पण सेंकडो वर्षो सुधी अध्ययन-अध्यापननी परम्परा मौखिक ज चालती हती. ते पछी संहनन-मेधा-आयुष्य वगैरे जेम जेम घटतां गयां तेम तेम जरूरियात प्रमाणे प्राचीन ग्रन्थोने पुस्तकारूढ करवानी शरूआत थई. परंतु अभ्यासीओ घणा होय अटले अेक पुस्तकथी काम न चाले. अेटले अेक अेक ग्रन्थनी अनेक अनेक प्रतिलिपिओ (कोपीओ) करवानी जरूर रुभी थई. आनाथी आवी प्रतिलिपिओ करनारो अेक लेखकोनो (लहियाओनो) मोटो वर्ग अस्तित्वमां आव्यो. बधा लहियाओ बधी रीते निष्णात होय अेवी आशा न राखी शकाय. लखवामां अेक पण भूल न आवे तथा अक्षरो पण मोटा तथा सुन्दर होय आवा लहियाओ बहु ज थोडा होय. अेटले लहियाओनी गुणवत्तामां तरतमभाव आवे ज. तेथी सर्वाङ्गीण संशोधन करनारे शक्य तेटली बधी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिओ मेळवी संशोधन करवुं जोइअे.

घणा लांबा समय सुधी टकी रहे अे माटे प्रारम्भमां ताडपत्र उपर ग्रन्थो

१. श्रीआत्मानन्द प्रकाश, भावनगर, वर्ष ९ अंक ६मांथी साभार ।

लखाता हता. काव्यन्तरे ताडपत्रेनी दुर्लभता आदि कारणे कागळ उपर ग्रन्थो लखावा लाग्या.

आ बधी प्रतिलिपिओनी दीर्घकालीन परम्परामां, लेखकना अनवधानथी, प्राचीन अक्षरोना मरोडना आकारनो बराबर ख्याल न आववाथी, प्राचीन आदर्शोमां कोईक भाग तूटी गयो होय अेवा अेवा अनेकविध कारणे कागळ उपर लखेला हस्तलिखित आदर्शोमां पार विनानी भूलो जोवा मळे छे. संस्कृत - प्राकृत - गुजराती - मारवाडी आदि कोईपण भाषाना ग्रन्थोमां आवी भूलो जोवा मळशे अेटले लखाव्या पछी, अेने मूल ग्रन्थो साथे मेळवीने सुधारवानी प्रथा पण हती. सारा लेखके लखेला तथा लखाव्या पछी वांचीने सुधारेला आदर्शोमां भूलोने सम्भव ओछे रहे. ज्यारे आजथी सवासो वर्ष पहेलां बंगाळमां मुर्शीदाबादमां श्रीरायधनपतसिंहजीअे शास्त्रीय ग्रन्थो छापवानी शरूआत करी त्यारथी शास्त्रीय ग्रन्थोनो मुद्रणयुग शरू थयो गणाय. तेमने जे हस्तलिखित ग्रन्थो मळ्या तेना आधारे तेमणे शरूआत करी. ते समये १५ मी के १६मी विक्रमनी सदीमां के ते पछी लखेला ग्रन्थो ज सुलभ हता. प्राचीन ताडपत्र उपर लखेला ग्रन्थो जेसलमेर, पाटण, खम्भात जेवा स्थानोमां ज मुख्यतया हता.

सारा सुन्दर पाठो ताडपत्रमां हता. परन्तु, ताडपत्री ग्रन्थो मळवानी शक्यता हती ज नहीं.

रायधनपतसिंहजीअे प्रकाशित करेलां शास्त्रोमां पानांनी जीर्णता तथा टाईपोनी सुन्दरतानो अभाव आदि कारणोथी अे ग्रन्थो लोकप्रिय के लोकभोग्य बन्या नहि, ते पछी आगमोद्धारक पू. सागरानन्दसूरिजी म. नो युग शरू थयो. सागरजी महाराजे अेकला हाथे, पार विनाना ग्रन्थोनो विपुल राशि (ढगलो) जैन संघ समक्ष प्रकाशित करी दीधो. सुन्दरमां सुन्दर कागळे, सुन्दरमां सुन्दर टाईपोमां मुद्रित करेला अे ग्रन्थो आजे पण ७५-८० वर्ष पछी ताजा अने अत्यन्त आकर्षक रह्या छे. आना आधारे ज एनो सर्वत्र प्रचार छे. आ मोटो उपकार सागरजी महाराजे करेलो छे.

छतां आ ग्रन्थोनो आधार तो १५मी के १६मी सदीमां के ते पछी कागळ उपर लखायेला हस्तलिखित आदर्शो ज हता. प्राचीन ताडपत्री ग्रन्थोमां लखेला हजारो शुद्ध पाठो तो हजु अप्रकाशित ज छे.

पू. प्रवर्तकश्री कान्तिविजयजी महाराजना शिष्य पू. श्रीचतुरविजयजी महाराज तथा तेमना शिष्य आगमप्रभाकर पू.मु. श्रीपुण्यविजयजी महाराजे पाटणमां सतत अढार वर्ष रहीने ताडपत्र उपर तथा कागळ उपर लखेला सेंकडो हजारो हस्तलिखित आदर्शोने व्यवस्थित कर्या तेनुं सूचिपत्र (लीस्ट) बनावीने आ ग्रन्थो सुलभ कर्या छे. जेसलमेर जईने, घणां कष्टो वेठीने १६ महिना रहीने त्यांना भण्डारने पण व्यवस्थित करीने सूचि पत्र (लीस्ट) बनावीने अे ग्रन्थोनी पण जाणकारी आपणने आपी हवे आ ग्रन्थोनी उपयोग करीने हजारो शुद्ध पाठ प्रकाशमां लाववानी आजना संशोधकोनी फरज छे. जो के आ ग्रन्थो मेळववामां पण अवरोधो घणा छे, छतां अेनी उपयोग थशे तो ज घणा बधा शुद्धपाठो प्रकाशमां आवशे आ निश्चित हकीकत छे.

प्राचीन ग्रन्थो मळ्या पछी पण अेनी उपयोग केम करवो अे माटे खूब धीरज अने ऊंडा तथा विशाळ अनुभवनी जरूर पडे छे.

हस्तलिखित ग्रन्थोमां आदिथी सळंग लखाण ज होय छे. जुदा जुदा पेरेग्राफ जेवुं कंई होतुं ज नथी. सामान्य रीते पदच्छेद तथा अल्पविराम आदि विरामचिह्नो पण होता नथी. कोईक ग्रन्थमां होय तो ते पण तेनी रीते होय छे. बहु विश्वास राखी शकाय नहि. वळी पहेलां पडिमात्रा (पृष्ठमात्रा)मां ग्रन्थो लखाता हता. अेटले पडिमात्रा वांचवामां भूलो थती हती. अेटले लहियाओ लखवामां भूलो करी बेसे, अेटले हस्तलिखितमांथी मुद्रण युग शरू थयो, त्यारे लाखो पदोने कयां छूटा पाडवां तथा कयां कयां अल्पविराम आदि विरामचिह्नो मूकवां अे मोटो विकट प्रश्न हतो. ते समयना सम्पादक - संशोधकोने केटलो बौद्धिक तथा शारीरिक श्रम पड्या हशे तेनी आपणे कल्पना पण करी शकीअे नहि. आवा अप्रमत्त ज्ञानयोगी महापुरुषोअे करेली श्रुतसेवाना आपणे सौ ऋणी छीअे.

पूर्वना महापुरुषोनी घणो प्रयत्न होवा छतां नानी मोटी भूलो रही ते स्वाभाविक छे अने क्षन्तव्य छे. पुनर्मुद्रण करनाराओअे आ भूलो जोवी जोइअे.

उदाहरण तरीके आगमोदय समितिथी प्रकाशित सटीक समवायाङ्ग सूत्रमां आवा अनेक पाठभेदो पुण्यविजयजी महाराजे नोंधेला छे. आजथी त्रीस वर्ष पूर्व धामा (शंखेश्वरजी तीर्थ पासे झींझुवाडा पासेनुं गाम)मां आ.श्री विजयकलापूर्णसूरिजी म. वगैरे अमे पंदर जेटला साधुओ पुण्यविजयजी महाराजे

लीधेला पाठभेदोवाळी प्रतिने आधारे ज्यारे वांचन करता हता त्यारे छसो-सातसो जेटला शुद्ध पाठो अमने अेमां मळ्या हता. समवायाङ्ग सूत्रना पांत्रीसमा स्थानकमां टीकामां सत्यवचनना (तीर्थकरोनी वाणीना) अतिशयो वर्णविला छे. अेमां २७-२८मा अतिशयमां अभ्युतत्वम् अनतिविलम्बितत्वं च प्रतीतम् आवो पाठ छे. खरेखर प्राचीन हस्तलिखितमां भ्यु ना स्थाने भ्यु ज छे, पण लिपिनो मरोड बराबर न समजवाथी भ्यु वांचवानी भूलनुं ज आ परिणाम छे. आ भूल वर्षोथी चाल्या ज करे छे अहीं अभ्युत नहि अद्भुत साचो पाठ छे. अेटले तीर्थकर परमात्मानी वाणी अद्भुत = जल्दी जल्दी नहि. तेमज अतिविलम्बित नहि आ आ अेनो साचो अर्थ छे. विक्रम सं. २०६१ मां श्रीमहावीर जैन विद्यालयथी प्रकाशित थयेला सटीक समवायाङ्ग सूत्रमां आवा अनेक पाठो अमे सुधारी लीधा छे.

हमणां आवश्यक सूत्र उपरनी मलयगिरीया वृत्तिनुं संशोधन चाले छे. पुण्यविजयजी महाराजे हजारो पाठभेदो मुद्रित वृत्तिमां नोंधी राखेला छे. मुद्रितवृत्ति पृ. ११ अे पं. १ मां अन्येषां ( अ ) प्रतिबन्धं पर्यालोचयतः तद्दर्शनेना-नध्यवसायः पाठ छपायेलो छे. आनो अर्थ कई बराबर समजायज नहि, अेटले हस्तलिखितमां जोतां अन्येषां प्रतिबन्धं पर्यालोचयतां तद्दर्शनेनानध्यवसायः आ पाठ मळ्यो. आ ज तदन शुद्ध पाठ छे.

पृ. ११ बी पं. २ मां द्रव्यमन्तरेण कथमिव भावानामुत्पत्तिरुपपद्यते पाठ छे. अमे ते ग्रन्थनुं संशोधन करती वखते मूळ हस्तलिखित साथे लगभग अक्षरशः मेळवीअे छीअे. प्राचीन हस्तलिखितमां जोता कथमिव ना स्थाने कथमदला पाठ छे. बीजी प्रतिमां पाठ अे ज छे पण कोइक वांचनारे सुधारीने कथमिव कर्युं छे. पुण्यविजयजी महाराजनी भाषामां कहीअे तो केटलाक अभ्यासी वांचनारा पाठोने सुधारवाने बदले पाठोने बगाडी नांखता होय छे. अेटले कथमदला पाठ उपर ज कलाको सुधी विचार कर्यो. पण कई समजाय ज नहि. ओचितो मनमां प्रकाश थयो के कथमदला पाठ ज बराबर छे.

कथम् अदला = दळ विना पदार्थोनी उत्पत्ति शी रीते थाय आ अेनो अर्थ छे. घडो बनाववो होय तो माटी रूपी दळ जोइअे ज.

अनेक अनेक ग्रन्थोना आवा आवा हजारो शुद्ध पाठो प्रकाशमां आववा

જરૂરી છે. પુનર્મુદ્રણ કરનારા મહાનુભાવોએ આ વાત ખાસ ધ્યાનમાં રાખવાની છે.

પુણ્યવિજયજી મહારાજે અનેક ગ્રન્થોના પાઠભેદો લઈને રાખેલા છે. સ્ટીક બૃહત્કલ્પસૂત્રના છ ભાગો સંશોધિત કરીને એમણે પ્રકાશિત કર્યા ત્યારથી સંશોધન માટેનો એમનો મતિવૈભવ પ્રકાશમાં આવ્યો. સંશોધન યુગના આદ્યપ્રવર્તક તરીકે તેમનું નામ અમર રહેશે.

દ્વાદશારનયચક્રના સંશોધન - સમ્પાદન દ્વારા સંશોધન ક્ષેત્રમાં મને લાવનારા અને એ રીતે મારા વિશિષ્ટ ઉપકારી વર્તમાન સંશોધન યુગના આદ્ય પ્રવર્તક આગમ પ્રભાકર પૂ. મુનિરાજ શ્રીપુણ્યવિજયજી મહારાજને કોટિશઃ વન્દન અને અભિનન્દન.

**શ્રીનાકોડાજૈનતીર્થ**

પોષ્ટ-મેવાનગર (વાયા : બાલોતરા)

(જિ. બાડમેર),

રાજસ્થાન. પીન-૩૪૪૦૨૫

વિક્રમ સંવ. ૨૦૬૫,

ભાદરવા વદિ-૧૪

બાપજી મહારાજની ૫૧મી સ્વર્ગવાસતિથિ

તા. ૧૭-૯-૨૦૦૯

**પૂજ્યપાદાચાર્યદેવ**

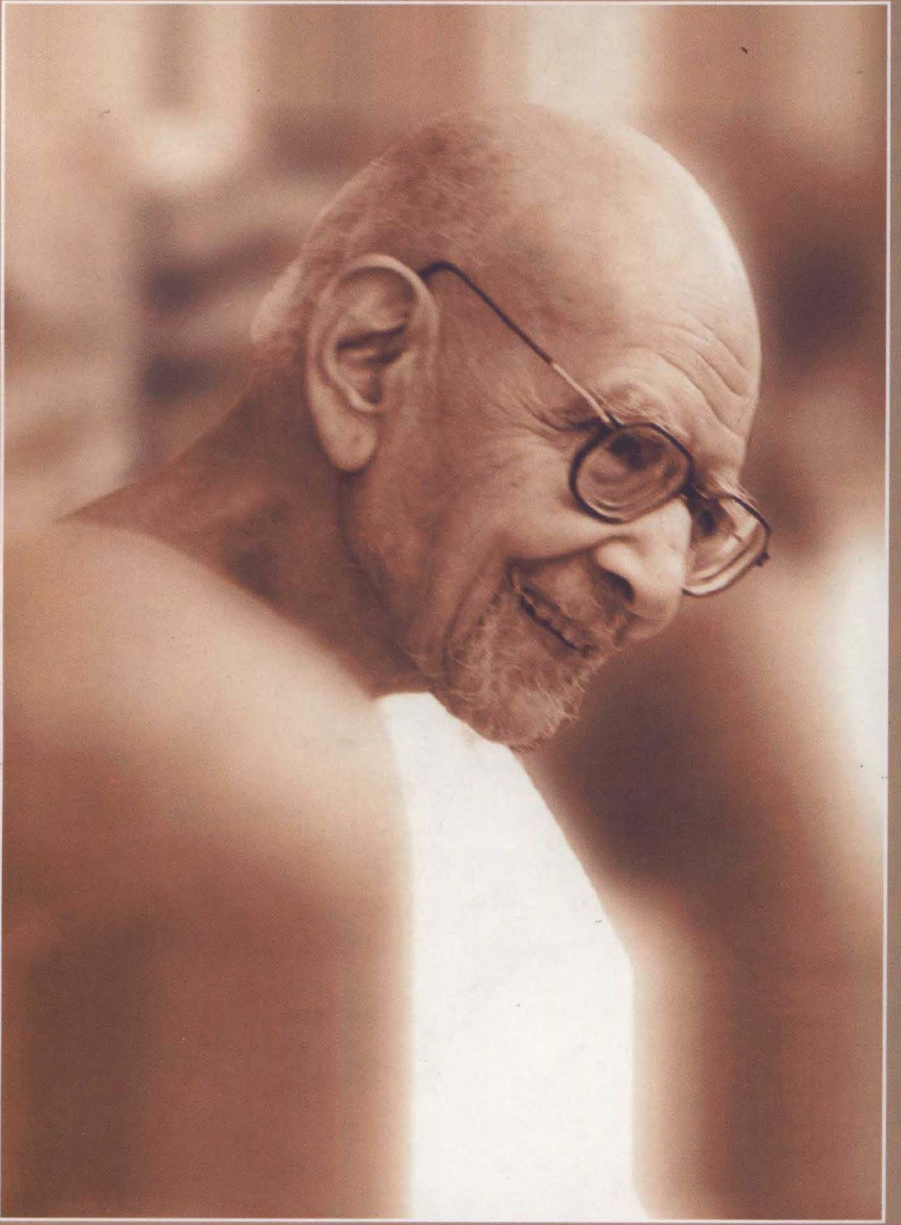
**શ્રીમદ્વિજયસિદ્ધિસૂરીશ્વર પદ્મલંકાર,**

**પૂજ્યપાદાચાર્ય-દેવ**

**શ્રીમદ્વિજયમેઘસૂરીશ્વરશિષ્ય**

**પૂજ્યસદ્ગુરુદેવમુનિરાજ**

**શ્રીભુવનવિજયાન્તેવાસી મુનિ જમ્બૂવિજય.**



श्रुतस्थविर दर्शनप्रभावक  
स्व. मुनिराज श्रीजम्बूविजयजी महाराज

(जेमनी पुण्यस्मृतिमां प्रस्तुत अंक समर्पित छे.)